निवेदन ।

प्रसिद्ध जैन ऐतिहासज्ञ-श्री० बाबू कामताप्रसादजी जैन (आ० संपादक-"वीर") ने जिसप्रकार आधुनिक शैलीपर तुलनात्मक दृष्टिसे भगवान् महावीर, भ० महावीर व बुद्ध, संक्षिप्त जैन इतिहास आदि ग्रंथोंका अतीव खोज व मननपूर्वक संपादन किया है उसीप्रकार प्रस्तुत ग्रन्थका संपादन भी आपने कई वर्षोंकी खोजपूर्वक करके दिगम्बर जैन इतिहासमें अमर नाम प्राप्त करलिया है; क्योंकि ऐसे तो अनेक तीर्थंकरोंके चरित्र प्रकट होचुके हैं व होंगे परन्तु जिस ढंगपर आप इन ग्रंथोंका संपादन कररहे हैं वह जैनइतिहासका अभूतपूर्व मसाला ही है।

हर्ष है कि आपके अन्य ऐतिहासिक ग्रन्थोंके अनुसार इस महान ग्रन्थका प्रकाशन भी आज हो रहा है व "दिगम्बर जैन"के ग्राहकोंको उपहारमें भी दिया जाचुका है जिससे इसका प्रचार सुलभतासे होरहा है। हमारे परम मित्र बाबू कामताप्रसादजी अपनी ऐसी अमूल्य कृतियें हमें प्रकाशनार्थ देते रहते हैं उसके लिये आपके हम बड़े कृतज्ञ हैं। हमारी यही भावना है कि आप ऐसे और भी अनेक ग्रन्थोंकी रचना करके अभूतपूर्व जैन साहित्यका विशेष २ प्रकाश करें।

प्रकाशक।
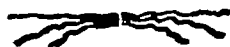
कृतज्ञता-ज्ञापन ।

पहले ही उन अनुपम पुण्य अवसर और अलौकिक करण-भावके निकट मैं कृतज्ञता पाशमें वेष्टित हू; जिनके बलपर प्रस्तुत ग्रन्थ रचनेका साहस मुझे हुआ । मनुष्य अनन्त संसारमें हीन-शक्ति होरहा है, वह परिस्थितिका गुलाम बन रहा है । जिसको वह पकड़े हुये है, उसीपर मर मिटनेके लिये तैयार है । रूढि और धर्ममें सूक्ष्म और बादर अन्तर जो भी है, उसे समझनेवाले विरले ही परीक्षा-प्रधानी हैं । फिर भला गुरुतर महत्वशाली और अपूर्व ग्रन्थ-रत्नोंके होते हुये भी कैसे कोई इस रचनाके लिये अवसर और भावकी सराहना करके उन्हें धन्यवादकी सुमनाञ्जलि समर्पित करेगा ! पर प्रभू पार्श्वके पादपद्मोंमें नतमस्तक होकर वर्तमान लेखक उनका आभार स्वीकार करनेको बाध्य है, क्योंकि उन्हींकी कृपासे मनुष्योंमें शक्तिका सञ्चार होता है और वे सत्यके दर्शन कर पाते हैं । प्रस्तुत रचना सत्यकी ओर हमें कितनी ले जायगी ? इसका उत्तर पाठकगण स्वय ही ढूँढ लें । इस विषयमें मेरा कुछ लिखना व्यर्थ है । हा, उन महानुभावोंका आभार स्वीकार कर लेना मैं अपना कर्तव्य समझता हू, जिनसे मुझे इस ग्रन्थ सङ्कलनमें सहायता प्राप्त हुई है । श्री जैनसिद्धात भवन, आरा, ऐलक पन्नालाल सरस्वती भण्डार, बम्बई और श्री इम्पीरियल लायब्रेरी, कलकत्ताने आवश्यक साहित्य प्रदान करके मेरा पूरा हाथ बटाया है, मैं इस कृपाके लिये उनका आभारी हूं । साथ ही मैं अपने मित्र श्रीयुत मूलचन्द किसनदासजी कापडियाके अनुग्रहको नहीं भुला सक्ता हू । यह ही नहीं कि उनके सदुत्साहसे यह रचना प्रकाशमें आरही है, प्रत्युत इसके निर्माणमें भी उन्होंने आवश्यकीय ग्रन्थों और साहित्य पत्रोंको जुटाकर इसकी रचना सुगम-साध्य बना दी । अतएव उन्हें मैं विशेष रूपमें धन्यवाद समर्पित करता हू । विश्वास है; उनके उत्साहका आदर करके विद्वान् पाठक इस रचनाको अपनायेंगे और आशा है कि इसके द्वारा वे जैनधर्मका मस्तक ऊँचा होता पायंगे । इत्यऽलम् ।

अलीगंज (एटा)
ता० ११-१०-१९२८

विनीत—
कामताप्रसाद-जैन ।

स्वर्गीय भाई—
अम्बाप्रसादजीकी पवित्र
स्मृतिमें उत्सर्गीकृत
है!
लेखक।

विषय-सूची।

प्रस्तावना—मंगल विनय
१—पुरोहित विश्वभूति पृ० १
२—कमठ और मरुभूति ... ७
३—राजर्षि अरविंद और वज्रघोष हस्ति १५
४—चक्रवर्ती वज्रनाभि और कुरंग भील २३
५—आनन्दकुमार २९
६—उस समयकी दुनिया .. ३८
७—तत्कालीन धार्मिक परिस्थिति ६३
८—बनारस और राजा विश्वसेन ९०
९—भगवानका शुभ अवतार १०९
१०—कुमार जीवन और तापस समागम ११९
११—धरणेन्द्र-पद्मावती कृत-ज्ञतापन १२३
१२—नागवंशजोंका परिचय...१५४
पद्मपुराणके अनुसार नाग विद्याधर १५५
आज कलकी दुनिया भारतखंडमें... ..१५३
रावणकी लंका और पाताल १६०
मिश्रमें लंका और अबीसिनियामें पाताल लंका १७०
मध्यभारत व मध्यद्वीपमें लंका नहीं १८३
मिश्रमें जैनधर्म ...१८६
प्राचीन मध्य एशियामें १९४
मध्य एशियामें जैनधर्म १९९
नागवंशज मध्य एशिया-वासी थे २०१
१३—भगवानका दीक्षाग्रहण-तपश्चरण २०३
१४—ज्ञानप्राप्ति और धर्मप्रचार २१६
विदेशोंमें भगवानका विहार २३१
१५—भगवानका धर्मोपदेश...२३८
१६—धर्मोपदेशका प्रभाव ...२८४
वैदिक ऋषियोंपर असर २८९
१७—भगवानके प्रमुख शिष्य ३०५
भगवानके गणधर ...३०९
मुनि पिहितास्रव ...३११
श्वेताम्बर शास्त्रोंमें पार्श्व शिष्य ३२०
१८—मक्खलिगोशाल, मौद्गलायन, प्रभृति ३२२
१९—सागरदत्त और बन्धुदत्त श्रेष्ठी ३३२
२०—महाराजा करकण्डु ...३४०
२१—जिनेन्द्रभक्त सेठ ...३६१
२२—विद्युच्चर मुनि ३६५
२३—राजा वसुपाल और चित्रकार ३६९
२४—भगवानका निर्वाण लाभ ३७०
२५—भगवान् पार्श्वनाथ और महावीरस्वामी ...३७८
२६—उपसंहार ४०२
२७—ग्रंथकारका परिचय ...४०७

शुद्धाशुद्धि पत्र।

पृष्ठ	पंक्ति	शुद्ध	अशुद्ध
प्रस्तावना			
७ ,,	८	स्त्रीशब्द	ख्रीष्टाब्द
१० ,,	११	reformer	reformer
२३ ,,	९	वहां	वही
४७	६	सम्रा	सम्राट्
५५	फुटनोट	गलीनिजाम	गलीनिगुस
५६	,,	आजीविन्न्स	आजीविक्स
५९	१०	अवश्य ही	×
७४	१९	स्वव	स्वयं
७६	५	गया	गवा है।
७८	१७	माना गया	माना
८५	२	उनसे	उनने
९८ फुटनोट	३	ईस्वी	ईस्वीसे पूर्व
१०७	११	को	कोर
११२	११	भगद्भजन	भगवद्भजन
१४१	फुटनोट	यह नोट पृ० १४०की ८वीं है, वहाकी उधर पढ़ें	
१४५	२१	कत्रो	गोंके
१४६	२	यदि	×
,,	७	एक	×
१४७	२१	कहा	×
२०१	५	गया दिया	दिया गया
२१४	८ व ९	वेह	वह
,,	१३	वर	वैर
२१६	१३	पर्पा	वर्पा
२३६	९	सनवरणे	समवसरणे

प्रस्तावना।

'जिन गुनकथन अगमविस्तार। वुधिवल कौन लहै कवि पार ॥'

निमित्त।

श्री जिनेन्द्र भगवानके गुण अपार हैं, वे अनन्त हैं, अचित्य हैं! योगीजन अपनी समाधिलीन अलौकिक दशामें उनके दर्शन एक झांकी मात्र कर पाते हैं। बड़े २ ज्ञानी उनके दिव्य चरित्रको प्रगट करनेमें अपना साराका सारा ज्ञानकोष खतम कर डालते हैं, पर उनका चित्रण अधूरा ही रहता है। अजी, स्वयं गणधर महाराज जो उत्कृष्ट मनःपर्ययज्ञानके धारक होते हैं, वे भी उन प्रभूके गुण वर्णन करनेमें असमर्थ रहते हैं। अगाध समुद्रका पारावार एक क्षुद्र मानव कैसे पा सक्ता है? तिसपर आजकलके अल्पज्ञ मनुष्यके लिये यह बिल्कुल ही असंभव है कि वह ऐसे अपूर्व और अनुपम प्रभूके विषयमे कहनेका कुछ साहस कर सके! आजसे तीन हजार वर्ष पहले हुये श्रीपार्श्वजिनेन्द्रका दिव्य चरित्र अब क्योंकर पूर्ण और यथार्थ रूपमें लिखा जासक्ता है? परन्तु हृदयकी भक्ति सब कुछ करा सक्ती है। वह निराली तरंग है जो मनुष्यके हृदयमें अपूर्व शक्तिका संचार करती है। हिरणी इसी भक्ति–इसी प्रेमके बलसे सिंहके सामने जा पहुंचती है। अपने बच्चेके प्रेममे वह पगली होजाती है। भक्ति वा प्रेमका यही रहस्य है और यही रहस्य इस ग्रन्थके संकलन होनेमें पूर्ण निमित्त बन रहा है। भक्तिकी लहरमें एक टक बहकर अपना आत्म–कल्याण करना ही यहां इष्ट है। इसकी तन्मयतामें अपने ज्ञान ज्योतिमय आत्म रूपका दर्शन पानेका प्रयास उपहासास्पद नही हो सक्ता।

वैसे समयकी परिस्थिति और प्रभु पार्श्वके प्रति आधुनिक विद्वानोंके अयथार्थ उद्गार भी इसमें कारणभूत हैं। फिर जरा यह सोचनेकी बात है कि प्रभु पार्श्व आखिर एक मनुष्य ही थे–मनुष्यसे ही उनने परमोच्च–परमात्मपद प्राप्त किया था–मनुष्यके लिए एक मनुष्य ही आदर्श होसक्ता है और मनुष्य ही मनुष्यको पहचानता है उससे प्रेम करता है और अपने प्रेमीपर वह सब कुछ न्योछावर कर डालता है। यही कारण है कि इस कालके पूज्य कविगण जैसे श्री गुणभद्राचार्यजी महाराज, श्री वादिराजसूरिजी, श्री सकलकीर्तिजी, कविवर भूधरदासजी आदि अपने प्रभु–भक्ति प्लवित हृदयकी प्रेम-पुष्पांजलि इन प्रभुके चरणकमलोंमें समर्पित कर चुके हैं। अपना सर्वस्व उनके गुण–गानमें वार चुके है। इन महान् कविवरोंका अनुकरण करना धृष्टता जरूर है, पर हृदयकी भक्ति यह संकोच काफूर कर देती है और प्रभूके दर्शन करनेके लिये बिल्कुल उतावला बना देती है। इस उतावलीमें ही यह अविकसित भक्ति-कणिका प्रभू पार्श्वके गुणगानमें आत्म लाभके मिससे प्रस्फुटित हुई है। विद्वज्जन इस उतावलीके लिये क्षमा प्रदान करें और त्रुटियोंसे सूचित कर अनुग्रहीत बनावें।

भगवान पार्श्वनाथजी ऐतिहासिक व्यक्ति थे।

जैनधर्ममें माने गये चौवीस तीर्थंकरोंमेंसे भगवान् पार्श्वनाथजी तेवीसवें तीर्थंकर थे। यह इक्ष्वाकु वंशीय क्षत्री कुलके शिरोमणि थे। जब यह एक युवक राजकुमार थे तभीसे इन्होंने उस समयके विकृत धार्मिक वातावरणको सुधारनेका प्रयत्न किया था। जैनपुराणोंमें उन प्रभुका

विशद चरित्र लिखा हुआ मिलता है। इन्हीं ग्रंथोंके आधारसे एवं अन्य जैनेतर शास्त्रों और ऐतिहासिक साधनों द्वारा यह पुस्तक लिखी गई है। इसमें जो कुछ है वह सब पुरातन है; केवल इसका रूप-रंग और वेश-भूषा आधुनिक है। शायद किन्हीं लोगोंकी अब भी यह धारणा हो कि एक पौराणिक अथवा काल्पनिक पुरुषकी जीवनीमें ऐतिहासिकताकी झलक कहांसे आसक्ती है? और इस मिथ्या धारणाके कारण वह हमारे इस प्रयासको अनावश्यक समझें! किन्तु उनकी यह धारणा सारहीन है। प्रभु पार्श्व कोई काल्पनिक व्यक्ति नहीं थे। पौराणिक बातोंको कोरा ठपाल बता देना भारी धृष्टता और नीच कृतघ्नतासे भरी हुई अश्रद्धा है। भारतीय पुराणलेखक गण्यमान्य ऋषि थे। उन्होंने कोरी कवि कल्पनाओंसे ही अपने पुराणग्रन्थोंको काव्य नहीं किया है; जबकि वह उनको एक 'इतिहास'के रूपमें लिख रहे थे।[1] बेशक हिंदू पुराणोंमें ओतप्रोत अलंकार भरा हुआ मिलता है; परन्तु इसपर भी उनमें ऐतिहासिकताका अभाव नहीं है। तिसपर जैनपुराण तो अलंकारवादसे बहुत करके अछूते हैं और उनमें मौलिक घटनाओंका समावेश ही अधिक है। उनकी रचना स्वतन्त्र और यथार्थ है। किसी अन्य संप्रदायके शास्त्रोंकी नकल करनेका आभास सहसा उनमें नहीं मिलता है।[2] साथ ही वे बहुप्राचीन भी हैं।[3] मौर्यसम्राट् चंद्रगुप्तके समयसे जैन वाङ्मय नियमितरूपमें

१-पुराणमितिवृत्तमाख्यायिकोदाहरण धर्म्मशास्त्रमर्थशास्त्र चेतिहास.-कौटिल्य। २-रैपसन, एन्शियेन्ट इन्डिया पृ० ९०। ३-जैनसूत्र S. B. E. XXII. Intro-P. IX.

गुरुशिष्य परम्परा प्रणालीपर बड़ी होशियारीके साथ चला आरहा था। उसमें अज्ञात भूलका होना असंभव था। उपरान्त ईसाकी प्रारंभिक शताब्दियोंमें वही तत्कालीन ऋषियोंकी दृढ़स्मृति परसे लिपिबद्ध कर लिया गया था। अवश्य ही ऋषियोंकी स्मृति शक्तिकी हीनताके कारण उस समय वह सर्वांगरूपसे उपलब्ध नहीं हुआ; परन्तु जो कुछ उपलब्ध था वह बिल्कुल ठीक और यथार्थ था। इस अवस्थामें जैन मान्यताको असंगत बतलानेके लिए कोई कारण दृष्टि नहीं पड़ता। इसलिये श्री पार्श्वनाथ भगवानको भी एक काल्पनिक व्यक्ति नहीं ख्याल किया जासक्ता है।

भारत वसुन्धराके गर्भसे जो प्राचीन पुरातत्व प्राप्त हुआ है, उससे भी यह प्रमाणित होता है कि प्राचीन भारतमें अवश्य ही श्री पार्श्वनाथजी नामक एक महापुरुष होगये हैं; जो जैनियोंके तेवीसवें तीर्थंकर थे। ओड़ीसा प्रान्तमें उदयगिरि खण्डगिरि नामक स्थान 'हाथीगुफा' का शिलालेखके कारण बहुप्रख्यात है। यहांका शिलकार्य जैन सम्राट् भिक्षुराज महामेघवाहन खारवेल द्वारा निर्मापित कराया गया था, जिनका समय ईसवीसन्‌से २१२ वर्ष पूर्वका निश्चित है।[2] इन शिल्पकार्योंमें भगवान पार्श्वनाथजीकी एकसे अधिक नग्न मूर्तियां और उनके पवित्र जीवनकी प्राय सब ही मुख्य घटनायें बहुत ही चातुर्यसे उकेरी हुई मिलतीं हैं।[3] अब यदि भगवान् पार्श्वनाथ नामक कोई महापुरुष वास्तवमें हुआ ही न होता तो आजसे सव दोहजार वर्ष पहलेके मनुष्य उनकी मूर्तियां और

१–संक्षिप्त जैन इतिहास पृ० ७०। २–हिन्दी विश्वकोष भा० १ पृ० ५८९। ३–बंगाल, बिहार, ओड़ीसा जैन स्मारक पृ० ८९।

जीवन घटनायें किस तरह निर्मित करा सके ? उस समय उनको गुजरे इतना भारी जमाना भी नहीं हुआ था कि लोग अपनी कल्पनाको काममें लेआते ! वल्कि बात तो यथार्थमें यही है कि ईसासे पूर्व आठवीं शताब्दिमें भगवान् पार्श्वनाथजी अवश्य हुये थे; जैसे कि जैन ग्रंथोंसे प्रमाणित है। मथुराके कंकालीटीलेसे भी ईसवीकी पहली शताब्दिकी बनी हुई भगवान् पार्श्वनाथकी नग्न मूर्तियां उपलब्ध हुई हैं और वहांपर एक ईटोंका बना हुआ बहुप्राचीन जैन स्तूप भी था; जिसका समय बुल्हर और विन्सेन्ट स्मिथ प्रभृति विद्वान् भगवान् पार्श्वनाथका समवर्ती बतलाते हैं।[1] अब यदि २४वें तीर्थंकर भगवान् महावीरजी (पांचवी शताब्दि ईसासे पूर्व) के पहले भगवान् पार्श्वनाथजी नहीं हुवे तो फिर उस समयका जैनस्तूप कहांसे आगया ? अतः मानना पड़ता है कि भगवान् पार्श्वनाथजी अवश्य ही एक ऐतिहासिक व्यक्ति थे !

उधर जैनेतर साहित्यपर दृष्टि डालनेसे भी हमें बौद्ध साहित्यसे भगवान् महावीरके पहिले एक जैन तीर्थंकरका होना प्रमाणित होता है। मज्झिमनिकायमें लिखा है कि निगन्ध पुत्र सच्चकने म० बुद्धसे वाद किया था। अब यदि जैनधर्म भगवान् महावीरजीसे पहलेका न होता, जो म० बुद्धके समकालीन थे, तो फिर एक जैनका लड़का (निगन्थ पुत्त) म० बुद्धका समकालीन नहीं होसक्ता था।[2] इस उल्लेखसे स्पष्ट है कि भगवान् महावीरजीके पहले भी कोई महापुरुष जैनधर्मका प्रणेता होगया था। बौद्धसा-

१–जैनस्तूप एण्ड अदर एण्टीक्वटीज आफ मथुरा पृ० १३।
२–भगवान् महावीर और म० बुद्ध पृ० १५९।

हित्यमें केवल यही एक उल्लेख नहीं है; वल्कि और भी कई उल्लेख हैं जिनसे भगवान् पार्श्वनाथके अस्तित्व और उनके शिष्यों आदिका परिचय मिलता है।[1] अतएव इसतरह भी हम जैनमान्यताको ठीक पाते है।

ऐसे ही उत्कट प्रमाणोको देखकर आधुनिक विद्वानोंने भी भगवान् पार्श्वनाथजीको एक ऐतिहासिक महापुरुष माना है। वह कोई काल्पनिक व्यक्ति नहीं थे, यह बात प्राय सब ही विद्वान मानने लगे हैं। यहांपर उनमेंसे कुछका अभिमत उद्धृत कर देना अनुचित न होगा।

आधुनिक विद्वान भी श्री पार्श्वको ऐतिहासिक पुरुष मानते हैं।

पहले ही प्रसिद्ध भारतीय विद्वान् डॉ० टी० के० लड्डू बी० ए०, पी० एच० डी०, एम० आर० ए० एस० आदिको ले लीजिए। आप अपने बनारसवाले व्याख्यानमें कहते हैं:—"यह प्रायः निश्चित है कि जैनधर्म बौद्धमतसे प्राचीन है और इसके संस्थापक चाहे पार्श्वनाथ हो और चाहे अन्य कोई तीर्थंकर जो महावीरजीसे पहले हुए हो।[2]" प्रख्यात दार्शनिक विद्वान् साहित्याचार्य ला० कन्नोमल एम० ए० जज एक लेखमें

१—भगवान् महावीर और म० बुद्धका परिशिष्ट। बौद्ध शास्त्रोंमें जैनोंका उल्लेख निगन्थरूपमें हुआ है। स्वयं जैनग्रथोंमें भी जैनमुनि 'निगथ' के नामसे परिचित हुये हैं। (मूलाचार पृ० १३) 'निगंथ' का संस्कृतरूप 'निर्ग्रन्थ' है, जिसका भाव निर (=नहीं),-ग्रथ (=ग्रथि=गांठ) अर्थात् ग्रथियोंसे रहित है। जैकोवी और बुल्हरने निगथोंका भाव जैनोंसे प्रमाणित किया है। (देखो जैनसूत्र S. B. E. की भूमिका।

२—जैन हॉ० पृ० २२३।

भगवान् पार्श्वनाथकी ऐतिहासिकता स्वीकार करते हुये लिखते हैं कि " श्री पार्श्वनाथजी जैनोंके तेईसवें तीर्थंकर हैं। इनका समय इसासे ८०० वर्ष पूर्वका है।[1]" इसी तरह 'हिन्दी विश्वकोष' के योग्य सम्पादक श्रीमान् नगेन्द्रनाथ वसु, प्राच्यविद्यामहार्णव, सिद्धान्तवारिधि, शब्दरत्नाकर "हरिवंशपुराण" के परिचयमें लिखते हैं कि "जैनधर्म कितना प्राचीन है, इस विषयमें आलोचना करनेका यह स्थान नहीं है; तब इतना कह देना ही बस होगा कि जैन संप्रदायके २३ वें तीर्थंकर श्री पार्श्वनाथस्वामी खीष्टाब्दसे ७७७ वर्ष पहले मोक्ष पधारे थे।[2]" एक अन्य लब्धकीर्ति बंगाली विद्वान् डॉ० विमलचरण लॉ० एम० ए०, पी० एच० डी०, एफ० आर० हिस्ट० एस० आदि अपनी पुस्तक 'क्षत्रिय क्लैन्स इन बुद्धिस्ट इन्डिया' (पृ० ८२ में) वैशालीमें जैनधर्मका प्रचार भगवान् महावीरसे पहलेका बतलाते हुये लिखते हैं कि " पार्श्वनाथजी द्वारा स्थापित हुये धर्मका प्रचार भारतके उत्तर-पूर्वी क्षत्रियोंमें और खासकर वैशालीके निवासियोंमें था।" दक्षिण भारतीय विद्वान् प्रॉ० एम० एस० रामास्वामी ऐंगर एम० ए० लिखते हैं कि "भगवान् महावीरके निकटवर्ती पूर्वज पार्श्वनाथ थे, जिनका जन्म ईसासे पहले ८७७ में हुआ था। उनका मोक्षकाल ईसासे पूर्व ७७७ में माना जाता है। किन्तु इनके उपरान्त एक विश्वसनीय जैन इतिहासको पाना कठिन है।[3]" इसी अपेक्षा

१—जैनधर्म विषयमें अजैन विद्वानोंकी सम्मतिया पृ० ५१।

२—हरिवंशपुराण भूमिका पृ० ६।

३—स्टडीज इन साउथ इण्डियन जैनीज्म भा० १ पृ० १२।

प्रसिद्ध राधास्वामी महर्षि श्री शिवब्रतलालजी वर्मन एम० ए०, एल० एल० डी० श्री पार्श्वनाथका अस्तित्व स्वीकार करके कहते है कि "जैनियोंमेंसे कोई पार्श्वनाथकी पूजा करता है, कोई महावीरस्वामीकी, इन सबमें मतभेद बहुत कुछ नहीं है।"[१] श्री डॉ० वेनीमाधव बारुआ डी० लिट० भी श्री पार्श्वनाथजीको महावीरस्वामीका पूर्वागामी तीर्थंकर स्वीकार करते है।[२]

इस तरह पर भारतीय विद्वानोकी दृष्टिमे भगवान् पार्श्वनाथ एक वास्तविक महापुरुष प्रमाणित हुये है। यही हाल पाश्चात्य विद्वानोंका है। उनमें बहुप्रसिद्ध प्रो० डॉ० हर्मन जेकोबीके मन्तव्यपर ही पहले दृष्टिपात कर लीजिये। उन्होने "जैनसूत्रो" की भूमिकामें जैन धर्मको बौद्धमतसे प्राचीन सिद्ध करते हुये लिखा है कि "पार्श्व एक ऐतिहासिक व्यक्ति थे, यह बात अब प्राय' सबको स्वीकार है।"

(That Parsva was a historical person, is now admitted by all, as very probable Jaina Sutras S B E XLV Intro p. XXI).

इसी व्याख्याकी पुष्टि डॉ० जार्ल चारपेन्टियर पी० एच० डी० "उत्तराध्ययन सूत्र" की भूमिका (पृ० २१) में निम्न शब्दों द्वारा करते हैः—

"We ought also to remember both that the Jain religion is certainly older than Mahavira, his reputed predecessor Parsva having almost certainly existed as a real person, and that, consequently, the main points of the original doctrine may have been codified long before Mahavira" (The Uttradhyayan Sutra, Upsala ed Intro P. 21).

१—जैनधर्मका महत्व पृ० १४। २—हिस्ट्री ऑफ दी प्री० बुद्धिस्टिक इन्डियन फिलासफी पृ० ३७७।

अर्थात्—"हमें यह दोनों बातें याद रखना जरूरी हैं कि सच-मुच जैनधर्म महावीरजीसे प्राचीन है। इनके सुप्रख्यात पूर्वागामी श्री पार्श्व अवश्य ही एक वास्तविक पुरुषके रूपमें विद्यमान रहे थे। और इसीलिये जैन सिद्धान्तकी मुख्य बातें महावीरजीके बहुत पहले ही निर्णीत होगई थीं।"

हालहीमें बरलिन विश्वविद्यालयके सुप्रसिद्ध विद्वान् प्रो० डॉ० हेल्मुथ वॉन ग्लासेनॉप्प पी० एच० डी०ने भी जैन मान्यताको विश्वसनीय स्वीकार करके भगवान् पार्श्वनाथजीकी ऐतिहासिकता सारपूर्ण बतलाई है।[1] गत वेम्बली प्रदर्शनीके समय एक धर्मसम्मे-लन हुआ था, उसके विवरणमें जैनधर्मकी प्राचीनताके विषयमें लिखते हुये सर पैट्रिक फैगन के० सी० आई० ई०, सी० एस० आई०ने भी यही प्रकट किया है कि "जैन तीर्थंकरोंमेंसे अंतिम दो—पार्श्वनाथ और महावीर, निस्संदेह वास्तविक व्यक्ति थे; क्योंकि उनका उल्लेख ऐसे साहित्य ग्रन्थोंमें है जो ऐतिहासिक हैं।"[2] यही बात मि० ई० पी० राइस सा० स्वीकार करते हैं। (They may be regarded as historical)[3] श्रीमती सिन्कलेपर स्टीवेन्सन भी पार्श्वनाथजीको ऐतिहासिक पुरुष मानतीं हैं।[4] फ्रांसके प्रसिद्ध संस्कृतज्ञ विद्वान् डॉ० गिरनोट तो स्पष्ट रीतिसे उनको ऐतिहासिक पुरुष घोषित करते हैं। ("There can no longer be any doubt that Parsvanatha was historical personage")[5] इसी प्रकार अग्रेजीके महत्वपूर्ण कोष-ग्रंथ "इंसाइ-

---

१—डर जैनिसमस पृ० १९—२१। २—रिलीजन्स ऑफ दी इम्पायर पृ० २०३। ३—कनारीज लिटरेचर पृ० २०। ४-हार्ट ऑफ जैनीज्म पृ० ४८। ५—ऐसे ऑन दी जैन बाइब्लोग्रेफी।

क्लोपेडिया ऑफ रिलीजन एण्ड ईथिक्स" में (भा० ७ पृ० ४६५) जैनधर्मकी प्राचीनता सिद्ध करते हुए कहा गया है कि—"२३वें तीर्थंकर पार्श्व वहुतायतसे जैनधर्मके संस्थापक कहे जासक्ते हैं।" परन्तु इससे भी स्पष्ट उल्लेख "हार्मसवर्थ हिस्ट्री ऑफ दी वर्ल्ड" भा० २ पृ० ११९८में इसप्रकार है.—

" They (The Jains) believe in a great number of prophets of their faith anterior to Nataputta (Sri Mahavira Vardhamana) and pay special reverence to this last of these, Parsva or Parsvanatha Herein they are correct, in so far as the latter personality is more than mythical He was indeed the royal founder of Jainism (776 B C ?) while his successor, Mahavira was younger by many generations and can be considered only as a reforner As early as the time of Gautam, the religious confraternity founded by Parsva, and known as the Nigantha, was a formally established sect, and according to the Buddhist Chronicles, threw numerors difficulties in the way of the rising Buddhism " (" Harmsworth's History of the world " Vol. II P 1198)

अर्थात्—"जैनी नातपुत्त महावीर वर्द्धमानके पहले कई तीर्थंकरोंका होना मानते हैं और उनमेंसे अंतिम पार्श्व अथवा पार्श्वनाथकी विशेष विनय करते है। यह वह ठीक करते हैं क्योंकि वह (पार्श्वनाथजी) पौराणिकसे कुछ अधिक अर्थात् ऐतिहासिक पुरुष है। यही जैनधर्मके राजवंशी प्रणेता थे; जब कि इनके अनुगामी महावीर इनसे कई सन्तति उपरांतके एक सुधारक ही थे। गौतमबुद्धके समयमें ही पार्श्व द्वारा स्थापित धार्मिक संघ, जो 'निगन्थ' नामसे परिचित था, एक पूर्व स्थापित संप्रदाय था और बौद्ध ग्रन्थोंके अनुसार उसने बौद्धधर्मके उत्थानमें वहुतसी अड़चने डाली थीं।"

इन अभिमतोसे भी हमारा उपरोक्त कथन बिलकुल स्पष्ट है कि भगवान पार्श्वनाथ एक ऐतिहासिक व्यक्ति थे, परन्तु इसके साथ ही यह प्रश्न अगाडी आगया है कि क्या पार्श्वनाथजी ही जैनधर्मके संस्थापक थे, जैसे ऊपरके कितनेक विद्वानोंका मत है। हमारे प्रसिद्ध देशभक्त ला० लाजपतरायजीने तो अपने "भारतवर्षका इतिहास" (भा० १ पृ० १२९)में यह मत जैनियोंका बतला दिया है। किन्तु दर असल बात यह नहीं है। जैन लोग तो अपने धर्मको अनादि निधन मानते हैं। वह यथार्थ सत्य है। इस कारण उसका कभी लोप नहीं होता। पर तो भी वह कालचक्रके अनुसार विक्षिप्त और उदित होता रहता है।

श्रीपार्श्वनाथजी जैनधर्मके संस्थापक नहीं हैं।

इस कालमें जैनधर्मका सर्व प्रथम प्रचार भगवान ऋषभदेव या वृषभदेवने किया था और उनके बाद कालान्तरसे २३ तीर्थंकर और हुये थे। इन सबका समय आजकलके माने हुये प्राचीन और इतिहासातीत कालमें जाकर बैठता है। हम अगाड़ी इस बातको स्वतंत्र प्रमाणों द्वारा प्रगट करेंगे कि जैनधर्मका अस्तित्व वैदिक काल एवं उससे भी पहले विद्यमान था। इस दशामें हम भगवान् पार्श्वनाथको जैनधर्मका संस्थापक स्वीकार नही कर सक्ते। प्रत्युत कई विद्वान तो पार्श्वनाथजीके पूर्वागामी तीर्थंकरोंको भी ऐतिहासिक पुरुष स्वीकार करते हैं।

बाइसवें तीर्थंकर श्रीने-

श्री नगेन्द्रनाथ वसु, प्राच्य विद्यामहार्णव एम० आर० ए० एस० आदि स्पष्ट लिखते हैं कि—"उन (पार्श्वनाथजी)से पहले बाईसवें तीर्थंकर

नेमिनाथजी एक ऐतिहासिक पुरुष और शेष तीर्थंकर। श्री नेमिनाथस्वामी भगवान श्री कृष्णके सपक्ष भ्राता (ताऊके लड़के) थे। .. भगवान् श्री कृष्णको यदि हम ऐतिहासिक पुरुष मानते हैं तो हमें बलात् उनके साथ होनेवाले २२वें तीर्थंकर श्रीनेमिनाथको भी ऐतिहासिक पुरुष मानना पड़ेगा। यही बात डॉ० फूहररने "एपीग्रेफिका इंडिका (भा० १ पृ० ३८९ और भा० २ पृ० २०६–२०७)में लिखी है कि—"जैनियोंके २२वें तीर्थंकर श्री नेमिनाथजी ऐतिहासिक पुरुष माने गये हैं। भगवद्गीताके परिशिष्टमें श्रीयुत बरवे स्वीकार करते हैं कि नेमिनाथ श्रीकृष्णके भाई थे। जब जैनियोंके २२वें तीर्थंकर श्रीकृष्णके समकालीन थे तो शेष इक्कीस श्रीकृष्णसे कितने वर्ष पहले होने चाहिये, यह पाठक स्वयं अनुमान कर सक्ते हैं।"[1] इसी कारण श्रीयुत प्रो० तुकाराम कृष्णशर्मा लट्टु बी० ए०, पी० एच० डी०, एम० आर० ए० एस, एम० ए० एस०, इत्यादिने कहा है कि "सबसे पहिले इस भारतवर्षमें "ऋषभदेवजी" नामके महर्षि उत्पन्न हुए। वे दयावान भद्र परिणामी पहले तीर्थंकर हुए जिन्होंने मिथ्यात्व अवस्थाको देखकर 'सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यग्चारित्र रूपी मोक्ष शास्त्रका उपदेश किया। बस यह ही जिन दर्शन इस कल्पमें हुआ। इसके पश्चात् अजितनाथसे लेकर महावीर तक तेईस तीर्थंकर अपने२ समयमें अज्ञानी जीवोंका मोह अन्धकार नाश करते रहे।"[2] इसीलिये श्रीयुत वरदाकांत मुख्यो-

---

१–हरिवंशपुराण भूमिका पृ० ६। २–अजैन विद्वानोंकी सम्मतियां (भाग) पृ० २८।

पाध्याय एम० ए०ने ठीक कहा है कि पार्श्वनाथजी जैनधर्मके आदि प्रचारक नहीं थे, परन्तु इसका प्रथम प्रचार ऋषभदेवजीने किया था। इसकी पुष्टिके प्रमाणोंका अभाव नहीं है।"[1] हठात् डॉ० हर्मन जैकोबीको भी यह प्रगट करना पड़ा है कि—

"But there is nothing to prove that Parsva was the founder of Jainism. Jaina tradition is unanimous in making Rishabha the first Tirthankara (as its founder) ...there may be something historical in the tradition which makes him the first Tirthankara."—(Indian Antiquary. VOL. IX P. 163)

अर्थात्—'पार्श्वको जैनधर्मका प्रणेता या संस्थापक सिद्ध करनेके लिए कोई प्रमाण उपलब्ध नहीं है। जैन मान्यता स्पष्ट रीतिसे प्रथम तीर्थंकर ऋषभदेवको इसका संस्थापक बतलाती है। जैनियोंकी इस मान्यतामें कुछ ऐतिहासिक सत्य हो सक्ता है।' इस प्रकार पाश्चात्य विद्वानोंका पूर्वोक्त मत उन्हींके वचनोंसे बाधित है तौभी हम स्वतंत्र रीतिसे जैनधर्मकी प्राचीनतापर प्रकाश डालेंगे; जिससे कि विद्वत्समाजसे यह भ्रम दूर होजाय कि जैनधर्मके संस्थापक श्री पार्श्वनाथजी अथवा महावीर थे।

जैनधर्मकी प्राचीनता उसके सिद्धान्तोंसे प्रकट है।

जैनधर्मकी विशेष प्राचीनता स्वय उसके कतिपय सिद्धातोंसे ही प्रगट है। उसमें जो वनस्पति, पृथ्वी, जल, अग्नि आदि पदार्थोंमें जीवित शक्तिका होना बतलाया गया है, वह उसकी बहु प्राचीनताका द्योतक है। क्योंकि Enthology विद्याका मत इस सिद्धांतके विषयमे है कि वह सर्व प्राचीन मनुष्योंका मत

१-पूर्व पृ० १८।

(Animistic belief) है। इसके साथ ही जैनसिद्धान्तमें तत्वों वा द्रव्योंका वर्णन करते समय गुणोका प्रथक् विवेचन नहीं किया गया अर्थात् गुणोंको स्वयं एक तत्त्व वा द्रव्य नहीं माना गया है। इससे प्रगट है कि जैनधर्म वैशेषिक दर्शनसे वहुत प्राचीन है, जैसे डॉ० जेकोवी प्रगट करते हैं।[1] इन दोनों बातोंके अतिरिक्त जैनियोंकी आदर्शपूजा और अणुवाद भी उसकी वहु प्राचीनताको प्रमाणित करते हैं। जैनी उन महान् पुरुषोंकी पूजा करते है जो सर्वोत्कृष्ट, सर्वज्ञ और सर्वहितैषी थे। इस प्रकारकी पूजा प्राचीन मनुष्योंमें ही प्रचलित थी।[2] सचमुच "जो धर्म अत्यन्त सरल होगा वह अपनेसे अधिक जटिल धर्मसे प्राचीन समझा जायगा।" और यह मानी हुई बात है, जैसे कि मेजर जनरल फरलान्ग साहब कहते हैं कि "जैनधर्मसे सरल—पूजामें, व्यवहारमें और सिद्धांतमें और कौनसा धर्म होसक्ता है?" यही हाल अणुवाद सिद्धान्तका है। 'इन्साइक्लोपेडिया ऑफ रिलीजन एन्ड ईथेक्स' भाग २ पृ० १९९—२०० का निम्न अंश ही इस विषयमें पर्याप्त है—

"In the oldest philosophical speculations of the Brahmans, as preserved in the Upanishada, we find no trace of an atomic theory, and it is therefore controverted in the Vedanta Sutra, which claims systematically to interpret the teachings of the Upanishads. Nor it is acknowledged in the Sankhya and Yoga philosophies, which have the next claim to be considered orthodox, i. e. to be in keeping with the Vedas, for even the Vedanta Sutra allows them the title of Smritis But the atomic

1—जैनसूत्र S. B E Intro 2—Carlyle Heroes & Hero worship 3—Thomas, Jainism—Early Faith of Asoka.

theory makes an integral part of the Vaisesika, and it is acknowledged by the Nyaya, two Brahmanical philosophies, which have originated by secular scholars (Pandits), rather than by divine or religious men. Among the hetrodox, it has been adopted by the Jains, and ..also by the Ajivikas .... We place the Jains first because they seem to have worked out their system from the most primitive notions about matter. ,—(ERE Vol. II. PP 199-200)

भावार्थ—'ब्राह्मणोके प्राचीनसे प्राचीन सैद्धांतिक ग्रंथोंमें, जैसे कि वे उपनिषदोंमें बताये गये हैं, कोई भी उल्लेख अणुसिद्धान्तका नही है। और इसीलिये वेदान्तसूत्रमें इसका खण्डन किया गया है, जो उपनिषद् शिक्षाओंको व्यवस्थित रीतिसे बतलानेका दावा करता है। वेदोंके समान मान्य सांख्य और योगदर्शनोंमें भी इस सिद्धान्तका कोई उल्लेख नहीं है किन्तु वैशेषिक और न्याय दर्शनोंमें यह स्वीकार किया गया है पर यह दोनों दर्शन अर्वाचीन पंडितोंकी रचनायें हैं—न कि किसी दैवी या धार्मिक पुरुषकी। वेद विरोधी मतोंमें जैन और आजीविकोंको यह सिद्धान्त मान्य था। .. जैनोको ही हम पहले मुख्य स्थान देते हैं, क्योंकि उन्होंने अपने सिद्धान्तको पुद्गल सम्बन्धी अतीव प्राचीन (most primitive) मतोंके अनुसार निर्दिष्ट किया है।' इसतरह अणुसिद्धान्त भी जैनियोंके धर्मको अत्यन्त प्राचीन सिद्ध करता है। इस अवस्थामें उसका प्रारम्भ भगवान नेमिनाथ या पार्श्वनाथ अथवा महावीरसे हुआ बतलाना कोरी शेखचिल्लीकी कहानी होगी। उसका प्रारंभ जैसे कि जैनियोंकी मान्यता है, एक बहुत प्राचीनकालमें भगवान् ऋषभदेव द्वारा ही हुआ था। इसी कारण प्रसिद्ध संस्कृतज्ञ विद्वान्

पुरातत्वविदोंका जैसे डॉ० ग्लासेनाप्पको यह स्वीकार करना पड़ा है कि " संभवत. आर्योका यही (जैनधर्म) सबसे प्राचीन तात्विक दर्शन है और अपनी जन्मभूमिमे यह आजतक विना किसी रद्दो-वदलके चला आता है।"

पुरातत्वकी साक्षी। इस कालमें जैनधर्मका सर्व प्रथम उपदेश भगवान् ऋषभदेवने ही एक अतीव प्राचीनकालमें दिया था, यह वात पुरातन भारतीय पुरातत्वसे भी सिद्ध होती है। जैनमदिरोंमें ऋषभदेवजीकी अनेक प्रतिमायें 'चौथेकाल' अर्थात् भगवान् महावीर या उनसे पूर्ववर्ती कालकी वतलाई जाती है। सचमुच उनमें कोई लेख न रहनेसे और उनकी वनावट अस्पष्ट और असंस्कृत होनेके कारण उन्हें उक्त प्रकार प्राचीन मानना कुछ अनुचित नही है। तिसपर जब हम राजा खारवेलके हाथीगुफावाले लेखमें एक नन्दवशी राजा द्वारा श्री० ऋषभदेवजीकी मूर्तिको कलिंगसे पाटलीपुत्र ले जानेका उल्लेख पाते है,[१] तो इस व्याख्याको और भी विश्वसनीय पाते है। नन्दवशके पहलेसे श्री ऋषभदेवकी मूर्तिया वनने लगीं थीं, यह वात हाथीगुफाके उक्त प्राचीन शिलालेखसे प्रमाणित है। फिर खडगिरिकी गुफाओंमें भी श्री ऋषभदेवकी मूर्तियां उकेरी हुई है और मथुराके कंकाली टीलेसे ईसासे पूर्व और वादकी प्रथम शताब्दियोंके प्रारंभिक कालकी जैन मूर्तियां निकली हैं, जिनमें कई एक श्री ऋषभदेवजीकी है।[२] इस तरह

१-वगाल, विहार, ओड़ीसाके जैनस्मारक पृ० १३८। २-जैनस्तूप एण्ड अधर एण्टीक्वटीज आफ मथुरा पृ० २१-३०।

उपरोक्त वर्णनसे यह स्पष्ट है कि भगवान् ऋषभदेवके अस्तित्वको आजसे ढाई हजार वर्ष पहलेके लोग स्वीकार करते थे और उन्हें जैनियोंका 'आदिपुरुष' मानते थे। हाथीगुफाके उपरोक्त शिलालेखमें उनका उल्लेख 'अग्रजिन'के रूपमें हुआ है।[1] अतएव पुरातन पुरातत्व भी श्री ऋषभदेवजीको जैनधर्मका इस युगकालीन आदि प्रचारक सिद्ध करता है।

बौद्ध ग्रंथ भी श्रीऋषभदेवको जैनधर्मका प्रणेता बतलाते हैं।

बौद्ध साहित्यसे भी यह प्रमाणित है कि जैनधर्म म० बुद्धके जन्मकालमें एक सुसंगठित धर्म था और वह 'निगन्थ धम्म'के नामसे बहुत पहलेसे चला आरहा था। हम पहले ही कह चुके हैं कि बौद्ध ग्रन्थोंमें जैनियोंके सम्बन्धमें अनेक सारगर्भित उल्लेख मौजूद हैं। 'अंगुत्तरनिकाय' में एक सूची म० बुद्धके समयके साधुओंकी दी है और उसमें 'निगन्थों' (जैनियों)को आजीवकोंके बाद दूसरे नम्बरपर गिना है।[2] यदि जैनी प्राचीन न होते तो उनकी गणना इस तरह दूसरे नंबरपर नहीं होसक्ती थी। इसके साथ ही हम यह भी जानते हैं कि आजीविक मतकी सृष्टि भगवान् पार्श्वनाथके तीर्थमें मक्खलिगोशाल नामक एक भ्रष्ट जैन मुनि द्वारा ही मुख्यतासे हुई थी, जैसे कि प्रस्तुत पुस्तकमे यथास्थान बताया गया है। इस दशामें आजीविकोंको पहले और उनके बाद जैनोंको गिनना

१—स्टडीज इन साउथ इन्डियन जैनीज्म भाग २ पृ० ४।
२—डायोलाग्स ऑफ दी बुद्ध (S. B. B. Vol. II.) Intro to Kassapa-Sihanada-Sutta.

असंगत है। परन्तु यह संभवतः इस कारणसे है कि जैनी उस समयके पहले 'निगन्थ' नामसे परिचित न होकर किसी अन्य नामसे विख्यात् होंगे। सचमुच श्वेतांबर शास्त्रोंमें उस कालसे पहलेके जैन मुनि 'कुमारपुत्त निगन्थ' नामसे परिचित मिलते हैं। 'श्रमण' रूपसे भी जैन मुनि पहले विख्यात थे। 'कल्पसूत्र' में जैनधर्मको 'श्रमण धर्म्म' ही लिखा है।[२] यही बात दि० जैन ग्रन्थोंसे भी प्रमाणित है। इसके साथ ही हम अगाड़ी यह भी देखेंगे कि वैदिक कालमें जैन लोग 'व्रात्य' नामसे भी परिचित थे। यह बात हिन्दू विद्वान मानते हैं कि वैदिक मत अहिंसा प्रधान नहीं था—प्रारम्भसे ही उसमें हिंसक विधान मौजूद थे[३] और जैनधर्ममें अहिंसा ही मुख्य है, जिसकी छाप वैदिक धर्मपर आखिर पडी थी।[४] अतएव जबतक वैदिक मतमें अहिंसादि व्रतोंको अपनाया नहीं गया था, तबतक उनका अपने प्रतिपक्षी जैनियोंको उनके अहिंसा आदि पांच व्रतोंके कारण "व्रात्य" नामसे उल्लेख करना सर्वथा उचित था। सभवतः भगवान् पार्श्वनाथके समय तक जैनी "व्रात्य" और "समण" नामसे ही परिचित रहे थे और इसके उपरांत वे मुख्यत "निगंथ" नामसे विख्यात हुये। यही कारण है कि उपरोक्त बौद्ध ग्रंथमें उन्हें आजीविकोंके बाद दूसरे नम्बर पर गिना गया है। जो हो, बौद्ध

१—उत्तराध्ययन व्या० २३। २—कल्पसूत्र (Stwenson) पृ० ८३। ३—महर्षि शिवव्रतलाल एम० ए०का "जैनधर्म और वैदिक धर्म" ट्रैक्ट ५ पृ० २३५ और प्रिन्सिपल्स ऑफ हिन्दु इथिक्स पृ० ४६३-४८७। ४—लाजपतराय, "भारतवर्षका इतिहास" भाग १ पृ० १२९ और भारत-गौरव लो० तिलकका व्याख्यान—अजैन विद्वानोंकी सम्मतियां पृ० १०।

ग्रंथके इस उल्लेखसे जैनधर्म म० बुद्ध और उनके बौद्धधर्मसे बहुत पहलेका प्रमाणित होता है। फिर बौद्धाचार्य धर्मकीर्ति सर्वज्ञ आप्तके उदाहरणमें ऋषभ और महावीर वर्द्धमानका उल्लेख करते हैं। (न्याय-बिन्दु अ० ३) इसमें जैनियोंके २४ तीर्थंकरोंमेंसे आदि अन्तके जैन तीर्थंकरोंका उल्लेख करके व्याख्याकी सार्थकता स्वीकार की गई है। इसी तरह बौद्धाचार्य आर्यदेव भी जैनधर्मके आदि प्रचारक श्री ऋषभदेवको ही बतलाते हैं।[1] बौद्धोंके प्राचीन ग्रन्थ 'धम्म-पदम्' में भी अस्पष्ट रीतिसे श्रीऋषभदेव और महावीरजीका उल्लेख आया है। एक विद्वान् उसके निम्न गाथाका सम्बन्ध जैनधर्मसे प्रगट करते हैं और कहते हैं कि इसमेंके 'उसभं' और 'वीरं' शब्द खासकर जैन तीर्थंकरोंके नाम अपेक्षा लिखे गए हैं[2]—

"उसभं पवरं वीरं महेसिं विजिताविनं।
अनेजं नहातकं बुद्धं तमहं ब्रूमि ब्राह्मणं ॥ ४२२ ॥"

—धम्मपदम्।

इसप्रकार बौद्ध साहित्यसे भी यही प्रकट है कि इस जमानेमें जैनधर्मका प्रचार भगवान ऋषभदेव द्वारा हुआ था; जिनके समयका पता लगाना इतिहासके लिए इससमय एक दुष्कर कार्य है।

१-जैन शास्त्र "वीर" वर्ष ४ पृ० ३५३।

२-इन्डियन हिस्टारीकल क्वार्टर्ली भाग ३ पृ० ४७३-४७५ 'अवे-स्ता डिक्शनरी में 'ऋषभ' शब्दकी उत्पत्ति अवेस्तन (Avestan) शब्द 'अरशम' (=नर) से लिखी है, जिसके अर्थ पुरुष, बैल, बहादुर आदि होते हैं। इसी तरह 'वीर' के अर्थ भी बहादुर लिखे हैं। साराश मि० गोविन्द पैने उक्त पत्रिकामें इन दोनों शब्दोंको बहु प्राचीन सिद्ध किया है। अवेस्तन भाषामें अर्हत् शब्द भी मिलता है।

अब यदि ब्राह्मण साहित्य पर दृष्टि डाली जाय तो प्रगटतः उसमें भी जैन व्याख्याको विश्वसनीय

वेदोंमें जैन उल्लेख!

बतलाया हुआ मिलता है। ब्राह्मण साहित्यमें सर्व प्राचीन पुस्तकें वेद माने गये हैं और इनमें ऋग्वेद संसार भरमें सर्व प्राचीन पुस्तक बतलाई गई है। अतएव यहांपर हम पहले इन वेदोंमें ही जैन उल्लेखोंको देख लेना उचित समझते है। यह प्राय सबको ही मान्य है कि जैनियोंके आप्तदेव 'अर्हत्' अथवा 'अर्हन्' नामसे परिचित है। सिवाय बौद्धोंके और किसी भी मतने इस शब्दका व्यवहार नहीं किया है; किन्तु बौद्धोंके निकट भी इसके अर्थ एक आप्तदेवसे नहीं है—प्रत्युत उनके एक खास तरहके साधुओंका उल्लेख 'अर्हत्' रूपमें होता है।[1] अतएव जैनियोंके ही 'उपासनीय आप्त अर्हन' नामसे उल्लेखित मिलते है और इन्हीं 'अर्हन' का उल्लेख ऋग्वेद संहिता (अ० २ व० १७)में हुआ है।[2] कालीदासजीके 'हनूमान नाटक' (अ० १ श्लो० ३)में भी यही कहा गया है कि 'अर्हन' जैनियोंके उपासनीय देव है। अगाड़ी ऋग्संहितामें (१०।१३६–२) मुनयः वातवसनाः रूपमें भी दिगम्बर जैन मुनियोंका उल्लेख मिलता है। डॉ० अलबर्ट वेबरने वेदके यह शब्द जैन मुनियोंके लिये व्यवहृत हुये स्वीकार किये हैं।[3] ऋषभ,[4] सुपार्श्व,[5] नेमि[6] आदि नाम

१–पूर्व प्रमाण। २–मेक्षमूलर द्वारा सम्पादित, लन्दन १८५४की छपी, भा० २ पृ० ५७९। ३–इन्डियन एण्टीक्वरी भा० ३० १९०१ और जिनेन्द्रमत दर्पण पृ० २१। ४–ऋग्वेद ३०–३, ३६–७, ३८–७। ५–यजुर्वेद–'ॐ सुपार्श्वमिन्द्रहवे। ६–वाजस्यनु प्रसव आवभूवेमा च विश्वभुवनानि सर्वत। सनेमिराजा परियाति विद्वान प्रजा पुष्टिं वर्धयमानो॥—अस्मम्वाहा॥–अ० ९ म० २५॥

भी ऋग्वेद और यजुर्वेदमें आये हैं[1] और यह नाम जैन तीर्थंकरोंके हैं। प्रत्युत चौबीस तीर्थंकरों और श्री महावीरजीके उल्लेख भी ऋग्वेद और यजुर्वेदमें बतलाये गये हैं।* ऋग्वेदमें ऐसे 'श्रमणों' का भी जिक्र है, जो यज्ञोमें होनेवाली हिंसाका विरोध करते थे।[2] यह श्रमण जैनोंके सिवाय और कोई नहीं होसक्ते; क्योंकि जैनधर्म स्पष्ट रीतिसे यज्ञोमें होनेवाली हिंसाका विरोधक प्रारम्भसे रहा है और वह श्रमण धर्म भी कहलाता है अन्यत्र प्रस्तुत पुस्तकमें हमने

१–हिस्टॉरीकल ग्लीनिंग्स पृ० ७६ ।

* श्रीयुत प० अजितकुमारजी शास्त्रीने 'सत्यार्थ दर्पण' में (पृ० ९१) ऋग्वेद आदिसे निम्न उद्धरण दिये हैं, इनसे जैन तीर्थंकरोंका व्यक्तित्व प्रमाणित है:—

"ॐ त्रैलोक्यप्रतिष्ठितान् चतुर्विंशतितीर्थंकरान् ऋषभाद्या वर्द्धमानान्तान् सिद्धान् शरणं प्रपद्ये । ॐ पवित्रं नग्नमुपविप्रसामहे एषा नग्नां (नग्नये) जातिर्येषां वीरा । येषा नग्नं सुनग्नं ब्रह्म सुब्रह्मचारिणं उदितेन मनसा देवस्य महर्षयो महर्षिभिर्जुहोति या जकस्य य जंतस्य च सा एषा रक्षा भवतु शांतिर्भवतु, तुष्टिर्भवतु, शक्तिर्भवतु, स्वस्तिर्भवतु, श्रद्धाभवतु, निर्व्याज भवतु ।' (यज्ञेषु मूलमंत्र एष इति विधिकंदल्या) ।

"जातारमिन्द्रं ऋषभं वदन्ति अतिचारमिन्द्रं तमरिष्टनेमिं । भवे भवे सुपार्श्वमिन्द्रं हवे तु शक्रं अजितं जिनेन्द्रं तद्वर्द्धमानं पुरुहूतमिन्द्रं ॥ नग्नं सुवीरं दिग्वाससं ब्रह्मगर्भं सनातनम् । दधातु दीर्घायुस्त्वाय वर्चसे सुप्रजास्त्वाय रक्ष रक्ष रिष्टनेमि स्वाहा ।" (बृहदारण्यके).

'आतिथ्यरूपं मासरं महावीरस्य नग्नहु ।
रूपामुपासदामेतत्तिस्रौ रात्रीः सुरासुताः ॥' यजुर्वेद अ० १९ म० १४

"प्रसिद्धस्य प्रमहसाऽग्रे वन्दे नव श्रिय ।
नाभो गम्भवानसिममध्वरेष्विध्यसे ॥" ऋग्वेद ४ अ० ४ म० ३ द० ६..

२–ऋग्वेद १-३-१४-२१ ।

ऋग्वेदकी प्रजापति परमेष्टिनवाली ऋचाओंका सम्बन्ध जैनधर्मसे बतलाया है। 'छान्दोग्य उपनिषद्'के उल्लेखसे प्रजापतिका जैनसंबंध और भी स्पष्ट होजाता है। वहां वह नारदके प्रश्नके उत्तरमें कहते हुए आत्मविद्याके समक्ष चारों वेदोंको कुछ भी नहीं मानते हैं।[१] इस प्रकार वेदोंके इन सब उल्लेखोंसे यह स्पष्ट है कि उनके समयमें भी जैनधर्म एक प्रचलित धर्म था। तिसपर हिन्दू 'भागवत' में जो ऋषभदेवको आठवां अवतार माना है, उससे उनका अस्तित्व वेदोंसे भी प्राचीन ठहरता है क्योंकि उनमे १५वें वामन अवतारका उल्लेख मौजूद है। यही बात है कि हिन्दू प्रॉ० स्वामी विरुपाक्ष वडियर धर्मभूषण, पंडित, वेदतीर्थ, विद्यानिधि, एम० ए० लिखते हैं कि जैन शास्त्रानुसार 'ऋषभदेवजीका नाती मारीचि प्रकृतिवादी था और वेद उसके तत्त्वानुसार होनेके कारण ही ऋग्वेद आदि ग्रन्थोंकी ख्याति उसीके ज्ञान द्वारा हुई है। फलतः मारीचि ऋषिके स्तोत्र, वेदपुराण आदि ग्रन्थोंमें हैं और स्थान२ पर जैन तीर्थंकरोंका उल्लेख पाया जाता है। तो कोई कारण नहीं कि हम वैदिक कालमें जैनधर्मका अस्तित्व न मानें।'[२] अस्तु !

बहुधा वेदोंके उपरोक्त जैन विषयक उल्लेखोंके सम्बन्धमें यह आपत्तिकी जाती है कि निरुक्त और भाष्यसे उनका जैन सम्बन्ध प्रगट नहीं है। किन्तु इस विषयमें हमें यह भूल न जाना चाहिये कि वेदोंके जो भाष्य आदि उपलब्ध हैं वह अर्वाचीन हैं। वेदोंका वास्तविक अर्थ और उनकी ऐतिहासिक परिपाटी बहुत पहले ही लुप्त होचुकी थी। भगवान् पार्श्वनाथजीके समकालीन (ई० पू०

१-वीर भाग ५ पृ० २४०। २-अजैन विद्वानोंकी सम्मतियां पृ० ३१।

७वीं शताब्दि) वैदिक विद्वान् कौत्स्य वेदोंकी असम्बंधता देखकर भौचकासा रह गया था और उसने वेदोको अनर्थक बतलाया था (अनर्थका हि मंत्राः। यास्क, निरुक्त १९-१) यास्कका ज्ञान भी वेदोके विषयमे उससे कुछ ज्यादा अच्छा नहीं था। (निरुक्त १६।२) फिर ईस्वी चौदहवीं शताब्दिमें आकर सायण भी ऋग्भाष्यमें वैदिक मान्यताके अर्थको ठीक२ नहीं पाता है। (स्थाणुरयम् भारहारः किलाभूविंत्य वेदं न विज्ञानाति योऽर्थम्।) इस दशामें यह कैसे कहा जासक्ता है कि वेदोंमें ऋषभ नेमि, अर्हन् आदि जैनत्व द्योतक शब्दोंका अर्थ जो आजकल किया जाता है वहां ठीक है? स्वयं ब्राह्मण विद्वान ही उनको जैनत्व सूचक बतलाते हैं। उधर प्राचीन जैन विद्वान उनका उल्लेख जैनधर्मकी प्राचीनताके प्रमाण रूपमें करते मिलते हैं। तिसपर स्वयं भाष्यकार सायण वैदिक अर्थको स्पष्ट करनेके लिये पुराणादिको प्रमाणभूत मानता है और पुराणादिमें ऋषभ, अर्हन् आदि शब्द स्पष्ट जैनत्व सूचक मिलते है। अतः वेदोंमें जैनोंका उल्लेख होना प्राकृत सुसंगत है।

रामायण कालमें जैनधर्म।

वेदोके बाद रामायणमें भी जैन उल्लेख मौजूद है, जिससे स्पष्ट है कि 'रामायण काल' में भी जैन धर्म विद्यमान था। रामायणके बालकाण्ड (सर्ग १४ श्लो० २२) के मध्य राजा दशरथका श्रमणोंको आहार देनेका उल्लेख है। ("तापसा भुञ्जते चापि श्रमणा भुञ्जते तथा।") श्रमण शब्दका अर्थ भूषण टीकामे दिगम्बर साधु किया गया है। ("श्रमणा दिगम्बराः श्रमणा वातवसनाः।") अतएव यह श्रमण दिगम्बर जैन

साधु ही थे। इसके साथ ही 'योगवाशिष्ट' में जो श्री रामचंद्र-जीके मुखसे 'जिन' (जिनदेव, जिनकी अपेक्षा 'जैन' नाम है)के समान होनेकी इच्छा प्रगट कराई गई है, इससे उक्त वक्तव्यकी और भी अधिक पुष्टि होती है।[1] वाल्मीकीय रामायणमें है कि रामचन्द्रजी राजसूय यज्ञ करनेको राजी हुये थे, परन्तु भरतजीने उन्हें अहिंसाधर्मका महत्व समझाकर ऐसा करनेसे रोक दिया था। (देखो प्रिंसपिल्स आफ हिन्दू ईथिक्स पृ० ४४६) रामचन्द्रजीके श्वसुर जनक बहुप्रसिद्ध हैं। जैन पुराणोंसे जाना जाता है कि वह पहले वेदानुयायी थे; परन्तु उपरांत जैनधर्मका प्रभाव उनपर पड़ा था और वे जैनधर्मके ज्ञाता हुये थे।[2] हमें हिन्दू शास्त्रोंमें भी एक जनक राजाका उल्लेख इसी तरह मिलता है, किन्तु वह काशीराज बतलाये गये हैं। कहा है कि एकबार महर्षि गार्ग्य उनके पास पहुंचे और उन्हें उपदेश देने लगे। पर वह उनको अधिक उपदेश दे न सके, प्रत्युत उन्होंने स्वयं ब्राह्मण होते हुये भी उन क्षत्री-राजसे ब्राह्मधर्म—आत्मधर्मका उपदेश ग्रहण किया था।[3] जैनधर्म क्षत्रियोंद्वारा प्रतिपादित आत्मधर्म ही है। अतएव रामायणके जमानेमें भी जैनधर्म वर्तमान था।

महाभारतके समय जैन धर्म।

रामायणके बाद महाभारत कालमें भी जैनधर्मके चिन्ह मिलते हैं। 'महाभारत' के अश्वमेघपर्वकी अनुगीता अ० ४८ श्लो० २से १२ तकमें जैन और बौद्धके अलग२ होनेकी साक्षी है। इसके अतिरिक्त महाभारतके आदि

१-योगवाशिष्ट अ० १५ श्लो० ८ और जैनइतिहास सीरीज भाग १ पृ० १०-१२। २-उत्तरपुराण पृ० २२५। ३-विश्वकोष भाग १ पृ० २०२१।

पर्व अ० ३ श्लो० २६–२७ में भी जैन मुनियोंका उल्लेख 'नग्न क्षपणक'के रूपमें है। 'अद्वैतब्रह्मसिद्धि' नामक हिन्दू ग्रन्थके कर्त्ता क्षपणकके अर्थ जैन मुनि करते हैं। यथा: "क्षपणका जैन मार्ग सिद्धांत प्रवर्तका इति केचित।" (पृ० १६९) अन्य श्रोतोंसे भी क्षपणकके अर्थ यही मिलते हैं।[1] इसके साथ ही महाभारत शांति पर्व, मोक्षधर्म अ० २१९ श्लो० ६में सप्तभंगी नयका उल्लेख है। फिर इसी पर्वके अ० २६३ पर नीलकंठ टीकामें ऋषभदेवके पवित्र चरणका प्रभाव आर्हतो वा जैनोपर पड़ा कहा गया है।[2] इन उल्लेखोंसे महाभारतकालमें भी जैन धर्मका प्रचलित होना सिद्ध है।

उपनिषदोंमें जैनधर्म। भगवान् पार्श्वनाथके पहलेसे उपनिषधोंका बहु प्रचार होरहा था और उस समय भी जैनधर्मका अस्तित्व यहां प्रमाणित है। उपनिषधोंसे यह बात प्रगट है कि वेदोंके साथ ही कोई वेदविरोधी ऐसे तत्ववेत्ता अवश्य थे; जिनकी 'ब्रह्मविद्या' (आत्म-विद्या)के आधारपर उपनिषधोंकी रचना हुई थी। श्रीयुत उमेशचन्द्रजी भट्टाचार्यने यह व्याख्या अन्यत्र अच्छी तरह प्रमाणित कर दी है।[3] उनका कहना है कि इस समय उस ब्रह्मविद्याका प्रायः सर्वथा लोप है। उसके बचे–खुचे कुछ चिन्ह उपनिषधोंमें ही यत्रतत्र मिलते हैं। उस समय वेदों और उपनिषधोंके अतिरिक्त ब्रह्मविद्या विषयक साहित्य 'श्लोक' नामसे अलग प्रचलित था। अब तनिक विचारनेकी बात है कि उपरोक्त ब्रह्मवादी कौन थे? यदि

१–पञ्चतन्त्र ५।१। २–जैन इतिहास सीरीज भा० १ पृ० १३।
३–इंडियन हिस्टोरीकल क्वार्टर्ली भा० ३ पृ० ३०७–३१५।

हम 'ब्रह्म' शब्दको जीव–अजीवका द्योतक मानें जैसा कि प्रगट किया गया है[1] तो उसका सामञ्जस्य जैन सिद्धान्तसे ठीक बैठता है! उपनिषध कालमें जैनधर्मका मस्तक अवश्य ऊँचा रहा था, यह बात 'मुण्डकोपनिषद्' एवं 'अथर्ववेद' के उल्लेखोसे प्रमाणित है; जैसे कि हम अगाड़ी देखेंगे। जर्मनीके प्रसिद्ध विद्वान् हर्टलसा०ने यह सिद्ध किया है कि 'मुण्डकोपनिषद्' में करीब२ ठीक जैनसिद्धांत जैसा वर्णन मिलता है और जैनोंके पारिभाषिक शब्द भी वहां व्यवहृत हुये हैं।[2] तिसपर जैनोंके 'पउमचरिय' नामक प्राचीन ग्रन्थसे 'मुण्डकोपनिषद्' के कर्ता ऋषि अंगरिस जैनोंके मुनिपदसे भ्रष्ट हुये प्रगट होते हैं। उन्होंने अपने ग्रन्थोंमें वैदिक धर्मको जैनधर्मसे मिलता जुलता बनानेका प्रयत्न इसीलिये किया था कि वैदिक धर्मावलम्बी जैनधर्मकी ओर अधिक आकृष्ट न हो।[3] प्राचीन 'ब्रह्मविदों' के 'श्लोक साहित्य' के जो यत्रतत्र अंश मिलते हैं; उनका यदि विशेष अध्ययन किया जाय तो हमें विश्वास है कि उनकी शिक्षा जैनधर्मके विरुद्ध नहीं पड़ेगी। 'कठोपनिषद्' में (२–६–१६) प्राप्त 'श्लोक साहित्य' का एक अंश हमने देखा है और उसमें जैनधर्मसे कुछ भी विरोध नहीं है। जैन मान्यताके अनुसार यह प्रगट है कि जैन–वाणी (द्वादशांग श्रुतज्ञान)की सर्व प्रथम रचना इस कालमें ऋषभदेव द्वारा हुई थी और वह श्लोक-

---

१–वीर वर्ष ५ पृ० २३८। २–इन्डो-ईरेनियन मूल ग्रन्थ और संशोधन भा० ३ व 'धर्मध्वज' वर्ष ५, अङ्क १ पृ० ९। ३–विशेषके लिये देखो 'वीर' वर्ष ६ में प्रकट होनेवाला 'ऋषि अंगरिस और जैनधर्म' शीर्षक लेख।

बद्ध थी । जैन शास्त्रोंमें उसकी अलग २ श्लोक संख्या दी हुई है।[१] अतः इससे यह संभव है कि उस समय जैन श्रुत ही 'श्लोक साहित्य'के नामसे परिचित हो। शायद इसमें भाषा विषयक आपत्ति हो, क्योंकि जैनश्रुत अर्द्ध मागधी भाषामय बताया गया है। किंतु अर्धमागधीका उल्लेख भगवान महावीरजीके श्रुतज्ञानके सम्बन्धमें है और उसकी अर्धमागधी भाषा मागधदेश अपेक्षा ही बताई गई है।[२] इस दशामें यह नहीं कहा जासक्ता कि भगवान् ऋषभदेव द्वारा प्रतिपादित श्रुतज्ञान किस भाषामें ग्रन्थबद्ध था? बहुत संभव है कि वह प्राचीन संस्कृतसे मिलती जुलती भाषामें हो। भगवान ऋषभदेव द्वारा एक संस्कृत व्याकरण ग्रन्थ रचे जानेका उल्लेख मिलता ही है।[३] इस प्रकार उपनिषदोंसे भी तत्कालीन जैनधर्मके अस्तित्वका पता चलता है।

शाकटायनकी साक्षी।

भारतीय वैयाकरणोंमें शाकटायन बहु प्रसिद्ध और बहु प्राचीन हैं। इन्होंने अपने व्याकरणमें जैनधर्मका उल्लेख किया है। बल्कि यह स्वयं जैन थे, यह बात प्रॉ० गुस्टव आपर्टने अपने "शाकटायन व्याकरण" (मद्रास सन् १८९३)की भूमिकामें अच्छी तरह सिद्ध की है।* वह लिखते हैं, "पाणिनिने अपने व्याकरणमें शाकटायनका बहुत जगह वर्णन किया है। पातंजलिने भी अपने

१–जैनसिद्धांत भास्कर भा० १ किरण १ पृ० ५६–५७।

२–'मागध्यावतिका प्राच्या शौरसैन्यर्धमागधी वाह्लीकी दक्षिणात्या च भाषा' सप्त प्रकीर्तिताः। चर्चासमाधान पृ० ३९–४० देखो।

३–सक्षिप्त जैन इतिहास भा० १ पृ० १२।

महाभाष्यमें शाकटायनका प्रमाण दिया है। शाकटायनके बनाये हुये उणादि सूत्र वैयाकरणोमें भलेप्रकार प्रचलित हैं। शाकटायनका नाम ऋग्वेदके प्रातिशाख्य, शुक्लयजुर्वेद और यास्कके निरुक्तमें भी आया है। वोपदेवके 'कवि-कल्पद्रुम' में[1] जहां आठ प्रसिद्ध वैयाकरणोंका वर्णन है उनमें शाकटायनका भी नाम है। इनमेंसे केवल इन्द्रका ही नाम शाकटायनने अपने व्याकरणमें लिया है। शाकटायनके बनाये हुये शब्दानुशासनके हरएक पाठके शुरूमें यह वाक्य है—"महाश्रमण संघाधिपतेः श्रुतकेवलिदेशीचार्यस्य शाकटायनस्य" इससे स्पष्ट है कि शाकटायन जैन मुनि थे।'[2] इनके 'उणादि-सूत्र' में "इण् सिञ् जिदीङुष्यविभ्योनक्" सूत्र २८९ पाद ३ है; जिसका अर्थ सिद्धांतकौमुदीके कर्ताने 'जिनोर्हन्' किया है। इसका भाव जैनधर्मके संस्थापकसे है क्योंकि हिन्दू ग्रन्थोंमें जैनधर्मके संस्थापकका उल्लेख सर्वत्र 'जिन' व अर्हन' रूपमें किया गया है। यह शाकटायन निरुक्तिके कर्त्ता यास्कके पहिले हुये थे और यास्क पाणिनिसे कितनी ही शताब्दियो पहले हुए, जो महाभाष्यके कर्त्ता पातजलिके पहले विद्यमान थे। अब पातंजलिको कोई तो ईसासे पूर्व २री शताब्दिका बताते है।[3] और कोई ईसासे पहले ८वी या २०

किन्तु अब किन्हीं विद्वानोंका मत है कि प्राचीन शाकटायन जैन नहीं थे। जैन शाकटायन तो राष्ट्रकूट वंशी राजा अमोघवर्षके समयमें हुए बताए जाते हैं।

१–इन्द्रश्चन्द्रः काशकृत्स्नापिशली शाकटायनः।
पाणिन्यमरजैनेन्द्रा. जयन्त्यष्टादिशाब्दिका ॥'

२–जिनेन्द्रमत दर्पण भा० १ पृ० ५–६।

३–जैन इतिहास सीरीज भा० १ पृ० १३–१४।

वीं शताब्दिमें हुआ बतलाते हैं।[1] किन्तु जो हो, इससे यह स्पष्ट है कि वैयाकरण शाकटायन ऋग्वेदके प्रतिशाख्योंके पहले होचुके थे और इस दशामें भी जैनधर्म बहु प्राचीन सिद्ध होता है।

हिन्दुपुराणोंमें जैनधर्मकी साक्षी।

हिन्दुओंके पुराण ग्रन्थोंसे भी जैनधर्मकी प्राचीनता स्वयंसिद्ध है। उनके सर्व प्राचीन विष्णुपुराणमें जैन तीर्थंकर सुमतिनाथका उल्लेख है।[2] तथापि उसमें जैनधर्मकी उत्पत्ति देव और असुरोंके युद्धके परिणाम स्वरूप स्वयं विष्णुके शरीरसे उत्पन्न मायामोह नामक पुरुषके द्वारा बहु प्राचीनकालमें हुई बतलाई गई है। मायामोह मुण्डेसिर, नग्नरूप, हाथमें मयूरपिच्छ लिये और तपस्या करते नर्मदा तटपर अवस्थित असुरोंके आश्रममें पहुंचे और उनको जैनधर्मरत किया, यह भी इस पुराणमें लिखा है। यह असुर 'आर्हत' कहलाये। (देखो—बंगाली आवृत्ति, अंश ३ अ० १७–१८), भागवतपुराणमें जैनधर्मके प्रणेता श्री ऋषभदेवजीका विशेष वर्णन है। उनको वहां २२ अवतारोंमे आठवां बतलाया है। उनकी वंशपरम्परा सम्बंधमें लिखा है कि १४ मनु हुये, जिनमें स्वयंभू मनु पहले थे। ब्रह्माने जब देखा कि मनुष्य संख्या नहीं बढी तो उसने स्वयंभूमनु और सत्यरूपाको पैदा किया और सत्यरूपा स्वयंभूमनुकी पत्नी हुई। प्रियव्रत नामक पुत्र हुआ, जिसके आग्नीन्ध और उसके नाभि हुये। नाभिका विवाह मरुदेवीसे हुआ और इनसे श्री ऋषभदेव

१–हिस्ट्री एण्ड लिट्रेचर ऑफ जैनीज्म पृ० १०। २–इन्डियन एन्टीक्वेरी भा० ९ पृ० १६३।

हुये ।[1] भागवतमें स्पष्ट रीतिसे इन ऋषभदेवको स्वयं भगवान् कैव-ल्यपति लिखा है। तथा उनको दिगम्बर वेष और जैनधर्मका चलानेवाला बतलाया है।[2] इस उल्लेखसे प्रगट है कि सृष्टिके प्रारम्भमें, जैसे हिन्दू मानते हैं, जब ब्रह्माने स्वयंभूमनु और सत्यरूपाको उत्पन्न किया तो ऋषभदेव तब उनसे पांचवीं पीढ़ीमें हुये और "पहले सतयुगके अन्तमें हुये और २८ सतयुग इस अरसे तक व्यतीत होगये।"[3] इस प्रकार ऋषभदेवका अस्तित्व एक अतीव प्राचीनकालमें प्रगट होता है और यह सर्वमान्य है कि भागवतोक्त ऋषभदेव ही जैनोंके प्रथम तीर्थंकर हैं।[4] उनके मातापिताका नाम और शेष वर्णन भागवतमें भी प्रायः वैसा ही है जैसा जैनशास्त्रोंमें है। भागवतके अतिरिक्त 'वराहपुराण' और 'अग्निपुराण' में भी ऋषभदेवका उल्लेख विद्यमान है। 'प्रभासपुराण' में तो केवल ऋषभदेवका ही नहीं बल्कि २२वें तीर्थंकर श्री नेमिनाथजीका उल्लेख भी मौजूद है। इनके अतिरिक्त हिंदू 'पद्मपुराण' में वेदानुयायी राजा वेनके जैन होनेका वर्णन मिलता है। जब वह राज्य कररहे

१-भागवत स्कन्ध ५ अ० ४-६। २-भागवत स्कन्ध २ अ० ७ (व्यंकटेश्वर प्रेस) पृ० ७६। ३-जिनेन्द्रमत दर्पण भा० १ पृ० १०। ४-हिन्दी विश्वकोष भा० ३ पृ० ४४४ और डॉ० स्टीवेन्सन, कल्पसूत्रकी भूमिका पृ० १६। ५-तस्य नाभस्य पिता ऋषभ हेमाद्रेर्दक्षिणं वर्षं महद्भारतं नाम शशास। ६-ऋषभो मरुदेव्यां च ऋषभाद्भरतोऽभवत्। भरताद्भारतं वर्ष भरतात्सुमतिस्त्वभूत् ॥

७-कैलासे विमले रम्ये ऋषभोऽयं जिनेश्वरः ।
चकार स्वावतारं च सर्वज्ञः सर्वगः शिवः ॥ ४९ ॥
रैवताद्रौ जिनो नेमिर्युगादिर्विमलाचले ।
ऋषीणां या श्रमादेव मुक्तिमार्गस्य कारणम् ॥

थे तब एक दिगंबर जैन मुनि उनके पास आये थे और इन्हें देव, शास्त्र, गुरुका स्वरूप समझाकर जैनधर्मका श्रद्धानी बनाया था।[1] 'वामनपुराण'में वेणको ब्रह्मासे छठी पीढ़ीमें हुआ बताया है।[2] इससे भी जैनधर्मकी प्राचीनता प्रमाणित है। 'शिवपुराण' में 'अर्हन्' भगवान्‌का शुभ नाम पापनाशक और जगत सुखदायक बतलाया गया है। नागपुराणमें कहा है कि जो फल ६८ तीर्थोंके यात्रा करनेमें होता है, वह फल आदिनाथ (ऋषभदेव)के स्मरण करनेसे होता है। इस प्रकार पुराणग्रन्थोंसे भी जैनधर्मकी प्राचीनता स्पष्ट है। इन पुराणोंके कथन बहुप्राचीन कथानकोंके आधारपर हैं और उनमें सत्यांश मौजूद है; यह बात आधुनिक विद्वान भी स्वीकार करते हैं।*

१-अ० जैनगजट भा० १४ पृ० ८९-वेणस्य पातकाचारे सर्वमेव वदाम्यहम्॥ तस्मिन्-छासति धर्मज्ञे प्रजापाले महात्मनि। पुरुषः कश्चिदायातो ब्रह्मलिङ्गोधरस्तथा॥ नग्नरूपो महाकाय सितमुण्डो महाप्रभः। मार्ज्जनीं शिखिपत्राणा कक्षाया स हि धारयन्॥ पटमानो मरुच्छास्त्र वेदशास्त्रविदूषकम्॥ यत्रवेणो महाराजस्तत्रोपायात्त्वरान्वित.॥ अर्हन्तो देवता यत्र निर्ग्रन्थो गुरुरुच्यते। दया वै परमो धर्मस्तत्र मोक्ष प्रदृश्यते॥ एव वेणस्य वै राज्ञः सृष्टिरेव महात्मनः। धर्माचार परित्यज्य कथ पापे मतिर्भवेत्॥ R. C. Dutt, Hindu Shastras Pt. VIII. pp. 213-22

२-अ० जैनगजट भा० १४ पृ० १६२ हाथीगुफावाले शिलालेखमें जैन सम्राट्‌के वीरत्वकी उपमा राजा वेणसे दी है। इससे भी राजा वेणका जैन होना प्रगट है। (देखो जर्नल आफ दी बिहार एण्ड ओरिसा रिसर्च सोसाइटी, भा० १३ पृ० २२४)। ३-सत्यार्थ दर्पण पृ० ८९।

४-पूर्व प्र० पृ० ८७ यथा—'अष्टषष्टिषु तीर्थेषु यात्राया यत्फलं भवेत्। आदिनाथस्य देवस्य स्मरणेनापि तद्भवेत्॥'

* Macdonell's History of Sanskrit.

अबतकके विवेचनसे जैनधर्मकी प्राचीनताका बोध पूर्णरूपेण होगया है. परन्तु हम पूर्वमें यह बतला आये है कि भगवान् महावीरजीके पहले जैनोंका उल्लेख ' व्रात्य ' रूपमे उसी तरह होता था, जिस तरह उपरांत वे ' निर्ग्रन्थ ' और ' अर्हत ' नामसे प्रख्यात् हुये थे और अब जैन नामसे जाहिर हे। इसलिये यहांपर हमको अपने इस कथनकी सार्थकता भी प्रकट कर देना उचित है। इसके लिये हमें दक्षिणी जैन विद्वान प्रो० ए० चक्रवर्ती महोदयके महत्वपूर्ण लेखका आश्रय लेना पड़ेगा, जो अंग्रेजी जैनगजट (भा० २१ नं० ६) में प्रकाशित हुआ है। इस साहाय्यके लिये हम प्रोफेसर साहबके विशेष आभारी है। वैदिक साहित्यमें 'व्रात्य' शब्दका प्रयोग विशेष मिलता है और उससे उन लोगोंका आभास मिलता है जो वेदविरोधी थे और जिनको उपनयन आदि संस्कार नहीं होते थे। मनु व्रात्य विषयमें यही कहते हैं कि "वे लोग जो द्विजों द्वारा उनकी सजातीय पत्नियोंसे उत्पन्न हुये हों, किन्तु जो धार्मिक नियमोंका पालन न कर सकनेके कारण सावित्रीसे पृथक कर दिये गये हो, व्रात्य है।" (मनु० १०।२०) यह मुख्यता क्षत्री थे। मनुजी एक व्रात्य क्षत्रीमें ही झल्ल, मल्ल, लिच्छवि, नात, करण, खस और द्राविड़ वंशोंकी उत्पत्ति बतलाते है। (मनु० १०।२२) व्रात्य लोगोंका पहनावा भी पृथक्रूपका था। उनकी एक खास तरहकी पगड़ी (निषंगक) थी—वे एक वल्लभ और एक खास प्रकारका धनुष (ज्या-ह्रोड) रखते थे—एक लाल कपड़ा पहनने और रथमें चलते थे।

'व्रात्य' प्राचीन जैनोंका द्योतक है।

उनका एक चांदीका आभूषण 'निश्क' नामका था। वे मुख्यतः दो विभागों—हीन और ज्येष्ठमें विभक्त थे। यद्यपि वे संस्कारोंसे रहित समझ लिये जाते थे, परन्तु वैदिक आर्य उनको पुनः अपनेमें वापस ले लेते थे। उनके वापस लेनेकी खास क्रियायें 'व्रात्यस्तोम' नामसे थीं। आधुनिक विद्वान् प्रॉ० वेबर सा०ने इन्हें उपरान्तकी बौद्ध जातियों सदृश माना है और बतलाया है कि यह बौद्धोंके समान कोई ब्राह्मणविरोधी लोग थे। किन्तु प्रॉ० साहबका यह अनुमान भ्रान्तमय है, क्योंकि बौद्धधर्मका जन्म ब्राह्मण साहित्यसे बहुत पीछेका है। इसी तरह अन्य विद्वानोंका इन्हें कोई विदेशी असभ्य जाति अथवा रुद्रशिव सम्प्रदाय बतलाना भी भ्रांतिसे खाली नहीं है। सचमुच यह व्रात्य लोग आर्य थे और विशेषतः क्षत्री आर्य थे; क्योंकि वैदिक ग्रन्थोंमें कहा है कि व्रात्य न ब्राह्मणोंकी क्रियायोंको पालते थे और न कृषि या व्यापार ही करते थे। इसलिये व्रात्य न तो ब्राह्मण थे और न वैश्य थे। वे योद्धा थे, क्षत्री थे। अस्तु; पूर्व पृष्ठोंमें हम यह बतला ही आये हैं कि वेदोंमें खासकर ऋग्वेद संहितामें ऋषभ अथवा वृषभ, अरिष्टनेमि आदि जैन तीर्थंकरोंके नाम खूब मिलते हैं और भागवत, विष्णु[२] आदि पुराणोंके अनुसार यह ऋषभदेव जैनधर्मके आदि संस्थापक और क्षत्री वंशके थे यह भी प्रगट है। जैन शास्त्र भी इन तीर्थंकरोंको क्षत्री वंशोद्भव ही बतलाते हैं। इतना ही क्यों उनके अनुसार आर्य मर्यादाकी सृष्टि इक्ष्वाकु वंशीय क्षत्रीयों द्वारा ही हुई हैं।[३] ऋग्वेदके वृषभ

१-Indischen Studien 1. 32.

२-विष्णुपुराण २-१। ३-आदिपुराण और उत्तरपुराण देखो।

अथवा ऋषभदेवका इक्ष्वाकुवंश और पुरुकुल है। महाकवि कालिदास भी इक्ष्वाकुवंशी राजाओंके राजर्षि होनेकी साक्षी देते हैं।[1] जैनतीर्थंकरोंमें बीस इसी वंशके थे और शेष चार अन्य हरिवंश आदिके थे। उपनिषदोंमें जिस आत्मविद्या और नियमोंका वर्णन है, वह भी इन्हीं इक्ष्वाकुवंशी क्षत्रियोंके प्रभावका परिणाम है। संभवत काशी, कौशल, विदेह आदि पूर्वीय देशोंके आर्य पश्चिमके कुरुपाञ्चाल आर्योंके पहलेसे हैं। और इन प्रदेशोंमें जैन-धर्मका प्रभाव म० बुद्धके पहलेसे विद्यमान था।[2] तिसपर मनुने जिन झल्ल, मल्ल, लिच्छवि, नात, द्राविड़ आदि जातियोंको व्रात्य-क्षत्रीकी संतान लिखा है, वह प्राय सब ही जैनधर्मकी मुख्य उपासक मिलती है। मल्ल क्षत्रियोकी राजधानी पावासे ही अंतिम तीर्थंकर महावीरस्वामीने निर्वाण लाभ किया था।[3] भगवान महा-वीर तबतक वहां पहुचे नहीं थे, परन्तु तो भी वह उनके अनन्य-भक्त थे और भगवान्को अपने नगरमें देखनेके इच्छुक थे। इससे प्रकट है कि उनमें जैनधर्मका श्रद्धान भगवान् महावीरसे पहलेका विद्यमान था। लिच्छवि क्षत्रियोंमें भी जैनधर्मकी विशेष मान्यता थी।[4] वे पहलेसे जैनधर्मानुयायी थे; क्योंकि उनके प्रमुख राजा चेटकको जैनग्रन्थोंने पहलेसे ही जैनधर्मका श्रद्धानी लिखा है। यही राजा भगवान महावीरके मातुल थे। नात अथवा नाथवंशमें

१–[illegible]विद्यानां, यौवने विषयैषिणाम् ।
वार्द्धके मुनिवृत्तीनां, योगेनान्ते तनुत्यजाम् ॥
२–भगवान महावीर और म० बुद्ध परिशिष्ट और मज्झिमनिकाय भा० १ पृ० २। ३–पूर्व ग्रं० पृ० १०८। ४–पूर्व पृ० ६।

तो स्वयं भगवान् महावीरका जन्म ही हुआ था। और भगवानके माता–पिता एवं अन्य परिजन पहलेसे ही जैनधर्मके श्रद्धानी थे।[१] द्राविडलोगोंमें जैनधर्मका बहु प्रचार रहा है, यह सर्व प्रकट है। लात्यायन सूत्रोंसे यह प्रकट ही है कि व्रात्योंका मुख्यस्थान बिहार था,[२] जो जैनतीर्थंकरोंके कार्यका भी लीलास्थल रहा है। अतएव इन बातोंको देखनेसे ही यह ठीक जंचता है कि व्रात्यलोग जैन थे, अथवा जैनोंका प्राचीन नाम 'व्रात्य' था।

किन्तु इतने परसे ही सन्तोष कर लेना ठीक नहीं है।

वेदोंके अरुणमुख यति भी जैन थे।

अगाड़ी यह बात प्रगट है कि वेदोंसे एक यज्ञ विरोधी दलका अस्तित्व सिद्ध है, जो यति कहलाते थे। वही यति 'अरुणमुख' कहे गये हैं अर्थात् इनके मुखमें वेदोंका पाठ नहीं था। तथापि यह वेदोंके यज्ञविधानके भी विरोधी थे, क्योंकि इसी कारण इन्द्रने इन्हें सजा दी थी। ताण्डिय ब्राह्मणमें (१४।२।९।२८) यह यूं लिखी हैं:–

'इन्द्रो यतीन् सालवृकेभ्यः प्रयच्छत्तम् अस्तीलावग अभ्यवदत्–सोऽशुद्धो मन्यत स एतत् शुद्धाशुद्धियं अपश्यत्तेन अशुद्ध्यत।'

अर्थात्–"इन्द्रने यतियोंको गीदड़ोंके सम्मुख डाल दिया। एक दुर्वाणाने उससे कहा–(टीकाकारके अनुसार उसे ब्राह्मण हत्याका पातकी बताते हुये) " उसने अपने आपको अशुद्ध

१–क्षत्रिय क्लैन्स इन बुद्धिस्ट इन्डिया पृ० ८२। २–जर्नल रायल एशियाटिक सोसाइटी, बंबई, No. LIII, भाग १९.

जाना। उसने 'शुद्धाशुद्धिये मंत्र (एक खास श्रमण कथन[1]) देखा और वह पवित्र हो गया।" यही कथा इसी ग्रन्थमें (१८।१।९) फिर कही गई है और इसमे उक्त मंत्र देखनेके स्थानमें इन्द्रको प्रजापतिके[2] पास गया लिखा है, जिनने उसे 'उपहव्य' दिया था। इन्द्र और यतियोंकी यह कथा ऐतरेय ब्राह्मण (७।२८) और ताण्ड्य ब्राह्मण (८।१।४ और १३।८।१७) में भी दी गई है। ऐतरेय ब्राह्मणमें इन्द्र यतियोंका भेडियोंके डालने और अरुणमुखोंके मारने आदिके कारण सोमरस पान करनेसे वंचित हुआ लिखा है। और 'तन्डुय ब्राह्मण' में कहा गया है कि इन्द्रने यतियोंको गीदडोंके डाल दिया, पर तौभी तीन—पृथुरश्मि, बृहद्-गिरि और रयोवज बच रहे। इन्द्रने इन्हें पाल पोस बड़ा किया और युवा होनेपर उन्हें वरदान दिया। पृथुरश्मिने राज्यबलकी आकांक्षा की—सो 'पर्थरस्म' समनके द्वारा इन्द्रने उसे राजबल

१—जैनोंकी देव शास्त्र गुरुपूजामें जो निम्न मंत्र हैं, वह शायद इसी 'शुद्धाशुद्धिय' मंत्रके द्योतक है, जिसको टीकाकार भी श्रमण मंत्र बतलाता है—

"अपवित्रः पवित्रो वा सुस्थितो दुःस्थितोऽपि वा।
ध्यायेत्पंचनमस्कारं सर्वपापैः प्रमुच्यते ॥ १ ॥
अपवित्रः पवित्रो वा सर्वावस्थां गतोऽपि वा।
यः स्मरेत्परमात्मानं स बाह्याभ्यन्तरे शुचिः ॥ २ ॥"

२—यहां इन्द्रको 'शुद्धाशुद्धिय' मंत्र, जो जैनमंत्र प्रतीत होता है, के स्थानपर प्रजापतिके पास जाते लिखा सो यह भी हमारे इस वक्तव्यका पोषक है कि प्रजापति जैनधर्म प्रणेताका सूचक है। अथर्ववेदके महाव्रात्य प्रजापति भी जैन और संभवतः श्री ऋषभदेव हैं। इससे भी प्रजापतिका जैन सम्बन्ध प्रकट है।

दिया। बृहद्‌गिरीने ब्राह्मण गौरव पानेकी अभिलाषा की, सो इंद्रने 'बृहदगिरि' समनके बल उसे वह गौरव दिया। और रयोवज्नने पशुधन चाहा, इंद्रने 'रयोवजीय' समनके द्वारा उसे पशुधन भेंट किया। इस ग्रन्थके टीकाकार इन यतियोंको वह व्यक्ति बतलाते हैं जो वेदविरुद्ध नियमोंका पालन करते थे, यज्ञोंके विरोधी थे और कर्मकाण्डके निषेधक थे। इनमें ऐसे ब्राह्मण थे जो 'ज्योतिष्तोम' आदि यज्ञ न करके अन्य प्रकार जीवन यापन करते थे। इन उल्लेखोंमें (१) यतियोंको यज्ञ विरोधी सन्यासी लिखा है, जो यज्ञ मंत्रोंका भी उच्चारण नहीं करते थे; (२) वैदिक आर्योंमें उनकी प्रसिद्धि नहीं थी और वे इन्द्र एवं इन्द्रभक्तों द्वारा प्रताड़ित हुये थे; (३) किन्तु जिस उद्देश्यके लिए यह यती खड़े हुये थे, वह एक समय इतना प्रबल होगया कि इन्द्रपूजा और सोमयज्ञ बन्द होगये।* स्वयं इंद्रपर हत्याओंके पातक लगाए गए। (४) इस झगड़ेके अन्तमें यज्ञवादकी विजय हुई और इन्द्रपूजा एवं यज्ञोंको पुनरावृत्ति हुई। (५) यह यती जैन यतियोंके समान हैं; क्योंकि

---

* 'मत्स्यपुराण' के निम्न वर्णनसे भी यह बात प्रमाणित होती है कि एक समय अवश्य ही जैनधर्मकी इतनी प्रबलता होगई थी कि इन्द्रका मान और विनय जाता रहा था—

"इन्द्र राज्य विहीन बृहस्पतिके पास अपनी फरियाद लेकर पहुचा। बृहस्पतिने गृहशाति और पौष्टिक कर्मद्वारा इन्द्रको वलिष्ठ वनाया। और जैनधर्मके आश्रयसे उसने रजिपुत्रोंको, (जिनने इन्द्रको राज्यच्युत किया था) मोहित किया। बृहस्पतिने खूब ही रजिपुत्रोंको वेदत्रय भ्रष्ट किया। इसपर इन्द्रने उन वेद बाह्य और हेतुवादी रजिपुत्रोंको वज्रसे नष्ट कर-दिया।" (मत्स्य पु० आनन्दाश्रम० अ० २४ श्लो० २८-४८।

टीकाकार सायण इन यतियोंके कपालको 'महा खजूरफल' के समान अर्थात् विल्कुल घुटी हुई बतलाते हैं। जैसे कि वस्तुतः जैन यतियोंकी होती है। हिन्दू पद्मपुराण आदि ग्रन्थोंमें जैन मुनियोंका वर्णन करते हुये उन्हें 'सितमुण्डो' बतलाया है। इससे अहिंसाधर्मके अनुयायी जैनोंका अस्तित्व उपरांतके वैदिक कालमें सिद्ध होता है। इसतरह भी 'व्रात्यों' का जैन होना प्रकट है; क्योंकि उपरोक्त उल्लेखोंसे उस समय जैन यतियोंका होना प्रमाणित है। अस्तु.

जैनाचार ग्रन्थोंमें चारित्रके दो भेद (१) अणुव्रत और (२) महाव्रत किये गये हैं। अणुव्रत गृह-

व्रतोंको पालनेकी मुख्य- स्थोंके लिए हैं और महाव्रतोंका पालन

तासे जैनोंका प्राचीन यतिगण करते हैं। महाव्रतोंको 'अग्रव्रत'

नाम व्रात्य है। अथवा 'अनागारव्रत' भी कहते हैं।

जैनधर्म प्रारम्भसे ही अजैनोंको दीक्षित करनेका हामी रहा है। आर्य और अनार्य सब ही उसमें दीक्षित किये जाचुके हैं।[1] गृहस्थों अथवा श्रावकोंके लिये ग्यारह प्रतिमाओं (दर्जों)का विधान है और सबसे नीची अवस्थामें केवल जैनधर्मका श्रद्धानी होना पर्याप्त है—उसमें व्रतों तकका अभ्यास नहीं किया जाता है इसलिए यह अव्रतदशा कहलाती है। ब्राह्मण ग्रन्थोंमें इनका उल्लेख मत्य धन पानेके योग्य पुरुषके रूपमें हुआ है। इनसे बढ़कर व्रती श्रावक हैं यह कुछ व्रतोंका पालन करते हैं। फिर श्रावक प्रतिमाओंमें विशेष २ व्रतों जैसे सामायिक,

---

१–हिं॰ रा॰ ४ पृ॰ २७७–२८१ व ४२३–४२७।

प्रोषधोपवासादिके अनुसार उपरोक्त शेष भेद निर्दिष्ट हैं। अंतिम ग्यारहवीं प्रतिमावाले चेल खण्डधारी उत्कृष्ट श्रावक कहलाते हैं। इनके बाद यति हैं जो बिलकुल नग्न रहते और निर्जन स्थानोंमें ज्ञान ध्यानमई जीवन व्यतीत करते हैं; जैसे कि प्रस्तुत पुस्तकमें यथास्थान बता दिया गया है। यूनानी लोगोने जिन साधुओंका उल्लेख 'जैम्नोसोफिस्ट्स' (Gymnosophists) नामसे किया है, वह यही है। श्रावक इन यतियोंको उनकी आहारकी वेला-पर आहारदान देकर बड़ा पुण्य संचय करते हैं। अथर्ववेदमें जो गृहस्थके एक व्रात्यको पड़गाहने और उसके फल स्वरूप विविध लाभ पानेका वर्णन है वह बिलकुल जैन यतिको आहारदान देनेकी विधि और फलके विवरणके समान है। जैन तीर्थंकर ही सर्वोच्च यति हैं, जो मार्ग प्रभावना (धर्मोद्योत) करनेके लिये अद्वितीय हैं। इन तीर्थंकरोंकी भक्ति देव देवेन्द्र करते हैं। उनके पंचकल्याणक करने, समवशरण रचने आदिका वर्णन पाठक प्रस्तुत पुस्तकमें यथास्थान पढ़ेंगे। इन सब बातोंको ध्यानमें रखनेसे ही हम 'व्रात्यों' का यथार्थ भाव समझ सकें और उन्हें जैन ही पायेंगे; जैसे कि पहले ही हम प्रगट कर चुके हैं। 'व्रात्य' शब्द व्रतोको पालन करनेके कारण निर्दिष्ट हुआ है, यह पहले ही कहा जाचुका है। कोषकारोंका अभिमत भी यही है और 'प्रश्नोपनिषद' (२–११)के अग्निके प्रति 'व्रत्यस्त्वम्' उल्लेखसे भी यही प्रगट है। शंकर इसकी टीकामें कहते हैं कि 'वह स्वभावसे शुद्ध है।' (स्वभावतः एव शुद्ध इति अभिप्रायः) इससे केवल विनयभावको लेना ठीक नहीं; बल्कि इससे यह भी प्रगट है कि व्रात्य लोगोंमें ब्राह्मण, क्षत्री, वैश्य

द्विजोंके अतिरिक्त अन्य अनार्य लोग भी सम्मिलित हैं। जैसे कि जैनोंमें अलुक्तः थे। इनमें ब्राह्मण, क्षत्री, वैश्य इन तीन तरहके व्रात्योंका उल्लेख किया ही है। अब रहा कि व्रात्यगणका उद्देश्य वेदोंके विरुद्ध यह प्रचार करनेका था तो यह नितान्त आवश्यक है कि वे ऐसी भाषामें अपने सिद्धान्तोंको स्पष्ट करते जो सरल और जनप्रिय होती। सचमुच व्रात्योंकी भाषा जैनोंकी प्राकृत भाषाके समान ही थी क्योंकि उनके विषयमें कहा गया है कि— 'जो बोलनेमें सुगम है उसको वे कठिन बतलाते हैं।' (अदुरुक्तम् वाक्यम् दुरुक्तम् आहुः) इस उल्लेखसे साफ जाहिर है कि वे संस्कृत नहीं बोलते थे। अतएव इस सादृश्यसे भी 'व्रात्यों' का जैन होना सिद्ध है। मध्यकालमें भी जैन लोग 'व्रती' (Vertais) नामसे परिचित थे।*

'गरगिर' शब्द भी व्रात्योंको जैन सूचक है।

ब्राह्मण ग्रंथोंमें व्रात्योंका उल्लेख 'गरगिर' रूपमें भी हुआ है; जिसका अर्थ सायण उन लोगोंसे करता है जो विष भक्षण करते थे। ब्राह्मणके मूल श्लोकके साथ यह व्याख्या-वाक्य भी है कि "ब्रह्मदयं जन्यं अन्नुम अदंति।" सायण इसके अर्थ करता है कि "वे ब्राह्मणोंकि लिये खास तौरसे बनाये गये भोजनको खाते हैं।" लात्यायन सूत्रोंके टीकाकार अग्निस्वामी लिखते हैं कि "गरगिर व एते ए ब्रह्मधं जन्मंनम् अदंति।" सचमुच यहां कुछ गड़बड़

* सूरीश्वर और सम्राट्, पृ० ३९८–३९९ और डिस्क्रिपशन ऑफ एशिया पृ० ११५ व २१३।

घोटाला है। 'गरगिर' का अर्थ विषभक्षक अथवा विषाक्तभाषीके हो सके हैं। दोनों ही तरह यह शब्द उपहास सूचक है। सायणके अर्थ इस आधारपर अवलंबित हैं कि आगन्तुक रूपमें व्रात्य वह भोजन भी ग्रहण कर लेते हैं जो ब्राह्मणोंके लिये बना हो; अर्थात् उनकी दृष्टिसे जिसको (आहारदानको) ग्रहण करनेका अधिकार केवल ब्राह्मणों हीको था, इस दशामें व्रात्योंद्वारा अपने इस अधिकारका अपहरण होता देखकर ब्राह्मणोंने उपरोक्त शब्दका व्यवहार उनके लिए भर्त्सनामय आक्षेपमें किया है और यदि उक्त शब्दका अर्थ अग्निस्वामीके अनुसार माना जाय तो उसके अर्थ "विषाक्त भाषी" के होंगे, क्योंकि वे (व्रात्य) उस मंत्रका उच्चारण नहीं करेंगे जिसके प्रारम्भमें 'ब्रह्म' शब्द होगा। इससे प्रगट है कि व्रात्य ब्रह्मवादियोंके विरोधी थे और वे वैदिक मन्त्रोंका उच्चारण नहीं करते थे। यह दूसरे अर्थ ही समुचित प्रतीत होते हैं क्योंकि 'जिन' या 'अर्हन्त' को निर्दिष्ट करनेमें इसका बहु व्यवहार हुआ मिलता है। जिनसेनाचार्य अपने 'जिन सहस्रनाम'में निम्नशब्दोंका उल्लेख करते हैं:—"ग्रामपतिः, दिव्यभाषापतिः, वाग्मीः, वाचस्पतिः, वागीश्वरः, निरुक्तवाक्, प्रवक्तवचसामीसः, मंत्रवित्, मंत्रकृत् इत्यादि।" इन उल्लेखोंसे एक अन्य प्रकारके मंत्रोंका होना स्पष्ट है, जिनका सम्बंध वैदिक मंत्रोंसे सिवाय विपरीतताके और कुछ न था। सचमुच तीर्थ-करोंके द्वारा निर्दिष्ट हुए मंत्रोंका ही प्रयोग 'व्रात्यों' (जैनों) द्वारा होना उपयुक्त है; जो उनके लिये उतने ही प्रमाणीक थे जितने कि वैदिक मंत्र वेदानुयायियोंके लिए थे। अतएव उनका वेदमंत्रोंको उच्चारण न करना युक्तियुक्त और सुसंगत है और इस दशामें

उनका उल्लेख प्रतिपक्षियों द्वारा 'गरगिर' रूपमें होना भी ठीक है। इस विवेचनका सम्बंध ' अरुणमुख ' शब्दसे भी ठीक बैठता है; जिसका प्रयोग उन यतियोंके लिये हुआ था जो जैन थे, जैसे पहले कहा जाचुका है। इस कथनका समर्थन इन शब्दोसे भी होता है जो जैन भावको प्रगट करते हैं; यथाः—ऋषभ, आदिजिन, महाव्रतपतिः, महायतिः, महाव्रतः, यतीन्द्रः, दृढ़व्रतः, यतिः, अतीन्द्रः, इन्द्राचर्यः आदि। इनसे केवल यतियों और व्रतियोंका अस्तित्व ही जैन शास्त्रोंमें प्रगट नहीं होता, बल्कि इनसे यह भी प्रगट है कि इस धर्मके प्रभावके सामने इन्द्र सम्प्रदाय—वैदिक मतका ह्रास हुआ था। ' अदन्डयम् दन्डेण अनन्तश्चरंति ' अर्थात् ' वे उसको दण्ड देकर रहते जिसको दण्ड नहीं देना चाहिये।' इस उल्लेखसे प्रगट है कि व्रती पुरुष जहां रहते हैं वहां इन्द्र—यज्ञोंके विरुद्ध आज्ञायें निकालते हैं, क्योंकि उसमें हिंसा होती है। ऐतरेय ब्राह्मण एवं अन्य वैदिक साहित्यमें ऐसे बहुतसे उल्लेख हैं जिनमें विविध राजाओं द्वारा उनके राज्योंमें यज्ञोंके करने देनेका निषेध मौजूद है। सतपथ ब्राह्मण और वजसनेय संहितासे भी यही प्रगट है जिनमें कौशल—विदेह देशके पूर्वी आर्योंको मिथ्या धर्मानुयायी और वैदिक यज्ञोंका विरोधी लिखा है और यहां जैनधर्मका बहु प्रचार प्राचीनकालसे था।

पगड़ी, रथ, ज्यह्राद आदि शब्दोंकी

व्रात्योंके खास वस्त्र, पगड़ी, रथ आदि जो कहे गये हैं; वह एक साधारण और स्थानीय वर्णन है और उनका सम्बंध केवल ग्रहस्थ एवं गृहपति व्रात्यों (जैनों) से है। किन्तु

विवेचना । 'धनुष' (ज्यह्रोद) कुछ विशेष अर्थ रखता है ।[1] टीकाकारने उसे 'अयोग्यं धनुष' लिखा है । बहुधा वह धनुष प्रत्यंचा रहित अथवा नुमाइशी धनुष बताया गया है । इससे क्या मतलब सधता था, यह कहा नहीं गया है तो भी यह ठीक है कि धनुष शस्त्र रूपमें क्षत्रियोंका एक मुख्य चिन्ह है, परन्तु ऐसे निकम्मे धनुषको वह क्यों रखते थे ? इससे यही भाव समझ पड़ता है कि वह इन अहिंसा धर्मानुयायी क्षत्री पुरुषोंके लिये केवल उनके क्षत्रियत्वका बोधक एक चिन्ह मात्र था । यह तो स्पष्ट ही है कि उनके गुरुओंने उनसे अहिंसा-व्रत ग्रहण कराया होगा, उस समय उनके लिये अपने जातीय कर्मको त्याग कर ब्रह्मचारी होजाना और खाली हाथों रहना जरूर अखरा होगा । जिस तरह आजकल सिख लोग केवल नुमायशी ढंगपर 'किरपान' को रखते हैं, उसी तरह वह क्षत्री भी जो अहिंसाव्रतधारी थे, अपने हाथमें अपना कुलचिन्ह 'धनुष' प्रत्यंचा रहित

१—यह ध्यान रहे कि व्रात्य शब्द श्रावक और साधु दोनोंका सूचक उसी तरह है, जैसे बौद्धकालमें 'निर्ग्रन्थ', मध्यकालमें "आर्हत" और आजकल "जैन" शब्द हैं। तिसपर पगड़ी, रथ, धनुष, एक लाल कपडा पहननेका उल्लेख गृहपतिके सम्बन्धमें हुआ है। (J. R. A. S. 1921) इस कारण इन वस्तुओंका सम्बन्ध केवल 'हीन व्रात्यों' (श्रावकों)से समझना चाहिये। 'ज्येष्ठ व्रात्य' (साधु) तो बिलकुल दिगम्बर ही प्रगट किये गये है। जैसे कि हमने भी भगवान् पार्श्वनाथ एव उनके पूर्वके तीर्थंकरोको नग्न वेषधारी प्रगट किया है। सम्भव है कि अयोग्य धनुषको उनके हाथमें बतलाना उपहास सूचक हो। जैसे आजकल कोई लोग अहिंसाधर्मको राजनीतिका विरोधी बतलाते है।

रखते थे। यह उपरोल्लिखित प्रॉ० सा०का अनुमान है। इसके अतिरिक्त हीन, ज्येष्ट, गृहपति, अनुचनः, स्थिवरः, समनिचमेढ्रः, निंदितः आदि शब्द जो व्रात्योंके सम्बन्धमें व्यवहृत हुये हैं; इनका भी खुलासा कर देना आवश्यक है। हीन और ज्येष्ठसे तो भाव सम्भवतः अणुव्रतों और महाव्रतोंसे होगा और गृहपति गृहस्थ श्रावकोंका आचार्य या नेता होता है। इसे विशेष धनवान और विद्वान् बताया है। इस शब्दका प्रयोग जैन शास्त्रों, जैसे श्वे० उवासगदशाओंमे हुआ मिलता है। बाकीके तीन शब्दोंका व्यवहार ज्येष्ठ व्रात्योंके प्रति हुआ है। इनका अर्थ लगानेमें सब ही टीकाकार आंतिसे बच न सके हैं, यह बात प्रॉ० चक्रवर्ती सा० बतलाते हैं।

वह अगाड़ी कहते हैं कि 'अनुचन' का अर्थ तो हो टीका-
कारोंने ठीक लगाया है, जिसका मतलब
ज्येष्ठ व्रात्य दिगम्बर एक धर्मशास्त्र ज्ञाता विद्वान्से है। स्थ-
जैन मुनि थे। विर शब्द भी साफ है जिसके अर्थ
गुरुसे हैं और इसका व्यवहार जैनशा-
स्त्रोंमें खूब हुआ मिलता है। जैन गुरुओंकी शिष्य परम्परा 'स्थिविरावली' नामसे प्रख्यात है। जिन सहस्रनाममें भी इसका प्रयोग हुआ मिलता है। किन्तु वैदिक टीकाकारोंने इसे भी नहीं समझ पाया है, क्योंकि यह समनिचमेढ्र शब्दके साथ प्रयोजित हुआ है। इस शब्दका शब्दार्थ 'पुरुषलिंगसे रहित' होनेका है। टीकाकार भी यही कहते हैं, यथा'—"अपेतप्रजननाः।" भला व्रात्योंके लिये ऐसा घृणित वक्तव्य क्यों घोषित किया गया? सामान्यतः जो पुरुष सामाजिक रीतिके अनुसार सवस्त्र होगा, तो सचमुच उसके प्रति

कोई भी ऐसे शब्दोंका प्रयोग नहीं कर सक्ता है। इसलिए इन शब्दोंके प्रयोगसे उस पुरुषका भाव निकलता है जिसने सम्पूर्ण सांसारिक सम्बंधोंको त्याग दिया हो, जो ग्रहस्थ न हो और यति जीवनको पहुंच कर दिगम्बर साधु होगया हो। 'सम' शब्दके अग्र-प्रयोगसे लक्षित है कि वह कामवासनासे रहित है। अतएव यह वर्णन ठीक है और वह व्रात्यो अथवा व्रतीयोंमें ज्येष्ठ (मुनि)के पदके लिये आवश्यक है। सायण इस शब्दकी व्याख्या करते हुये 'समनिचमेद्रों' की एक प्राचीन सम्प्रदायका उल्लेख करते हैं, जो 'देव सम्बंधिन' थे और जिनके लिये एक खास व्रात्यस्तोत्र रचा गया था। इससे प्रगट है कि यह प्राचीन संप्रदाय थी और शुद्ध भी थी। शेप 'निंदित.' शब्दका व्यवहार व्रात्योमें सर्व निम्नभेदका द्योतक है। यह पहले ही कहा जाचुका है कि व्रात्यों (जैनो)में श्रद्धानी पुरुष सबसे नीची अवस्थामें होते हैं और उनमें अनार्य लोग भी दीक्षित कर लिये जाते हैं। सचमुच अव्रती श्रावकोंमें ऐसे सब ही तरहके श्रद्धानी लोग समिलित होते है। जैनशास्त्रोंमें इसके अनेक उदाहरण मिलते हैं। समाजसे बहिष्कृत और पातकी पुरुष भी पश्चात्ताप करने और आत्मोन्नतिके भाव प्रगट करनेपर जैनाचार्यों द्वारा धर्म मार्गपर लगा लिये जाते हैं। अतएव 'निंदित.' शब्दसे ऐसे पुरुषोंको भी व्रात्यों (वैदिक कालके जैनो)में निर्दिष्ट किया गया है; क्योंकि वे व्रती पुरुषोंके संसर्गमें रहते थे और उस समय सब प्रकारके जैनोंके लिये यही शब्द (व्रात्य) व्यवहृत होता था। इन्हीं निंदित पुरुषोंके कारण व्रात्य शब्दके ओछे भाव भी वैदिक शास्त्रोंमें प्रगट किये गये मिलते है।

अब 'अथर्ववेद' में जो व्रात्य उल्लेख हैं उनको ले लीजिये।

अथर्ववेद और जैनधर्म।

यह तो विदित ही है कि 'बहुत अर्से तक अथर्ववेद वेद ही नहीं माना जाता रहा है। इसकी वेद रूपमें मान्यता वैदिकमतके मेल मिलाप और पारस्परिक ऐक्य भावकी द्योतक है। सचमुच इसमें उस समयका जिक्र है कि जब आर्य लोग सामाजिक महत्ताको ढीली करके द्राविड़ साहित्य और सभ्यताकी ओर उदारतासे पग बढ़ा रहे थे। ऐसे समय स्वभावतः आर्योंके विविध मतोंमें परस्पर ऐक्य और मेलमिलापके भाव जागृत होना चाहिये थे। तिसपर व्रात्योंके बढते प्रभावको देखकर ऐसा होना जरूरी था। 'अथर्ववेद' अगरिस नामक ऋषिकी रचना बताई जाती है और जैनोंके 'पउमचरिय' में इन अंगरिसका जैन मुनिपदसे भ्रष्ट होकर अपने मतका प्रचार करना लिखा है। इस दशामें अथर्ववेदमें जैनधर्मके सम्बधमें जो बहुत कुछ बातें मिलती है वह कुछ अनोखी नहीं है। अथर्ववेदके १५वें स्कन्धमें यही भाव प्रदर्शित हैं। वहां एक महाव्रात्यकी गौरव गरिमाका बखान किया गया है। यह महाव्रात्य वेद लेखककी दृष्टिमें किसी खास स्थानका कोई क्षत्रिय व्रात्य था। व्रात्य (जैन) धर्मकी प्रधानताके समय समाजमें क्षत्रियोंका आसन ऊंचा होना स्वाभाविक है और सचमुच ईसासे पूर्व छठी, सातवीं शताब्दियों बल्कि इससे भी पहलेसे क्षत्रियोंकी प्रधानताके चिन्ह उस समयके भारतमें मिलते थे। उस समयका प्रधान धर्म, क्षत्रियधर्म (जैनधर्म) था, परन्तु इसके अर्थ यह भी नहीं हैं कि उसमें ब्राह्मणोंके लिये कोई स्थान ही न था। प्रत्युत भगवान्

महावीरजीके प्रधान और प्रमुख गणधर गौतमस्वामी ब्राह्मण ही थे। उपनिषदोंमें जो वर्णन है उससे भी प्रगट होता है कि काशी, कौशल, विदेहके ब्राह्मणोंने क्षत्रियोंकी प्रधानताको स्वीकार कर लिया था।

अथर्ववेदके महाव्रात्य श्री ऋषभदेव थे।

इसी प्रधान भावके कारण व्रात्योंमें मुख्य क्षत्रिय साधुका गुणगान करना प्राकृत सुसंगत होगया था। अथर्ववेदके १९वें स्कन्धमें जिस महाव्रात्यका गुणानुवाद वर्णित है, वह सिवाय वृषभ या ऋषभदेवके और नहीं हैं। उसमें जो वर्णन है वह जैनाचार्य जिनसेनके आदिपुराणमें वर्णित श्री ऋषभदेवके चारित्रके समान ही है। अवश्य ही आदिपुराण अथर्ववेदसे उपरांत कालकी रचना है, पर उसका आधार बहु प्राचीन है। अथर्ववेदमें पहले ही महाव्रात्य प्रजापतिको[1] अपनेको स्वर्णमय देखते लिखा है। वह 'एकम् महत ज्येष्ठ ब्रह्म तपः सत्यम्' आदि होगये। उनकी समानता वहां ईशम् और महादेवसे भी की गई है। जिन सहस्रनाममें भी वृषभदेवके ऐसे ही नाम मिलते हैं, जैसे; प्रजापति, महादेव, महेश, महेन्द्रवन्द्य, कनकप्रभ, स्वर्णवर्ण, हेमाभ, तप्तचामिकरच्छवि., निष्टप्तकनकच्छायाः, हिरण्यवर्ण, स्वर्णाभाः, सतकुम्भनिवप्रभाः। अथर्ववेदके इस प्रारम्भसे ही

१-यहा भी प्रजापातिको एक महाव्रात्य अर्थात् दि० जैन साधु बतलाया है, जो सम्भवत श्री ऋषभदेव ही थे। अतएव इस उल्लेखसे भी प्रजापति परमेष्ठिन्की वैदिक ऋचाओंसे हमारा जैन सम्बन्ध प्रगट करना ठीक है।

हमें वृषभदेवके दर्शन होजाते हैं, जो व्रतोंको सर्व प्रथम प्रगट कर-नेवाले थे, सर्व प्रथम तपश्चरणका अभ्यास और सत्यका उपदेश देनेवाले थे और जिन्होंकी वंदना देवदेवेन्द्रोंने की थी। जैन दृष्टिसे "तपश्चरणकी मुख्यता कायोत्सर्ग आसन द्वारा सर्दी गर्मी एवं अन्य कठिनाइयोंको सहते हुये ध्यानमग्न स्थित रहनेमें स्वीकृत है। वृषभदेव इसी आसनमें तपस्यालीन रहे थे। अनेक जैन मंदिरोंमें आज भी उनकी मूर्ति कायोत्सर्ग रूपमें मिलती है। तीर्थंकर भग-वानके लिए देव निर्मित समवशरणका जिक्र भी पहले होचुका है। अथर्ववेदमें अगाड़ी तीसरे प्रपतकमें वृषभदेवकी इस जीवन घटना अर्थात् कायोत्सर्ग तपस्या करने और फिर केवली हो देवों द्वारा रचे गये समोशरणमें बैठनेका भी उल्लेख है। उसमें लिखा है कि "वह एक वर्ष तक सीधे खडे रहे, देवोंने उनसे कहा, "व्रात्य, अब आप क्यों खडे है?".. उनने उत्तरमें कहा, "उनको मेरे लिये एक आसन लाने दो।" उस व्रात्यके लिये वे आसन लाये; उस आसनपर व्रात्य आरूढ होगए। उनके देवगण सेवक थे। इत्यादि इस व्रात्यके सम्बंधमें भी पगड़ी, धनुष और रथका उल्लेख है। इससे केवल महाव्रात्य प्रभुको एक क्षत्रियव्रात्य प्रगट करनेका ही भाव है। इसीलिए क्षत्री व्रात्योंके साधारण जीवन क्रियाओं-पगड़ी आदिका उल्लेख चिन्ह रूपमें कर दिया है। इन महाव्रात्यके सम्बंधमें अलौकिक बातोंका भी उल्लेख है। साराशतः इन महापुरु-षको गौरवविशिष्ट और वैदिक देवताओंसे भी उच्चतम प्रगट किया गया है। कितने ही वैदिक देवता इनके सेवक बताये गये हैं। यह महाव्रात्य सर्व दिशाओंमें विचरने और उनके पीछे देवोंको जाते

एवं दिक्पालोंको उनका सेवक होते भी बताया गया है। यह सब कथन एक जैन तीर्थंकरके जीवन कथनके बिल्कुल ही समान है; जिनकी भक्ति और सेवा देव-देवेन्द्र करते हैं। उनके समोशरणके साथ अनेक देव रहते और दिक्पाल विविध रीतिसे सेवा कार्य करते हैं। दशवें पर्ययमें व्रात्यके राजाओं और गृहस्थोंके पास जाने और भिक्षा पाने तथा ग्रहस्थ उनको कैसे पड़गावें इस सबका उल्लेख है। यह जैन यतियो और तीर्थंकरोंके सम्बन्धमें ठीक है; परन्तु तीर्थंकरों और सामान्य केवलियोंके लिये केवली पद पानेके बाद यह बातें संभवित नही होती। अथर्ववेदमें किसी नियमित रूपमें यह कथन नहीं है—बल्कि सामान्य रीतिसे अपनी सुविधानुसार उसका लेखक इन सब बातोंको निर्दिष्ट करता मालूम होता है। व्रात्यको आहारदान देनेके फलरूप पुण्य और सम्पत्तिको पाना भी बतलाया गया है और यह भी जैन दृष्टिके अनुकूल है। इन सब बातोंके देखनेसे यह बिल्कुल स्पष्ट है कि अथर्ववेदमें जिन महाव्रात्यका वर्णन है वह कोई जैन तीर्थंकर हैं और बहुत करके वह स्वयं भगवान ऋषभदेवजी ही हैं। अंगरिसने उनका चित्रण इस ढंगसे किया है कि वह वैदिक देवता प्रगट होने लगें। इस प्रकारके चित्रणसे उसका बड़ा लाभ यह था कि वह जैनधर्मके महत्त्वको कम कर सका था। मुसलमानोंके प्रकर्षके समय हिन्दू मतमें मूर्तिपूजाका खंडन इसी कारण हुआ था कि मुसलमानोंका प्रभाव हिन्दुओंपर न पड़े।

इस प्रकार इस कथनसे अब यह बिल्कुल प्रमाणित है कि

जैनधर्म वैदिक कालमें मौजूद था, जैसे

प्राचीनता प्रकट करनेकी हम पूर्व पृष्ठोंमें भी बतला आये हैं और

आवश्यकता। वह उस समय "व्रात्य" नामसे परिचित था। सिंध प्रान्तके मोहन जोडेरो नामक स्थानसे जो गत वर्षोंमें ई० पूर्व करीब तीन चार हजार वर्षोंकी चीजें मिली है, वे भारतीय असुर सभ्यताकी द्योतक मानी गई हैं। उनमें ऐसी मुद्रायें भी मिली हैं, जिनपर पद्मासन मूर्ति अंकित है। विद्वान् इन सिक्कोंको बौद्ध अनुमान करते हैं; किन्तु जब बौद्ध-धर्मकी उत्पत्ति ई० पूर्व छठी शताब्दिमें मानी जाती और बौद्धोंमें मूर्ति प्रथा ईस्वीसन्के प्रारम्भिक कालमें प्रचलित हुई कही जाती है, तब उक्त मुद्रा बौद्ध न होकर जैन होना चाहिये। उसका जैन होना अन्यथा भी सभवित है। 'विष्णुपुराण' से यह स्पष्ट ही है कि असुर लोगोंमें जैनधर्मका प्रचार होगया था। और उधर जैन शास्त्रोसे कलतक सिन्ध प्रान्तमें कई एक तीर्थ होनेका वर्णन मिलता है; जिनका आज पता तक नहीं है। अस्तु, उक्त मुद्राका जैन होना भी जैनधर्मके प्राचीन अस्तित्वका समर्थक है। अतएव भगवान पार्श्वनाथको जैनधर्मका 'संस्थापक मानना नितान्त भ्रान्ति-पूर्ण है, किन्तु संभव है कि यहांपर कोई पाठक महोदय जैन-धर्मकी प्राचीनताको प्रगट करनेवाले, हमारे अब तकके कथनको अनावश्यक खयाल करें और यह कहें कि किसी धर्मकी प्राचीनता उसकी अच्छाईमें कारणभूत नहीं होसक्ती। बेशक उनका कहना किसी हद तक ठीक है परन्तु हमारे उक्त प्रयासको अनावश्यक बताना हमारे प्रति तो अन्याय ही है परन्तु साथ ही उसके लिखे जानेके उद्देश्यसे अनभिज्ञताका द्योतक भी है।

आवश्यक्ता ही आविष्कारकी जननी मानी गई है। जैनधर्मके संबंधमें विद्वानोंके अयथार्थ उल्लेखोंने ही हमें बाध्य किया है कि इन जैनधर्मकी प्राचीनताको स्पष्ट करदें। साहित्यके लिये यह गौरवकी बात है कि वह नितान्त स्वच्छ, निर्भ्रान्त और यथार्थ हो। इस हेतु साहित्य हितके नाते भी हमारा यह प्रयास अनावश्यक नहीं है। तिसपर जैनधर्मकी यह बहु प्राचीनता उसके महत्वको बढ़ानेवाली ही है। बेशक उसके सिद्धांत और आचार विचार उसकी खूबी प्रगट करते ही हैं, परन्तु वह आर्योंका सर्व प्राचीनमत है, यह भी उसके लिये कुछ कम गौरव या महत्वकी बात नहीं है। अस्तु;

राजा विश्वसेन।

अब यह बिलकुल स्पष्ट है कि भगवान् पार्श्वनाथजी न तो जैनधर्मके संस्थापक थे और न वे कोई काल्पनिक पुरुष थे। प्रत्युत वे ईसासे पूर्व आठवीं शताब्दिमें हुये एक ऐतिहासिक महापुरुष थे। इस अवस्थामें इन अनुपम महापुरुषके गौरवमय जीवनचरित्रका दिग्दर्शन कर लेना समुचित और आवश्यक है। यह हम पहले ही बतला चुके है कि इन अनुपम तीर्थंकरका जीवन वृत्तांत जैन ग्रन्थोंमें मिलता है और यह क्षत्रिय राजकुमार थे। प्रस्तुत पुस्तकको पढ़नेसे पाठकोंको स्वयं मालूम होजायगा कि वे इक्ष्वाकुवंशी काश्यप गोत्री राजा विश्वसेन अथवा अश्वसेन और उनकी रानी ब्रह्मादेवीके सुपुत्र थे और उनका जन्म बनारसमें हुआ था। ब्राह्मण ग्रन्थोमें उपरोक्त नामका कोई राजा नहीं मिलता है। हां, अश्वसेन नामक एक नागवंशी राजाका पता ब्राह्मण साहित्यमें

चलता है।[1] परन्तु उसे बनारसके उपरोक्त राजा अश्वसेन स्वीकार कर लेना जरा कठिन है; क्योंकि वह नागवंशी हैं। इतनेपर भी जैन शास्त्रोंमें राजा अश्वसेनको उग्रवंशी बतलाना इस बातको सम्भव कर देता है कि वह नागवंशी हों, क्योंकि प्रस्तुत पुस्तकमें यथास्थान बता दिया गया है कि 'उग्र' का सम्बन्ध 'नागों' की 'उरग' नामक जातिसे प्रगट होता है। जो हो, ब्राह्मण ग्रन्थोंके अतिरिक्त बौद्धग्रन्थोंसे भी इसी नामके समान एक राजाका पता चलता है। दीघनिकायके परिशिष्टमें सात राजाओंका नामोल्लेख है और उन्हें 'भरत' कहा गया है।[2] इससे यह तो स्पष्ट ही है कि वह अयोध्याके राजा भरतके वंशज अर्थात् इक्ष्वाकुवंशी थे। इन राजाओंमें एक वस्सभू (विश्वभु) नामक भी है। इस नामकी सादृश्यता विश्वसेन है। किन्तु यह नहीं बताया गया है कि वह कहांके राजा थे अतएव सम्भव है कि यह बनारसके राजा विश्वसेन हों। सारांशत. भगवान पार्श्वनाथ और उनके पिताका अस्तित्व भारतीय साहित्यमें मिलता है।

भगवान पार्श्वनाथजी संबंधी साहित्य।

भगवान पार्श्वनाथके जीवन सम्बन्धमें रचे गए साहित्यपर यदि हम दृष्टि डालें, तो हमें कहना होगा कि वह आजकल भारतेतर साहित्यमें भी उपलब्ध है। अमेरिकाके बाल्टीमोर विश्वविद्यालयके संस्कृत प्रोफेसर श्री मारिस ब्लूमफील्डने श्री भावदेवसूरि कृत 'पार्श्वचरित' का

१–कैम्ब्रिज हिस्ट्री ऑफ इन्डिया भाग १ पृ० १५८।
२–पूर्व ग्रन्थ पृ० १७८।

अंग्रेजी अनुवाद अपनी विस्तृत भूमिका और टिप्पणियों सहित प्रकट किया है। यह "Life and Stories of Jaina Saviour Parshvanatha" नामसे सर्वत्र प्रचलित है। दूसरा उल्लेखनीय ग्रन्थ जर्मन भाषामें "Der Jainismus" नामक है। इसके रचयिता बरलिन विश्वविद्यालयके प्रख्यात विद्वान् प्रॉ० डॉ० हेल्मुथ वॉन ग्लासेनाप्प हैं। आपने जैनधर्मका परिचय लिखते हुये, भगवान पार्श्वनाथजीके जीवनपर भी प्रकाश डाला है। इनके अतिरिक्त विदेशोंमें प्रकट हुई जैनधर्म सम्बंधी पुस्तकोंमें इनका उल्लेख सामान्य रूपसे भले ही हो, पर विशेष रूपसे नहीं है। इधर भारतीय साहित्यमें भगवान् पार्श्वनाथजीके सम्बन्धमें दिगम्बर और श्वेताबर जैनोंके साहित्य ग्रन्थ हैं। श्वेताम्बर जैन अपने कल्पसूत्र आदि ग्रन्थोको मौर्यकालीन श्री भद्रबाहु स्वामीकी यथावत् रचना मानते हैं, परन्तु यह ठीक नहीं जंचता। प्रत्युत यह कहना पडेगा कि यह क्षमाश्रमणके समय या उनसे कुछ पहलेकी रचनायें हैं; जब कि यह लिपिबद्ध हुई थी। अस्तु; अबतक हमारे ज्ञानमें इस विषयके निम्न ग्रन्थ आये हैं:—

दिगम्बर सम्प्रदायके ग्रन्थ।

१. प्रथमानुयोग—५००० मध्यम पद (अर्धमागधी) महावीरस्वामी द्वारा प्रतिपादित (अप्राप्य)।

२. पार्श्वनाथचरित—श्री वादिराजसूरि प्रणीत (८६९ ई०) यह माणिकचन्द्र ग्रन्थमालामें मूल संस्कृत और जैन सि०प्र० संस्था कलकत्ता द्वारा हिन्दी अनुवाद सहित प्रकट हो चुका है।

३. पार्श्वनाथपुराण—श्रीसकलकीर्ति आचार्यकृत (सं० १४९५)

मूल संस्कृत और हिन्दी टीका स० । मुद्रित अप्राप्य है । प्रसिद्ध जैन भंडारोंमें ह० लि० मिलता है ।

४. पार्श्वनाथपुराण-(मूल सं०) भ० चन्द्रकीर्ति ग्रथित (सं० १६५४) ऐलक पन्नालाल सरस्वती भवन वंबई और जैन मंदिर इटावा आदिमें प्राप्त है ।

५. पार्श्वाभ्युदय काव्य-श्री जिनसेनाचार्य (६५८-६७२ ई०) मूल और संस्कृत टीका सहित वंबईसे मुद्रित होचुका है ।

६. उत्तरपुराण-श्री गुणभद्राचार्य (७४२ ई०) मूल संस्कृत और हिन्दी अनुवाद सहित इन्दौरसे प्रकट होचुका है ।

७. पार्श्वपुराण-(सं०) वादिचंद्र प्रणीत ऐलक पन्नालाल सरस्वती भवनकी चतुर्थ वार्षिक रिपोर्टके पृ० ९ (ग्रन्थसूची) पर इसका उल्लेख है । (सं० १६८३)

८. उत्तरपुराण-प्राकृत (अपभ्रंश) में श्री पुष्पदत कविद्वारा प्रणीत (९६५ ई०) ।

९. पार्श्वपुराण-प्रा० (अपभ्रंश) पद्मकीर्ति विरचित । समय अज्ञात । इसकी एक प्रति सं० १४७३ फाल्गुण वदी ९ वुद्धवारकी लिपि की हुई कारंजाके भंडारमें है ।

१०. पार्श्वनाथपुराण-छंदोवद्ध हिन्दी-कविवर भूधरदासजी कृत । (सं० १७८९) वंबईसे मुद्रित हुआ है ।

११. उत्तरपुराण-छंदोवद्ध हिन्दी कवि खुशालचदकृत । (सं० १७९९) ।

१२. पार्श्वजीवन कवित्त-(हिन्दी) अलीगंज (एटा) के जैन मंदिरके एक गुटकामें अपूर्ण लिखे हुए हैं ।

१३. भगवान पार्श्वनाथ–हिंदीमें मास्टर छोटेलाल द्वारा अनुवादित (मुद्रित)।

१४. हरिवंशपुराण–(हिन्दी) जिनसेनाचार्यके मूल ग्रन्थका हिंदी अनुवाद कलकत्तेकी जैन संस्था द्वारा प्रगट हुआ है। इसमें भी अन्य तीर्थंकरोंके साथ पार्श्वचरित लिखा हुआ है।

१५. पार्श्वनाथपुराण–कनडीमे पार्श्व पंडित ग्रथित (१२०५ ई०) आराके जैनसिद्धांत भवनकी ग्रन्थसूचीमें भी एक कनड़ी पार्श्वपुराणका उल्लेख है। मालूम नहीं कि वह यही पुराण है।

१६. पार्श्वनिर्वाण काव्य–(सं०) वादिराज कवि प्रणीत और चारुकीर्ति कृत टीका। (देखो दि० जैन ग्रन्थकर्त्ता और उनके ग्रन्थ पृ० ९ और २५)।

१७. चिंतामणि पार्श्वनाथकल्प-(सं०) धर्मघोषकृत (उपरोक्त ग्रन्थ पृ० १३)।

१८. पार्श्वनाथ भगवान–बंगला भाषामें श्रीयुत हरिसत्य भट्टाचार्य एम० ए० द्वारा 'जिनवाणी' पत्रिकामें प्रकाशित।

१९. तीर्थंकर चरित्रें–(मराठी) तात्या नेमिनाथ पांगलकृत।

२०. नागेंद्र कथा–पुण्याश्रव कथाकोष–ब्र० नेमिदत्त विरचित (सं०)।

२१. चामुण्डरायपुराण–श्री चामुण्डरायकृत (१० शताब्दि)

२२. लार्ड पार्श्वनाथ–अंग्रेजीमे मि० हरिसत्य भट्टाचार्य कृत। 'जैनमित्रमंडल, दिल्ली' द्वारा प्रकाशित।

श्वेताम्बर सम्प्रदायके ग्रन्थः—

१. कल्पसूत्र–श्रीभद्रबाहुप्रणीत (अर्धमागधी) (S. B. E.)

२. पार्श्वनाथचरित्र-(सं०) श्री उदयवीर गणि (सं० १५०२)

३. पार्श्वनाथचरित्र-(सं०) श्री माणिक्यचंद्र (सं० १२७६)

४. पार्श्वनाथकाव्य-(सं०) श्रीपद्मसुन्दरकृत।

५. पार्श्वनाथचरित्र-(सं०) श्रीभावदेवसुरि।

६. शत्रुञ्जयमाहात्म्य-(सं०)के पहलेके ९७ श्लोकोंमें।

७. उत्तराध्ययनसूत्र वृत्ति-(सं०) श्रीलक्ष्मीवल्लभकृत।

८. पार्श्वनाथचरित्र-(प्रा०) देवभद्रसूरि (सं० ११६८)—बीकानेर ग्रन्थ सूची (G. O S) पृ० ४७।

९. चतुर्विंशति जिनचरितम्-(सं०, अमरचद्रसूरि (पूर्व०पृ० ६९)

१०. मगसीपार्श्वनाथ—मानविजयकृत (ऐ० प० स० भवन, बम्बई)।

११. त्रिषष्टिशलाका पुरुष चरित्र—श्रीहेमचंद्राचार्यकृत।

इन ग्रन्थोंके अतिरिक्त दोनों संप्रदायोंमें भगवान पार्श्वनाथजीके सम्बंधमें अनेक स्तोत्र और पूजा ग्रन्थ भी प्रचलित हैं। इनमेंसे दिगम्बर संप्रदायके विशेष उल्लेखनीय स्तोत्र और पूजा ग्रन्थ निम्नप्रकार हैं.—

१. कल्याणमंदिरस्तोत्र-श्री कुमुदचंद्रकृत।

२. पार्श्वनाथस्तोत्रं—पद्मप्रभदेव विरचित।

३. चिंतामणिपार्श्वनाथस्तोत्र—प्राकृत भाषामें।

४. पार्श्वनाथस्तोत्र सटीक—पद्मनदीकृत।

५. पार्श्वनाथस्तोत्र-(सं०) विद्यानन्दीस्वामीकृत।

६. पार्श्वनाथ अष्टक—आराके सिद्धांत भवनकी सूचीमें है।

७. पार्श्वपूजा—श्रीवृन्दावनजी, मनरंगलालजी प्रभृतिकृत (हिंदी)

८. कलिकुण्ड पार्श्वनाथपूजा–संस्कृतमें हैं।

९. पार्श्वयज्ञ–देशभक्त पं० अर्जुनलालजी सेठी प्रणीत्।

श्वेतांबर संप्रदायके कतिपय स्तोत्र निम्नप्रकार हैं, किन्तु उनके कोई पूजा ग्रन्थ है यह विदित नहीं है:—

१. गौड़ी पार्श्वनाथ स्तवन-(सं०) ऐ० प० दि०जैन भवन सूची वर्ष १ पृ० ७९।

२. पार्श्वनाथस्तोत्रं–(सं०) पूर्व० वर्ष २ पृ० ५७.

३. पार्श्वस्तोत्रम्–(प्रा०) जैसलमेरकी सूची पृ० ६५।

उपरोक्त ग्रन्थोंके अतिरिक्त अलीगंज (एटा)के श्रीशांतिनाथ दि० जैन मंदिरके भण्डारमें एक गुटका सं० १६०८ भाद्र वदी १३का लिखा हुआ मौजूद है। उसमे भगवान पार्श्वनाथके विषयमें निम्नप्रकार ६२ बातें कहीं गई हैं:—

श्री पार्श्वनाथ जिन ६२ स्थान कथयंति:—

१. श्री पार्श्वनाथ नाम, २. प्राणत विमानात्, ३. नगरी वाणारसी, ४. पिता अश्वसेन राजा, ५. माता वाम्मादेवी, ६. गर्भ वैसाख वदी २, ७. जन्म पौष वदी ११, ८. नक्षत्र विशाखा, ९. शरीर हरितवर्ण, १०. उच्चत्त हस्त ९, ११. आव वरिष १००, १२. कुमारकाल ३०, १३. राज्यकाल॥०, १४. अधिक पूर्वांग॥०, १५. तप पौष वदी ११, १६. तपकाल वरिष ७०, १७. हीन पूर्वांग॥०, १८. छद्मस्थ मास ४, १९. केवल चैत्र वदी ४, २०. केवल वेला पूर्वान्हे, २१. केवलकाल पूर्वांणि, २२. पूर्वांगानि॥०, २३. वरिष ६९, २४. मास ८, २५. दिन॥०, २६. समवशरण जो० १, २७. गणधर १०, २८. सर्वसंघ १६०००, २९.

पूर्वधर ३५०, ३०. सिष्य १०९०० ३१. अवधिज्ञानी १४४, ३२. केवलज्ञानी १०००, ३३. मन:पर्यय ज्ञानी ७५०, ३४. वैक्रियक १०००, ३५. वादिन् ६००, ३६. उग्रवंश, ३७. राजा सहतप, ३००, ३८. राजा सहमोक्ष ३६, ३९. सिद्धषेत्र सम्मेदगिरि, ४०. लांछन धरणेन्द्र, ४१. जिनांतर वर्ष २५०, ४२. हीन ॥०, ४३. अनुबंधकेवली ३, ४४, संततकेवली ॥३, ४५. अर्जिका ३८०००, ४६. श्रावक १०००००, ४७. श्राविका ३०००००, ४८. जतीसिद्धगति ६२००, ४९. अनुत्तरगत ८८००, ५०. सौधर्म अनुत्तरगत १०००, ५१. वृक्षनाम धवलसर, ५२. वृक्षउच्च ध० १०८, ५३. पारणादिन ३ पाष, ५४. नगरी द्वारावहपुरी, ५५. दानपति धनदत्त, ५६. चरु गोषीरं, ५७. रत्नवृष्टि ५८. जक्ष धरणेंद्र, ५९. जक्षणी पद्मावती, ६०. मोक्ष श्रावण शु० ७, ६१. मोक्षासन बैठो, ६२. योगध्यान मास १ ।"

इस प्रकारका यह साहित्य है जिसमें भगवान पार्श्वनाथजीकी जीवन घटनायें संकलित हैं। इन एवं अन्य श्रोतोके आधारसे ही हमने भी प्रस्तुत ग्रंथकी रचना की है। इस साहाय्यके लिये हम इन सब ग्रन्थकारोंके अतीव कृतज्ञ हैं। किंतु यहांपर यह देख लेना भी समुचित है कि क्या इन सब ग्रन्थोंमें एक समान ही कथन है अथवा उसमें कुछ अंतर भी है। यह तो मानना पड़ेगा कि भगवानका जीवन चरित्र एक ही रूपका रहा होगा। उनके जीवनकी एक ही घटना

चरित्र ग्रंथोंमें परस्पर अन्तर क्यों है ?

दूसरे रूपमें मिल नही सक्ती। और इसलिये उनके जीवनचरित्र सम्बन्धमें जो भी ग्रंथ उपलब्ध हों, उनमें कोई भी अन्तर नहीं होना चाहिए। किंतु बात दरअसल यूं नहीं है। इन सारे ग्रन्थोंमें एक दूसरेसे विभिन्नता मौजूद है। और यह विभिन्नता केवल रचनाभेदकी नही है, प्रत्युत जीवन घटनाओंकी है। दिगंबर और श्वेतांबर सम्प्रदायके ग्रन्थोंमे आम्नाय भेदके अनुकूल विपरीतता रहना प्राकृत सुसंगत है; परन्तु स्वयं दिगंबर संप्रदायके ग्रन्थोंमें भी न्यून रूपमें यही बात देखनेको मिलती है। बेशक उनमें जीवन घटनाओंमें अन्तर नही है; परन्तु विवरणमें है। लेकिन प्रश्न यह है ऐसा क्यो है ? इसके उत्तरमें हम स्वयं कुछ न कहकर प्रसिद्ध विद्वान् स्व० पं० टोडरमलजीके निम्न शब्दोंको उद्धृत कर देना पर्याप्त समझते हैं–

"ऐसे विरोध लिये कथन कालदोषसे भये हैं। इस काल विषैं प्रत्यक्षज्ञानी व बहुश्रुतीनिका तो अभाव भया और स्तोकबुद्धि ग्रन्थ करनेके अधिकारी भये, तिनको भ्रमसे कोई अर्थ अन्यथा भासा तिसको तैसा लिखा अथवा इस काल विषै कई जैनमत विषैं भी कषायी भये हैं। कोई कारण पाय अन्यथा कथन उन्होंने मिलाये हैं। इसलिये जैनशास्त्रोंके विषै विरोध भासने लगा। सो जहा विरोध भासे तहां इतना करना कि इस कथनवाला बहुत प्रामाणिक है या इस कथनवाला बहुत प्रामाणिक है ऐसा विचार कर बड़े आचार्यादिकनिकरि कहा कथन प्रमाण करना। इत्यादि"

–मोक्षमार्ग प्रकाशक अधि० ८।

अतएव काल महाराजकी कृपासे प्रत्येक ग्रंथकारने जिस

दिगम्बर शास्त्रोंमें सामान्य अन्तर है।

आधारसे जो बात ठीक समझी, उसको प्रगट कर दी। उनके लिये और कोई उपाय शेष न था। यह हम भी पहले स्वीकार कर चुके हैं कि आजकलके अल्पज्ञ मानवोंके लिये यह संभव नहीं है कि वह पुरातनकालमें हुये महापुरुषोंके जीवनचरित्र यथाविधि ठीक लिख सकें। जो कुछ उपलब्ध साहित्य और अनुमान प्रमाणसे उचित प्रतीत होगा वह उसीको लिख देंगे। किन्तु इसके यह भी अर्थ नहीं है कि जिनवाणी पूर्वापर विरोधित है। यह किसी तरह भी संभव नहीं है। जैन सिद्धान्त अथवा दर्शन ग्रंथ बड़ी होशियारीके साथ सम्मालकर रक्खे गये हैं। यही कारण है कि उनमें किंचित भी अन्तर नहीं पड़ा है। जो जैन सिद्धान्त भगवान महावीरजीके समय एवं उनसे पहले जैनधर्ममें स्वीकृत थे, वही आज भी जैनधर्ममें मौजूद हैं। यह हमारा कोरा कथन ही नहीं है, प्रत्युत जैनग्रंथोंका आभ्यन्तर स्वरूप और बौद्धादि ग्रन्थोंकी साक्षी इसमें प्रमाणभूत है। इसके लिये हमारा "भगवान महावीर और म० बुद्ध" नामक ग्रंथ देखना चाहिये। अस्तु, जैनसिद्धान्तके अक्षुण्ण रहते हुये भी, यद्यपि उसमें भी विकृति लानेके प्रयत्न हुये थे जिसके फलस्वरूप श्वेताम्बरादि आम्नाय निर्ग्रन्थ संघमें भी मौजूद हैं, जैनपुराण ग्रंथोंमें भेद मौजूद है। यह क्यों और कैसे है यह ऊपर बताया ही जाचुका है। अतएव यहांपर हम पहिले दि० जैन संप्रदायके 'पार्श्वचरितों' में परस्पर भेदको देखनेका प्रयत्न करेंगे। सचमुच यह प्रभेद कुछ विशेष नहीं है। इससे भगवानके जीवनचरित्रमें कुछ भी अन्तर नहीं पड़ता है यह सामान्य

है औ उपेक्षा करने योग्य है। किन्तु इसपर भी उसको प्रगट कर देना साहित्यिक स्पष्टताके लिये आवश्यक है। अतएव उस ओर दृष्टि डालनेपर हमें पहले ही भगवान् पार्श्वनाथजीके प्रथम भवांतर वर्णनमें अन्तर मिलता है। श्री गुणभद्राचार्य, सकलकीर्ति, चंद्रकीर्ति, (१।११९–११७) और भूधरदास (१–१०२) कृत ग्रन्थोंमें कमठके भाई मरुभूतिको उसकी खबर किसी राह चलते भीलसे पानेका जिक्र नहीं है; परन्तु वादिराजसूरिजीके ग्रन्थमें (सर्ग २ श्लो० ६३–६४) यह विशेषता है। श्री जिनसेनजीके 'पार्श्वाभ्युदय काव्य' में पूर्वभवोंका उल्लेख वर्तमान रूपमें है। अगाड़ी अरविंदराजाके मुनि समागमका उल्लेख प्रायः सबमें मिलता है; परंतु वादिराजसूरजीके ग्रन्थमें उन मुनिराजका नाम 'स्वयंप्रभ' और उनके आगमनकी सूचना मालीद्वारा राजापर पहुंचानेका विशेष उल्लेख है। (स० २ श्लो० १०२) मरुभूतिकी मृत्यु उपरांत सल्ल-कीवनमें हाथी उत्पन्न होनेका उल्लेख भी सबमें हैं; किंतु वादि-राजसूरिजीके ग्रथमें यहां भी विशेष रूपमें उस हाथीके माता पिताका नाम वर्नरी और पृथ्वीघोष लिखा है (स० १ श्लो० ३८–३९) फर राजा अरविंदके मुनि होजानेपर, उन्हें एकदा वैश्यसंघके साथ तीर्थोंको वन्दना निमित्त जाते हुये और सल्लकी वनमें शशगुप्त आदि श्रावकोंको उपदेश देते, इस ग्रन्थमें लिखा है। (स० ३ श्लो० ६१–६९) किन्तु सकलकीर्तिजी (२।१६–१७), गुणभद्राचार्यजो (७३।१४) चंद्रकीर्तिजी (२४।२) के ग्रन्थोंमें उन्हें संघ सहित श्री सम्मेदशिखरजीकी यात्राके लिये जाते लिखा है। उत्तरपुराण (७३।२४), सकलकीर्तिजीके पार्श्व-

चरित (२।९३) में वज्रघोष गजराजको सहस्रार स्वर्गमें स्वयंप्रभ देव होते लिखा है, किंतु वादिराजसूरिने उसे महाशुक्र स्वर्गमें शशिप्रभदेव लिखा है। (३।१०८) इन्होने लोकोत्तमपुरके राजाका नाम विद्युद्वेग और उसके पुत्रका नाम रश्मिवेग लिखा है (४।२७); परंतु उत्तरपुराण (७३।२४-२५), सकलकीर्तिजी (२।१०), चंद्रकीर्तिजी (३।११०) और भूधरदासजी (२।६९-७१)ने राजाका नाम विद्युतगति और पुत्रका नाम अग्निवेग बताया है। चन्द्रकीर्तिजीने पिताकी आज्ञानुसार अग्निवेगका किसी विद्याधरसे संग्रामकरनेका भी उल्लेख किया है। (५।४) वादिराजसूरिजीने विजया रानीके सबको विजय करनेवाला दोहला होने लिखा है। (४।१२-१४) उत्तरपुराणमें न दोहला है और न स्वप्नोंका जिक्र है (७३।३१-३२)। किन्तु शेष सबमें स्वप्न देखनेका उल्लेख है। वादिराजजीके ग्रन्थमें वज्रनाभि चक्रवर्तीको सूखा वृक्ष देखकर विरक्त होते और क्षेमकर मुनिके पास जाने लिखा है (८।७२-७३) किन्तु उत्तरपुराण (७३-३४), सकलकीर्तिजी (५।३), चन्द्रकीर्तिजी (५।२-४) और भूधरदासजी (३।७४)ने उनको क्षेमकर मुनिका उपदेश सुनकर विरक्त होते बताया है। अगाडी सकलकीर्तिजी (५।९४), चंद्रकीर्तिजी (५।८८-९०) और भूधरदासजीने (३।१०७) वज्रनाभि मुनिको वनमें रहते हुये कुरङ्ग भील द्वारा उपसर्गान्वित होते लिखा है। परन्तु पार्श्वचरित (८,८०)में वनके स्थानपर विपुलाचल पर्वत बताया है और उत्तरपुराणमें (७३।३८) वन और पर्वत किसीका भी उल्लेख नहीं है। अगाडी वादिराजसुरिजी राजा आनंदको जिनयज्ञ (जिनेन्द्र पूजा) करते और मुनि आगमन हुआ वतलाते हैं।

(९।१-३) उनने मंत्रीकी प्रेरणाका उल्लेख नहीं किया है और न मुनिवरका नाम बताया है। किन्तु उत्तरपुराण (७३।४४-४५), सकलकीर्तिजी (७।३९-४१), चंद्रकीर्ति (६।४५-५०) और भूधरदासजी (४।१८-२४)ने स्वामिहित मंत्रीकी प्रेरणासे आनंद राजाको जिनयज्ञ रचते और विपुलमती मुनिराजको आते लिखा है। उत्तरपुराण (७३।५८-६०) सकलकीर्ति और भूधरदासजी (४।६०) ने राजा आनंदके समयसे सूर्य पूजाका प्रचार हुआ लिखा है। किंतु वादिराजसूरिजीके ग्रन्थमें (स० ९) और चंद्रकीर्तिजीके चरित (६।८१-८८)में ऐसा कोई उल्लेख नहीं है। वादिराजजीने राजा आनदको सफेद बाल देखकर निधिगुप्त मुनिराजके समीप दीक्षा लेते लिखा है। (९।३४-३८) किंतु चंद्रकीर्तिजीने यद्यपि सफेद बाल देखनेकी बात लिखी है। परन्तु मुनिका नाम सागरदत्त लिखा है। (६।९२ व १२४) और सकलकीर्तिजीने मुनिका नाम समुद्रदत्त बतलाया है (८।२६), यही नाम उत्तरपुराणमें भी है। (७३।६१) भूधरदासजीने सागरदत्त लिखा है। नाम अगाड़ी वादिराजसूरिजीने भगवानके पिताका नाम विश्वसेन (९।६५) और माता ब्रह्मदत्ता (९।७८) बताई है, परन्तु उनने इनके कुल-वंशका उल्लेख नही किया है। उत्तरपुराणमें राजा-रानीका नाम क्रमशः विश्वसेन और ब्रह्मादेवी (७३।७४) लिखा है, तथा इनका वंश उग्र (७३।९५) और गोत्र काश्यप (७३।७४) बताया है। सकलकीर्तिजी, चंद्रकीर्तिजी और भूधरदासजीने काश्यपगोत्र और वंश इक्ष्वाकु लिखा है। परन्तु भूधरदासजीके अतिरिक्त उनने राजाका नाम विश्वसेन बताया है। भूधरदासजी उन्हें अश्वसेन

बतलाते है। (९।६९) हरिवंशपुराणमें भी यही नाम है (प्र०९६७)। सकलकीर्तिजी रानीका नाम ब्राह्मी (१०।४१) और चंद्रकीर्तिजी ब्रह्मा (८।९१) बतलाते हैं। किंतु हरिवंशपुराणमें उनका नाम वर्मा लिखा है। (प्र० ९६७) भूधरदासजी उन्हें वामादेवीके नामसे लिखते हैं। (९।७१) पार्श्वभ्युदय काव्यमें उनका उग्रवंश लिखा है (श्लो० २) किन्तु आदिपुराण (अ १६)में आदिवंश इक्ष्वाकुसे ही शेष वंशोंकी उत्पत्ति लिखी है। शायद इसी कारण भगवानको किन्हीं आचार्योंने उग्रवंशी और किन्हींने इक्ष्वाकुवंशी लिखा है। वादिराजसूरिजीने भगवानकी गर्भ तिथि नहीं लिखी है। शेष सब ग्रंथोंमें वैशाख कृष्ण द्वितीया विशाखा नक्षत्र (निशात्यये) लिखी हुई है। वादिराजसूरिजी जन्मादि किसी भी तिथिका उल्लेख नहीं करते हैं, किन्तु और सब ग्रंथ उनका उल्लेख करते हैं। वादिराजसूरिजी 'भगवानने आठ वर्षकी अवस्थामें अणुव्रत धारण किये थे' इसका भी उल्लेख नहीं करते है। उत्तरपुराण और हरिवंशपुराणमें भी यह उल्लेख नहीं है। वादिराजजीने भगवानके पिता द्वारा उनसे विवाह करनेके लिये अनुरोध किया था, उसका उल्लेख महीपाल साधुसे मिलनेका बाद किया है और उससे ही उन्हें वैराग्यकी प्राप्ति होते लिखी है (११।१-१४) परन्तु उसमें अयोध्याके राजा जयसेन द्वारा भेट भेजनेका जिक्र नहीं है। उत्तरपुराणमें (७३ १२०) जयसेनका उल्लेख है। परन्तु उसमें भी राजा विश्वसेनका भगवानसे विवाह करनेके लिए कहनेका जिकर नही है। शेष हरिवंशपुराणको छोड़कर सब ग्रन्थोमें यह उल्लेख है। वादिराजसूरिके चरित्रमें ज्योतिषीदेवका नाम भूतानद और शेष

ग्रंथोंमें संवर है। इस ग्रंथमें भगवानके दीक्षावृक्षका भी नाम नही लिखा हुआ है। हरिवंशपुराणमें उसका नाम धव है। (पृ० ९६७) सकलकीर्तिजी और भूधरदासजीने उसे बडका पेड बतलाया है। उत्तरपुराण और चन्द्रकीर्ति कृत चरित्रमें केवल शिलाका उल्लेख है। (चंद्रकांत शिलातले)। हरिवंशमें दीक्षावन अश्वत्थनके स्थानपर मनोरम वन है। तीनसौ राजाओके साथ दीक्षित होना भी वादिराजजी और गुणभद्राचार्यजीने नही लिखा है। शेष सबने लिखा है। जिनसेनाचार्यने उनकी संख्या ६०६ बताई है (८७९—७६) पार्श्वभगवान पारणाके लिए गुल्मखेटपुरमें गए थे, यह बात उत्तरपुराण (७३।१३२) वादिराजसूरिचरित (११।४९) सकलकीर्तिपुराण, चंद्रकीर्तिचरित् (१२।१०) और भूधरदासजी (८।३) ने स्वीकार की है, किन्तु हरिवंशपुराणमें यह काम्याकृतनगर बताया गया है (पृ० ९६९) दातारका नाम सकलकीर्तिजी और भूधरदासजीने ब्रह्मदत्त लिखा है, परन्तु वादिराजजीने धर्मोदय (११।४), और गुणभद्राचार्यने (७३।१३३), जिनसेनाचार्य (पृ० ९६९) और चंद्रकीर्तिजी (१२।१३) ने धन्य राजा लिखा है। केवलज्ञानकी तिथि अन्य ग्रन्थोंमें चैत्र कृष्णा चतुर्दशी लिखी है; परन्तु हरिवंशपुराणमें चैत्र वदी चौथको दोपहरके पहले केवलज्ञान हुआ लिखा है। (पृ० ९६९) उत्तरपुराण सकलकीर्तिकृत पुराण, चन्द्रकीर्तिकृत चरित और भूधरदास ग्रथितपुराणमें १६००० साधुओंकी संख्या इस तरह बताई हैं:—

(१) दश गणधर, (२) ३५० पूर्वधारी, (३) १०९०० शिक्षक साधु, (४) १४०० अवधिज्ञानी, (५) १००० केवलज्ञानी,

(६) १००० विक्रियाधारी, (७) ७५० मनःपर्ययज्ञानी, (८) ६०० वादी।

हरिवंशपुराणमें इनकी संख्या निम्न प्रकार लिखी है और वादिराजसूरिने लिखी नहीं हैः—

(१) १० गणधर, (२) ३५० वादी, (३) १०९०० शिक्षक, ४ १४०० अवधिज्ञानी, (५) १००० केवलज्ञानी, (६) १००० विक्रियाधारी, (७) ७५० विपुलमती (८) ६०० वादी। हरिवंशपुराणमें आर्यिका ३८०००, श्रावक एक लाख और तीन लाख श्राविकायें लिखी हैं। उत्तरपुराण, सकलकीर्तिकृत पुराण, चन्द्रकीर्तिकृत चरित और भूधरदासजी प्रणीत पुराणमें श्रावक और श्राविकाओंकी संख्या हरिवंशपुराणके समान लिखी हैं; परन्तु आर्यिकाओंकी संख्या भूधरदासजीके अतिरिक्त सबने ३६००० लिखी है। भूधरदासजीने २६००० बतलाई है। उत्तरपुराण, सकलकीर्ति, चन्द्रकीर्ति और भूधरदासजीके ग्रन्थोंमें भगवानको मोक्ष लाभ प्रतिमायोगसे प्रातःकाल हुआ लिखा है; किन्तु हरिवंशपुराणमें कायोत्सर्गरूपसे सायंकालको हुआ बतलाया है। भूधरदासजी ३६ मुनीश्वरोंके साथ मोक्ष गये बतलाते हैं; जिनसेनाचार्य इनकी संख्या ५३६ लिखते हैं। हरिवंशपुराणमें भगवानके कुल ६०२०० शिष्योंको मोक्ष गया लिखा है और उनके बाद तीन केवलज्ञानियोंका होना बतलाया है। इस तरहपर संक्षेपमें दिगम्बर ग्रन्थोंका परस्पर भेद निर्दिष्ट किया गया है। यह विशेष नहीं है। साधारण है और इसलिए कुछ भी नहीं है। श्वेतांबर संप्रदायके ग्रंथोंके समान वह नहीं है। श्वेतांबर सम्प्रदायके ग्रंथोंमें परस्पर एक दूस-

ऐसे बहुत विरोध है। जो बातें उनके प्राचीन ग्रंथोंमें नहीं हैं, वह अर्वाचीन ग्रन्थोंमें हैं। किन्तु दिगम्बर शास्त्रोंमें ऐसी बात नहीं है। उनमें प्राचीन घटनाक्रममें किंचित भी भेद नहीं मिलता है। श्वे॰ ग्रथोंमें सर्व प्राचीन कल्पसूत्र हैं; और उसमें भगवानके विवाह करनेका उल्लेख बिलकुल नहीं है, परन्तु किन्हीं दिगम्बर जैन शास्त्रोंसे भी उपरांतके रचे हुए श्वे॰ शास्त्रोंमें भगवानके विवाह करनेका उल्लेख है। यह संभवतः श्वे॰ दि॰ के पारस्परिक सांप्रदायिक विद्वेषके परिणाम स्वरूप है। अस्तु; जो हो यहांपर श्वेतांबरोंके ग्रन्थोंमें जो परस्पर भेद है उसको भी प्रगट कर देना अनुचित न होगा।

श्वेताम्बर शास्त्रोंमें परस्पर विशेष अन्तर है।

कल्पसूत्रमें (१४९–१६९) विवाहके अतिरिक्त भगवानके पूर्वभवोंका भी उल्लेख नहीं है। उसमें कमठ और नागराज 'धरण' (धरणेन्द्र) का भी जिकर कहीं नहीं है। शेष माता पिता, जन्म, नगर, आयु आदिमें अन्य चरित्रोंमें समानता है। किन्तु भावदेवसूरिजीके चरित्र और कल्पसूत्रमें जो उनके शिष्योंका वर्णन दिया है, उसमें विशेष अन्तर है। कल्पसूत्रमें आठ गण और आठ गणधर– (१) आर्यघोष, (२) शुभ, (३) वशिष्ठ, (४) ब्रह्मचारिण, (५) सौम्य, (६) श्रीधर, (७) वीरभद्र, (८) और यशस लिखे हैं। भावदेवसूरिने दश गणधर–(१) आर्यदत्त, (२) आर्यघोष, (३) वशिष्ठ, (४) ब्रह्मनामक, (५) सोम, (६) श्रीधर, (७) वारिषेण, (८) भद्रयशस, (९) जय, (१०) और विजय बताये हैं। (६।

१३५०-१३६०) कल्पसूत्रमें आर्यदत्तकी संरक्षतामें १६०००
श्रमण, पुष्पकला आर्यिकाकी प्रमुखतामें ३८००० आर्यिकायें.
१६४००० श्रावक और ३२७००० श्राविकायें बतलाये हैं।
भावदेवसूरिके ग्रन्थमें यह सख्या इस रूपमें देखनेको नहीं मिली
है। शत्रुंजय माहात्म्य (१४।१-९७)में भी पूर्वभवोंका वर्णन नहीं
है। उसमें प्राणतकल्पसे भगवानका चरित्र प्रारम्भ किया गया है।
इसमें कमठकी शत्रुताका उल्लेख संक्षेपमें है। (१४-४२,दशभवागतः
कठासुर), विवाहका उल्लेख इसमें भी है, परन्तु इसमे पार्श्वनाथजीकी
पत्नी प्रभावतीको प्रसेनजितके स्थानपर नरवर्मनकी पुत्री लिखा है।
प्रसेनजित नरवर्मनका पुत्र है। भावदेवसूरिजीने प्रभावतीको प्रसेनजि-
तकी पुत्री लिखा है (५।१४२ .), किन्तु बौद्धादि ग्रन्थोंसे प्रगट
है कि प्रसेनजित म० बुद्धके समकालीन थे।[1] इस अवस्थामें न वह
और न उनके पिता भगवान पार्श्वनाथजीके समयमें पहुंच सक्ते है। इस
कारण उनका यह कथन निःसार प्रतीत होता है कि भगवान पार्श्व-
नाथजीका विवाह हुआ था। उनके कल्पसूत्रादि प्राचीन ग्रंथोंमें
इसका कोई उल्लेख नहीं है, यह हम पहले ही कह चुके हैं। किंतु
इनके उपरान्तके ग्रन्थोंमें पूर्वभव वर्णन आदिके विशेष उल्लेख संभ-
वतः दिगम्बर सम्प्रदायके ग्रन्थोंके आधारपर इस ढंगसे लिखे गए
होंगे कि वह स्वतंत्र और यथार्थ प्रतीत हो। अतएव निम्नमें दि०
और श्वे० ग्रन्थोमें जो परस्पर भेद है उसको देख लेना भी आव-
श्यक है।

श्वे०के भावदेवसूरिकृत पार्श्वचरितसे ही हम इस प्रभेदका

१-क्षत्रिय क्लेन्स इन बुद्धिस्ट इन्डिया, पृ० १२८-१२९।

दिगंबर और श्वेतांबर शास्त्रोंमें परस्पर भेद।

निरीक्षण करते हैं। पहले मरुभूतिभवमें विश्वभूतिके साधु हो स्वर्गवासी होनेपर कमठ और मरुभूतिको विशेष शोक करते और हरिश्चंद्र नामक साधुसे प्रतिबोधित होनेका जो उल्लेख भावदेवसूरिने किया है वह दिगम्बर शास्त्रोंमें नहीं है। फिर उनने मरुभूतिकी स्त्री वसुन्धराको कामसे जर्जरित और कमठके साथ उसके गुप्त प्रेमको मरुभूति भेष बदलकर जान लेने तथा राजासे उसे दंडित कराने इत्यादिक बातें कही हैं वह भी दिगंबर शास्त्रोंमें नहीं हैं। दिगम्बरशास्त्रोंमें वसुन्धरा पहले शीलवान् ही बतलाई गई है और मरुभूतिको भ्रातृप्रेममें संलग्न तथा राजाका कमठके अन्यायके लिए उसे दंड देनेपर मरुभूतिका उसे क्षमा करने आदिकी प्रार्थना करते बतलाया गया है। दि० शास्त्रमें राजा अरिविन्द और मरुभूतिक एक सग्रामपर जानेका विशेष उल्लेख है। राजा अरिविन्दके मुनि हो जानेपर श्वेतांबराचार्य उन्हें सागरदत्त श्रेष्टी आदिको जैनधर्मी बनाते और उनके साथ जाते हुये हाथीका उनपर आक्रमण करते लिखते हैं; परन्तु दि० शास्त्र तीर्थयात्रापर जानेका उल्लेख करते हैं। दिगम्बर शास्त्र अग्निवेगका जन्म स्थान पुष्कलावती देशका लोकोत्तरपुर नगर और उसकी माताका नाम विद्युत्माला बतलाते हैं, परन्तु श्वे० शास्त्रमें तिलकानगर और तिलकावती अथवा कनकतिलका माता बताई गई है। इनमें अग्निवेगका नाम किरणवेग है। वह अपने पुत्र हिमगिरिको राज्य दे मुनि हुआ दि० शास्त्र बताते हैं। श्वे० कहते हैं कि उसके पुत्रका नाम किरणतेजस था और वह मुनि हो वैताढ्यपर्वतपर एक मूर्तिके सहारे

तपस्या करता रहा। श्वेतांबराचार्य अगाडी वज्रनाभिको जन्मसे मिथ्यात्वी और साधु लोकचंद्र द्वारा सम्यक्त्वी लाभ करते बतलाते हैं। वह उसके पुत्रका नाम शक्रायुध कहते हैं। दिगम्बर शास्त्र उनको जन्मसे जैनी बतलाते और उनके पुत्रका नामोल्लेख नहीं करते हैं। वज्रनाभिका जन्मस्थान श्वेतांबर शुभंकरा नगरी बतलाते और उनकी माताका नाम लक्ष्मीवती और स्त्री विजया बताते हैं। दि० शास्त्रोंमें जन्मस्थान अपरविदेहके पद्मदेशका अश्वपुर और उनकी माता व पत्नीके नाम क्रमश विजया और शुभद्रा प्रगट करते हैं। श्वेताम्बर शास्त्र कुरगक भीलको ज्वलन पर्वतमें रहते बताते है। दिगम्बर शास्त्रोंमें ज्वलन पर्वतका कोई उल्लेख नहीं है। वज्रनाभिकी कुरग भीलके हाथसे मृत्यु हुई बताकर श्वे० शास्त्र उसे ललिताग स्वर्गमें देव होते और वहांसे चयकर सुरपुरके राजा वज्रबाहुकी पत्नी सुदर्शनाके गर्भमें आते लिखते हैं। इनकी कोखसे, जन्म पाकर वह उसे स्वर्णबाहु नामक चक्रवर्ती राजा होते लिखते है किंतु दिगम्बर शास्त्रोंमें वज्रनाभिको चक्रवर्ती बताया गया है। इस भवमें तो मरुभूतिका जीव मध्यम ग्रैवेयिकसे चयकर आनन्द नामक महामण्डलीक राजा हुआ था, यह दिगंबर शास्त्र कहते है। किंतु दोनों सम्प्रदायके ग्रथोंमें इनके पिताका नाम वज्रबाहु ही है। दिगम्बर शास्त्र इनको अयोध्याका राजा बताते है और इनकी रानीका नाम प्रभाकरी लिखते है। श्वे० शास्त्र यह भी कहते है कि स्वर्णबाहुको एक दफे उनका घोड़ा ले भागा और वह साधुओंके एक आश्रममें पहुंचे। वहां रत्नपुरके विद्याधर राजाकी कन्या पद्मापर वह आसक्त हुये और उसे ले भागे। इस पद्माके सम्बंधियोंकी सहायतासे वह

चक्रवर्ती राजा हुये बताये गये है। पद्मा हरणकी कथा बहुत कुछ संस्कृतके शकुन्तला नाटककी वार्तासे मिलती जुलती है। दिगम्बर शास्त्रोंमें यह कुछ भी उल्लेख नहीं है। इसके स्थानपर उनमें आनन्द राजाको पूजा करते और उनके सूर्यविमानस्थ मदिरोंकी पूजा करनेसे 'सूर्य पूजा'का प्रारम्भ होता लिखा है। आनन्दके मुनि होनेपर कमठके जीव शेरने उनकी जीवनलीला समाप्त कर दी थी। वे भौतिक शरीर छोड़कर आनत स्वर्गमें देव हुये। श्वे० शास्त्र स्वर्णबाहुके मुनि होने और शेर द्वारा मारे जानेको तो स्वीकार करते हैं, परन्तु उन्हें महाप्रभा विमानमें देव होते लिखते हैं। यहांसे चयकर यह जीव इक्ष्वाकुवंशी राजा अश्वसेन और रानी वामाके यहां बनारसमें श्री पार्श्वनामक राजकुमार होते हैं, यह बात दोनों संप्रदायके शास्त्र स्वीकार करते हैं। किन्तु श्वे० शास्त्रमें जो उनका पार्श्व नाम इस कारण पड़ा बताया है कि उनकी माताने अपने 'पार्श्व' (बगल) में एक सर्पको देखा था, दिगंबर शास्त्रोंके कथनसे प्रतिकूल है। उनमें इन्द्रने भगवानका चमकता हुआ पार्श्व देखकर उनका नाम पार्श्व रक्खा था, यह लिखा है। दि० शास्त्र उनके विवाहकी वार्तासे भी सहमत नहीं हैं। श्वे० शास्त्रमें कम-ठके जीवको नर्कसे निकलकर रोर नामक ब्राह्मणका कठ नामका पुत्र होते बतलाया है। पर दिगबर शास्त्र कहते हैं कि कमठका जीव नर्कमेंसे निकलकर संसारमें किंचित रुलकर महीपालपुरका राजा महीपाल हुआ, जो भगवान पार्श्वनाथका इस भवमें नाना था। इसप्रकार पार्श्वजीके अंतिम संसारी जीवनमें कमठसे उनका सम्बंध पुनः उनके प्रथम भव जैसा होजाता है। आखिरमें दोनों

संप्रदायके शास्त्र कमठ जीवको पंचाग्नि तपता हुआ साधु और उससे भगवान पार्श्वका समागम लिखते हैं। श्वे० शास्त्र सर्पको पाताल लोकमें धारण नामक राजा और कमठ जीवको मेघमालिन असुर होता लिखते हैं। दि० शास्त्र सर्पको धरणेन्द्र और कमठ जीवको संवर नामक ज्योतिषीदेव हुआ बतलाते हैं। दोनों समदाय भगवानको तीस वर्षकी अवस्थामें दीक्षा धारण करते प्रगट करते हैं किंतु श्वे० शास्त्रोंमें दीक्षावृक्ष अशोक है और दि० शास्त्रोंमें वह बड़का पेड़ बताया गया है। उसी तरह उनके दीक्षा लेनेका कारण भी दोनों आम्नायोंके ग्रंथोंमें विभिन्न है। दिगम्बर शास्त्र छद्मस्थावस्थामें उन्हें मौन धारण किए हुए बताते हैं; परंतु भावदेवसूरिके चरितमें उन्हें तब भी उपदेश देते लिखा है। यह बात उनके आचारांगसूत्रके कथनसे भी बाधित है, जिसमें तीर्थंकर भगवानको इस दशामें मौनवृत गृहण किए हुए विचरते लिखा है। उपरांत श्वेताम्बराचार्य असुरद्वारा भगवानपर उपसर्ग हुआ बतलाते हैं और उसके अन्तमें उसे भगवानकी शरणमें आया कहते हैं। किन्तु दि० शास्त्र समोशरणमें उसे सम्यक्त्वकी प्राप्ति हुई बतलाते हैं। उपसर्ग होनेके बाद वह काशी पहुंचे थे, यह श्वे० कहते हैं। परन्तु दिगंबर शास्त्रोंमें यह घटना स्वयं काशीमें हुई बताई गई है। मोक्ष पानेपर भगवान्के निर्वाण स्थानपर देवेन्द्रने रत्नजटित स्तूप बनाया था, यह भी श्वे० शास्त्र कहते हैं। दिगंबर ग्रन्थोंमें शायद कोई ऐसा उल्लेख नहीं है। कल्पसूत्रमें गर्भतिथि चैत्रकृष्णा ४ समय अर्धरात्रि लिखी है। दि० शास्त्रमें यह वैशाखकृष्ण २ समय अर्धरात्रि बताई गई है। हां,

दोनो संप्रदायके ग्रन्थोंमें भगवान्‌के पांचोंकल्याणकोंको विशाखा नक्षत्रमें घटित हुआ बतलाया गया है। जन्मतिथि भी दि० शास्त्रमें श्वे० के पौषकृष्ण १० के स्थानपर पौषकृष्ण एकादशी है। हां, दीक्षातिथि दोनों संप्रदायोमें एक मानी गई है। पालकीका नाम कल्पसूत्रमें 'विशाला' और दि० शास्त्रमें 'विमला' है। दीक्षा समय दि० शास्त्र भगवानको दिगंबर मुनि हुआ बतलाते है, परन्तु श्वे० शास्त्र उन्हें देवदूष्य वस्त्र धारण करते हुये लिखते हैं; यद्यपि उनका यह कथन निःसार है, क्योकि पहले तो उन्हींके शास्त्रोमें साधुकी सर्वोच्चदशा नग्न बताई है और उसका अभ्यास तीर्थंकरोंने किया, ऐसा लिखा है। तिसपर इसके अतिरिक्त बौद्ध और वैदिक मतोंके ग्रंथोंसे भी भगवान महावीरसे पहलेके जैन साधुओका भेष नग्न हीं प्रमाणित होता है।[1] वैदिककालके जैन यति अथवा ज्येष्ठ व्रात्य नग्न होते थे, यह हम किंचित् ऊपर देख ही चुके हैं। अस्तु; श्वे० के इस कथनपर सहसा विश्वास नहीं किया जासक्ता। अगाडी दि० शास्त्र भगवान्‌की छद्मस्थावस्था ४ मास और केवलज्ञान प्राप्तिकी तिथि चैत्रकृष्ण चतुर्दशी कहते हैं। श्वे० यह अवधि ८३ दिनकी और उक्त तिथि चैत्र कृष्ण चतुर्थी बतलाते हैं। दिगंबर शास्त्रमें गण और गणधर दश बताये गए हैं, जैसे भावदेवसूरिने भी बताये हैं, परन्तु कल्पसूत्रमें वे ८ ही हैं। मुनियोंकी संख्या दिगम्बर शास्त्रोंमें भी १६००० बताई गई है, परन्तु आर्यिकाओंकी संख्या श्वे० से विपरीत उनमें ३६००० है। श्रावक भी एकलाख और श्राविका तीनलाख बताये गए है। सम्मेदशिखरसे मुक्त हुए दि०

१-भगवान महावीर और म० बुद्ध पृ० ६४-६५।

शास्त्र भी स्वीकार करते है, परन्तु उनका कथन है कि भगवान्ने एक मासका योग साधन किया था और श्रावन सुदी ७ को ३६ मुनीश्वरोंके साथ मुक्तिलाभ किया था। कल्पसूत्रमें उन्हें श्रावण शुक्ला ८को ८३ व्यक्तियों सहित निर्वाणपद पाते लिखा है। इस प्रकार दोनों आम्नायके शास्त्रोंमें भगवान् पार्श्वकी जीवनीमें परस्पर भेद है। श्वेताम्बरोंके अर्वाचीन ग्रथों, जैसे भावदेवसूरिके चरितमें जो पूर्वभव वर्णन है, वह संभवतः दिगम्बर शास्त्रोंसे लिया गया है क्योकि उसमें कुछ विशेष अन्तर नहीं है और वह वर्णन उनके प्राचीन ग्रन्थोंमें नहीं मिलता है। तिसपर भावदेवसूरि जो दिगंबराम्नायके अनुसार दश गणधर बतलाते है, वह भी इसी आधारका सूचक है। परन्तु इसको निर्णयात्मक रूपसे स्वीकार करना जरा कठिन है। किन्तु अनुमान श्वे० कथनको दिगम्बर शास्त्रोंका ऋणी बतलाता है। यह भी ध्यान रहे कि भावदेवसूरि आदिके पार्श्वचरित दिगम्बरोंके पार्श्वचरित आदिसे उपरातकी रचना है। अस्तु;

भारतीय साहित्यमें ऐसी अन्य कथायें।

भगवान पार्श्वनाथजीके पूर्वभव वर्णनमें जिस प्रकार मरुभूति और कमठके भवसे परस्पर दो जीवोंमें दशमें भवतक शत्रुता चली आई बतलाई गई है, वह जीवोंके कषायभावोकी तीव्रता और उसके कटुकफलकी द्योतक है और भारतीय साहित्यमें ऐसे ही अन्य उल्लेख भी मिलते हैं। चित्त और सम्भूतकी कथा इसी तरह दो जीवोंका जन्मान्तरतक एक दूसरेका सहायक प्रकट करती है।[1] सनत्कुमारकी

1—ब्रह्मदत्तकथा—वाइना जर्नल ऑफ ओरियन्टल स्टडीज, भा० ५ व ६।

कथा तो बिल्कुल पार्श्वनाथजीके पूर्वभववर्णनके ढंगकी है।' उसमें भी वैरभावकी मुख्यता है। यही हाल प्रद्युम्नसूरिकी समरादित्य कथाका है; जिसमें राजकुमार गुणसेन और ब्राह्मण अग्निशर्मन्के पारस्परिक विद्वेषका खासा दिग्दर्शन कराया गया है। बौद्धोंके 'धम्मपद' में (२९१) भी एक कथा इसी जन्मजन्मांतरमें वैरभावकी द्योतक है। इसी प्रकारकी एक कथा 'कथाकोष'मे दो ब्राह्मण भाइयोंकी दी हुई है; जिसमे एक भाईने लोभके वशीभूत हो दूसरे भाईके प्राण लेनेकी ठानी थी। आखिर पाच भवोंतक यह वैर चलता रहा था। सारांशतः इस ढंगकी कथायें भारतीय साहित्यमें बहुतायतसे मिलती है। परंतु हमें यह स्वीकार करना पड़ता है कि मरुभूति और कमठ जैसी पार्श्वकथासे सुन्दर और अनुपम कथा शायद अन्यत्र नहीं है। इसके लिए हम 'पार्श्वाभ्युदय काव्य' के टीकाकार योगिराट् पंडिताचार्यके इस श्लोकको उपस्थित किये विना नही रहेंगे:—

' श्री पार्श्वात्साधुतः साधुः कमठात्खलतः खलः।
पार्श्वाभ्युदयतः काव्यं न च क्वचिदपीष्यते ॥ १७ ॥ '

अर्थात्—'श्री पार्श्वनाथसे बढ़कर कोई साधु, कमठसे बढ़कर कोई दुष्ट और पार्श्वाभ्युदयसे बढ़कर कोई काव्य नही दिखलाई देता है।' निष्पक्ष विद्वान्के लिये इसमें कुछ भी 'अतिशयोक्ति' नहीं है। यहांपर स्थान और अवसर नहीं है कि हम पार्श्वाभ्युदय जैसे अनुपम साहित्यग्रंथोंका रसास्वादन अपने पाठकोंको करा सकें।

१–कथाकोष, पृ० ३१–लाइफ एण्ड स्टोरीज ऑफ पार्श्वनाथ, भू० पृ० १३।

जैन पुराण ग्रंथ प्राचीन-कालमे उपलब्ध है।

किन्तु उपरोल्लिखित विवरणसे पाठक यह न समझ लें, कि ईसाकी ५वीं या ६ठी शताब्दिके पहले कोई जैनग्रन्थ भगवान पार्श्वनाथजीके दिव्य चरित्रको प्रकाशमे लानेके लिए रचा ही न गया था। यह बात नहीं है, क्योंकि भगवान महावीरस्वामीकी दिव्यध्वनिसे प्रगट हुए और श्री इन्द्रभूति गौतमगणधर द्वारा ग्रथित प्रथमानुयोगका अस्तित्व ईसासे पूर्वका प्रथम शताब्दि तक रहा था, और उसको लुप्त होता हुआ देखकर ही पूर्वाचार्योने उस समयके उपलब्ध अंशसे ग्रन्थोंको रचकर उन्हें लिपिबद्ध करना प्रारभ कर दिया था। उसके पहले आगम ग्रथ ऋषियोंकी स्मृतिमें सुरक्षित रहते थे, यह हम पहले बतला चुके हैं। अतएव इस आधारसे बने हुये प्राचीन पुराण ग्रथोके अस्तित्वका पता हमें श्री जिनसेनाचार्यजीके कथनसे चलता है। वे लिखते है:–

> " नमः पुराणकारेभ्यो यद्वक्त्राब्जे सरस्वती।
> येषामन्यकवित्वस्य सूत्रपातायितं वचः॥ ४१॥
> धर्मसूत्रानुगा हृद्या यस्य वाङ्मणयोऽमलाः।
> कथालङ्कारतां भेजुः काणभिक्षुर्जयत्यसौ॥५१॥ "

यहां पहले श्लोक द्वारा प्राचीन पुराणकारोंको नमस्कार किया है, जिनके वचनोंकि आधारसे दूसरोंने ग्रंथ बनाये है और दूसरेमें काणभिक्षु नामक कविकी प्रशसा की है, जिसने कोई कथा ग्रन्थ बनाया था। इतना ही क्यों ? श्री जिनसेनाचार्यजीके पहले एक महापुराण गद्यमें श्री कवि परमेश्वर द्वारा रचा हुआ मौजूद

था, जिसमें २४ तीर्थंकर और अवशेष शलाका पुरुषोंके चरित्र वर्णित थे। श्री जिनसेनाचार्य इस बातको स्पष्ट प्रकट करते हैं:—

'कविपरमेश्वरनिगदितगद्यकथामातृकं पुरोश्चरितम्।
सकलच्छन्दोलङ्कृतिलक्ष्यं सूक्ष्मार्थगूढपदरचनम्॥'

अतएव इन उल्लेखोंसे यह स्पष्ट है कि जैनाचार्य प्रणीत उपरोक्त चरित्रग्रन्थोंके अतिरिक्त प्राचीनकालमें और भी ऐसे पुराण ग्रंथ मौजूद थे जिनमें श्री पार्श्वनाथजीका चरित्र वर्णित था। किंतु साम्प्रदायिक विद्वेष और कालमहाराजकी कृपासे वह आज उपलब्ध नहीं है।

कमठ जीवका वैर यथार्थ है—रहस्यपूर्ण अलंकार नहीं है।

साथ ही यहांपर हम यह भी स्पष्ट कर देना आवश्यक समझते हैं कि पार्श्वचरित्रमें जो कमठ जीवके वैरभावका वर्णन है, वह यथार्थ है। केवल कवियोंने अपने काव्यग्रन्थोंको सुललित बनानेके लिये इसका अविष्कार नहीं किया था। दिगम्बर जैन संप्रदायके प्राचीनसे प्राचीन ग्रन्थमें इस विषयका उल्लेख मौजूद है। कमठके जीव असुरने भगवान पर उपसर्ग किया था और उसके अंतमें भगवानको केवलज्ञानकी प्राप्ति हुई थी। यह बात जैन-संप्रदायमें एक स्पष्ट घटनाके तौरपर प्रख्यात है। इतना ही क्यों? प्रत्युत भगवान पार्श्वनाथजीकी जितनी भी प्रतिमायें मिलतीं हैं; वह सर्पफणयुक्त मिलती हैं। और वे इस घटनाकी प्रगट साक्षी हैं। वह फणमण्डल बहुधा सात अथवा नौ फणोंका होता है, परन्तु सौ फणावाली प्रतिमायें भी मिली हैं। उडीसा और मथुराकी

प्राचीन प्रतिमायें भी इसी रूपकी हैं- किंवा विविध स्तोत्रोंमें इस घटनाका उल्लेख किया हुआ मिलता है। विक्रमकी दूसरी शताब्दिके दिगम्बर जैनाचार्य श्रीसमन्तभद्रस्वामी इस घटनाका उल्लेख निम्नप्रकार करते हैं:-

'बृहत्फणामण्डलमण्डपेन यं स्फुरत्तडित्पिङ्गरुचोपसर्गिणाम् ।
जुगूह नागो धरणो धराधरं विरागसन्ध्यातडिदम्बुदो यथा ॥'

इसी तरह श्री सिद्धसेन दिवाकर प्रणीत कल्याणमंदिर स्तोत्रमें भी यही उल्लेख मौजूद है: यथा:-

'यस्य स्वयं सुरगुरुर्गरिमाम्बुराशेः, स्तोत्रं सुविस्तृनमतिर्नविभु-विधातुम् ।
तीर्थेश्वरस्य कमठसमयधूमकेतोस्तस्याहमेष किल संस्तवनं करिष्ये॥
'प्राग्भारसम्भृतनभांसि रजांसि रोषादुत्थापितानि कमठेन शठेन यानि ।
छायापि तैस्तव न नाथ हता हताशो ग्रस्तस्त्वमीभिरयमेव परं दुरात्मा ॥ ३१ ॥'

सोमचंद्रकी कथमहोदधि (श्वे०)में भी इस घटनाका उल्लेख है। अतएव इस घटनामें संशय करना वृथा है।

जैन समाजमें भगवान् पार्श्वनाथके सम्बन्धमें कई पवित्रस्थान तीर्थरूपमें माने जाते हैं। सम्मेदशिखर तो निर्वाणस्थान होनेके कारण बहुप्रख्यात है; परन्तु इसके अतिरिक्त और स्थान भी तीर्थरूपमें पूजे जाते हैं। बनारस गर्भ जन्म और केवलज्ञान स्थानरूपमें प्रसिद्ध है। किन्तु दिगम्बर संप्रदायमें न मालूम अहिच्छत्रको किस आधारसे केवलज्ञान स्थान माना

पार्श्वनाथजी सम्बन्धी तीर्थस्थान।

जाता है ? हमारे ख्यालसे वहांपर एक नागराजने भगवानकी विनय और भक्ति की थी और उनकी पवित्र स्मृतिमें एक मंदिर और स्वर्णलेपयुक्त प्रतिबिंब बनवाई थी, उसीके उपलक्षमें यह स्थान पूज्य माना जाने लगा है। पार्श्वनाथजीके सम्बन्धमें शास्त्र इसके अतिरिक्त और कोई उल्लेख नहीं करते हैं। कलिकुण्ड अथवा कलिकुण्ड पार्श्वनाथ नामक तीर्थ भी दोनों संप्रदायोंमें मान्य है। यहांपर करकण्डु महाराजाने अनेक जिनमंदिर और रत्नमई पार्श्वप्रतिमा बनवाये थे, यह दिगम्बर शास्त्रोंका कथन है। इसके अतिरिक्त श्वेतांबर संप्रदायमे कुर्कुटेश्वर, स्तंभनक, मथुरा, शंखपुर, नागहृद, लाटहृद और स्वर्णगिरि नामक स्थान पार्श्वनाथजीके सम्पर्कसे पवित्र हुये तीर्थ माने जाते हैं। दिगंबर संप्रदायमें भी उपरोक्तके अलावा श्री खण्डगिरि उदयगिरि, राजगृही (विपुलाचल पवत), खजुराहा, अतिशयक्षेत्र कुरगमा (झांसी), बालावेट अतिशयक्षेत्र, ग्वालियर, भातकुली (अमरावती), अतरीक्ष पार्श्वनाथ (सिरपुर), कुडलपुर, कुकुटेश्वर, (इन्दौर), द्रोणागिरि, नैनागिरि, मुक्तागिरि, बजोलिया अतिशयक्षेत्र, फालोदी पार्श्वनाथ, चौवलेश्वर अतिशयक्षेत्र, मक्सी पार्श्वनाथ, श्री विघ्नेश्वर पार्श्वनाथ, कचनेर अतिशयक्षेत्र, तेरपुर (धाराशिव), बावानगर अतिशयक्षेत्र, अमीजरा पार्श्वनाथ अतिशयक्षेत्र, श्रीक्षेत्र तिरुमलै, मूड़बद्री, श्रवणबेलगोला इत्यादि स्थानोंसे भगवान पार्श्वनाथजीका विशेष सम्बध माना जाता है। इस प्रकार प्रकट है कि प्राचीनकालसे ही भगवान पार्श्वनाथजीके पवित्र स्मारकमें अनेक स्थान पवित्र माने जाने लगे थे और अनेक चैत्य, मंदिर, विहार व गुफायें भी बन गये थे।

प्रस्तुत ग्रन्थ।

अन्तमें हमें प्रस्तुत पुस्तकके विषयमें कुछ अधिक नहीं कहना है। इसमें जो कुछ है वह पाठकोंके सामने है। बेशक उसमें नवीनता शायद ही कुछ हो-पुरातन भाव और चरित्रको ही इसमें स्थान दिया गया है। हां, ऐतिहासिक रीतिसे विवेचना करनेका ढंग उल्लेखनीय है। इसे हमारी समाजके कतिपय विद्वान शायद पसंद भी नहीं करेंगे। परंतु सत्यकी खोजके लिये यह ऐतिहासिक ढंग परमावश्यक है। इसी ऐतिहासिक प्रसंगमें जो बातें हमने श्वेतांबरादि सम्प्रदायोंके विषयमें कही है, वह भी केवल सत्य खोजके भावको लेकर लिखी गई है। इसमें विवश ऐसी परिस्थिति होती है, जिसे एक इतिहास लेखक मेटने और सर्वप्रिय बनानेमें असमर्थ रहता है। इससे हमारा भाव किसीका दिल दुखानेका नहीं है और न उनकी मान्यताओंको हेय प्रगट करनेका है। इसके साथ ही जो इसमें जैन ग्रन्थोंमें उल्लेखित स्थानोंको यथासंभव आजकी दुनियामें खोज निकालनेका प्रयत्न किया गया है, वह अनोखा है और इस विषयका प्रथम प्रयास है। आशा है, विद्वज्जन इसपर निष्पक्ष हो विचार करेंगे और उचित सम्मति द्वारा अनुग्रहीत करेंगे। भगवान पार्श्वनाथजीके पवित्र जीवन चरित्रको प्रकट करनेवाले इस ग्रन्थको मैं लिख सका हूं यह केवल धर्मका ही प्रभाव है। वरन मुझ जैसे अल्पज्ञकी क्या सामर्थ्य थी जो इस गहन विषयमें अपनी अयोग्य लेखनीका प्रवेश करा सक्ता! अस्तु, जय, प्रभु, पार्श्वकी जय!

पार्श्वनि० दिवस २४५४] विनीत—कामताप्रसाद जैन।

श्री पार्श्वनाथाय नमः।

भगवान पार्श्वनाथ

(१)

पुरोहित विश्वभूति !

" जरा मौतकी लघु बहिन, यामें संशै नाहिं।
तौभी सुहित न चिंतवैं, बड़ी भूल जगमांहिं ॥ "

विश्वभूति–प्रिये, इस असार संसारमें भ्रमते अनादिकाल होगया' विषयतृष्णाको बुझानेके लिये अनेकानेक प्रयत्न किये ! पांचों इन्द्रियोंके विषयसुखमें तल्लीन रहकर युगसे विता दिये ! स्वर्गोंके सुख भी भोगे, चक्रवर्तियोंकी अपूर्व सम्पत्तिका भी उपभोग किया ! परन्तु इस विषयतृष्णाकी तृप्ति नही हुई ! सच्चे सुखका आस्वाद नहीं मिला ! इस भव–वनमे भटकते हुए सौभाग्यसे यह मनुष्यजन्म और उत्तम कुल मिल गया; सो भी यूंही इन्ही विषयवासनाओको भोगते हुए–भोगोपभोगकी मरीचिकामे पड़े हुये विता दिया ! आज यह देख प्रिये ! यह सफेद बाल मानो मुझे सचेत करनेको ही नजर आगया है !

अनूदरि–वाह ! एक सफेद बालको देखकर प्रिय, क्यो इतने भयभीत होते हो ? माना कि ससार असार है–उसमें कुछ भी सार नहीं ! लेकिन प्यारे ! इसी संसारमे रहकर ही आप अपने उद्देश्यको

पा सकेंगे। इसलिए इसे असार न समझिये! इसमें सार है और वह वेशक यही है कि मनुष्य धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष पुरुषार्थोंका साधन भली भांति करले! अभी आप पहलेके तीनों पुरुषार्थोंका उपार्जन तो अच्छीतरह कर लीजिये! फिर भले ही मोक्षके उद्यममें लगिये! संसारसे डरिये नहीं—डरनेका काम नहीं—कर्तव्यको पहिचानिये और उसमेंके सारको ग्रहण कीजिये! बस प्रिय! अभी अपने इस विचारको जरा रहने दीजिए।

विश्व०—हां प्रिये! तेरा कहना तो ठीक है, परन्तु देख, इस शरीरका कुछ भरोसा नहीं! यह बिजलीकी तरह, पानीके बुदबुदेके समान नष्ट होनेवाला है। आयुकर्म न जाने कब पूर्ण होजावे! फिर यहां तो यमके दूत यह सफेद बाल आही गए हैं। तिसपर देखो, जैसे तुम कहती हो वैसे ही सही, हमने पहलेके तीन पुरुषार्थोंका साधन प्राय: कर ही लिया है। ब्रह्मचर्याश्रममें रहकर विद्याध्ययन करते किंचित् धर्मोपार्जन भी कर लिया और गृहस्थाश्रममें तुम सरीखी ज्ञानवान प्रियतमाको पाकर उसका भी पूरा लाभ उठा लिया है। अपने कृपालु महाराज राजा अरविंदकी कृपासे मंत्रिपद पर रहते हुए अर्थ संचय करनेमें भी भाग्य अपने साथ रहा है और फिर कमठ और मरुभूति युवा होही चुके—उनका विवाह भी हो चुका—अबतो बस मोक्षमार्गको साधन करना ही शेष रहा!

अनु०—ठीक है—ठीक है—अब देरी काहेकी। पूरे बाबाजी वन गये हो! अबतो गृहस्थाश्रममें कुछ करना धरना ही नहीं रहा! कमठको वरुणा और मरुभूतिको विसुन्दरी दिलादी! बस चलो छुट्टी हुई! एक सफेद बाल भी आगया—मानो मौतनका

संदेशा ही ले आया ! मोक्ष-सुंदरी मन बसी है ! अच्छा है, जाओ ! लेकिन उसे पाना कुछ हंसी ठट्ठा नहीं है। इसलिए मैं तो यही कहूंगी कि अभी कुछ दिनों और घरमें रहकर संयमी जीवन व्यतीत करनेका अभ्यास करलो ! जिनदीक्षा ग्रहण करना दुर्द्धर कठिन मार्गमें पग बढ़ाना है, सो विचार लीजिए।

विश्व०-प्रिये ! मैं देखता हूं, तुम मोहके गहरे भ्रममें पड़ी हुई हो। तुम्हारे ममता भाव मुझे छोडना नहीं चाहते ! संसारी जीवकी ऐसी ही भ्रमालु बुद्धि है। इसी कारण वह संसारमें अनेकों दुःख उठाता है। चाहता है, बालूको पेलकर तेल निकालना ! लेकिन क्या यह साध्य है ?

अनु०-नहीं साहब, यह कुछ भी साध्य नहीं है ! सारी दुनिया बेवकूफ है, गार्हस्थ्य जीवनमें रहना बुरा काम है। जाइये, मैं नहीं रोकती-आप बाबाजी बन जाइये और सारी दुनियांको बना लीजिये। मेरी बलासे-तब ही कुछ पतेकी मालूम पड़ेगी ! मेरा कहना तो मूर्खोंका बकवाद समझते हो, पर जब दुनियां जो संसारमे रहकर आनंद उठा रही है आपको टकासा जवाब देदेगी तब होश लाइयेगा !

विश्व०-अरे, इसमें कौनसी बात बुरे माननेकी है। मैं तो खुद कहता जाता हूं कि संसारके लोग भ्रममे पड़े हुये हैं। जैसे कुत्ता हड्डीको चूस २ कर अपने मुंहको लहूलुहान कर लेता है, वैसे ही यह ससारी प्राणी दुनियांकी मौज शौकमे फंसा हुआ अपना सत्यानाश करता है। सुख पानेकी लालसासे खाना पीना मौज उड़ाना आवश्यक समझता है, परन्तु वास्तवमे इस मार्गसे वह कभी भी सच्चे सुखको नही पाता ! कुत्तेकी तरह अपनी ही

देहके खूनसे सुखी होना मानता है और फिर अपनी भ्रम बुद्धिपर पछताता है। इसलिये प्रिये, विवेकी पुरुषोका यही कर्तव्य है कि इस अमूल्य जीवनको सार्थक बनानेके लिये धर्म, अर्थ और काम पुरुषार्थोंका समुचित सेवन कर चुकनेपर—बुढापेका इन्तजार न करके—जब ही सभव हो तब ही निर्वृत्ति मार्गकी शरणमें आकर शाश्वत सुख पानेका उद्यम करें। फिर देखो, मेरे लिये तो यमका दूत आ ही पहुचा है! अब भी मैं अगर इस नर देहका उचित उपयोग न करूं, तो मुझसा मूर्ख कौन होगा। अगाध सागरमे रत्न गुमाकर फिर उसे पानेकी मैं कैसे आशा करूं?

अनु०—हां, साहब, न कीजिये! लेकिन यह तो बताइये, मेरा क्या कीजियेगा?

विश्व०—मोहका पर्दा अभीतक तुम्हारी बुद्धिपरसे हटा नहीं है। पर प्यारी, जरा विवेकसे काम लो! देखो पति-पत्नी एक गृहस्थी रूपी रथके दो पहिये हैं जो रथको बराबर चलने देते है! इन दोनो पहियोका एकसा और मजबूत होना ठीक है। पुरुषकी तरह स्त्रीको भी ज्ञानवान और आदर्श चरित्र होना दाम्पत्य सुखको सफल बनाना है। सौभाग्यसे हम—तुम दोनों ही इतने सुयोग्य निकले कि गृहस्थीरूपी रथको प्राय मंजिलपर पहुंचा ही चुके है। गृहस्थीकी सबसे बडी अभिलाषा यही होती है—न्याय अन्याय मनुष्य सब इसीके लिये करता है कि औलाद हो और मै उसका बढ़चढ़के विवाह कर दू, जिससे वशका नाम चलता रहे। हमारी तुम्हारी यह अभिलाषा पूर्ण हो चुकी है। इसलिये अपने परभवको सुधारना अब हम दोनोंको इष्ट होना चाहिये। मैं तुम्हें इस अव-

स्थामें तकलीफ नहीं दूंगा। तुम्हारी आत्माका हित होगा वही उपाय करूंगा। तुम चाहो तो आनन्दसे पुत्रोंके साथ रहो और धर्म ध्यान करो! अगर मेरे विना यह घर फीका जंचने लगे तो दिगंबर गुरुके चरणोंके प्रसादसे आत्मकल्याण करनेका मार्ग ग्रहण करलो! देखो राजकुमारी राजुलने तो कुमार अवस्थामें ही आर्यिकाके व्रत धारण किये थे और दुद्धर तपश्चरण करके स्त्री लिंग छेदकर स्वर्गोंमे देवोंके अपूर्व सुखोंका उपभोग किया था! सो अब जैसी तुम्हारी इच्छा हो।

अनूदरि पतिदेवके इन मार्मिक वचनोंको सुनकर चुप होगई! उसकी बुद्धिमें ऊहापोहात्मक विचारोंकी आंधी आगई! जान गई कि मनुष्यका नरजन्म सफल बनानेके लिये मोक्षसाधनका उपाय करना परमोपादेय कर्तव्य है! इसी कारण वह पतिदेवके निश्चयमें और अधिक बाधा डालनेकी हिम्मत न कर सकी।

प्रिय पाठकगण, यह आजसे बहुत पुराने जमानेकी बात है। इतिहास उसके आलोकमें अभी पहुंच नहीं पाया है! पर है यह इसी भरतक्षेत्रकी बात! इसी भरतक्षेत्रके आर्यखडमें सुरम्य देशके मनोहर नगर पोदनपुरमें यह घटना घटित हुई थी। यह पोदनपुर बड़ा ही समृद्धशाली नगर शास्त्रोंमें बतलाया गया है। यहा जैनधर्मकी गति भी विशेष बताई गई है। यहांके राजा परम नीतिवान नृप अरिविंद थे। इन्हीं राजाके वयोवृद्ध मंत्री पुरोहित विश्वभूति था। अनूदरि इनकी पत्नी थी। वृद्धावस्थाको निकट आया जानकर इस विवेकी नर-रत्नने आत्मध्यान करना इष्ट जाना था! इसी अनुरूप अपनी पत्नीको समझा बुझाकर उसने जिनदीक्षा ग्रहण करनेकी

ठान ली थी। सच है जिसके मनपर वैराग्यका गहरा और पक्का रंग चढ़ जाता है, उसपर और कोई रंग अपना असर नहीं कर पाता है। भारतका यह पुरातन नियम रहा है कि वृद्धावस्थाको पहुंचते२ ही लोग आत्महितचिन्तनासे वनोवास स्वीकार कर लेते थे। दुनियांकी झंझटोसे छूटकर—व्याधियोकी पोटको फेंककर वे स्वावलम्बी धीरवीर पुरुष अकेले ही सर्वत्र सिंहवृत्तिसे विचरते हुये अपना कल्याण करते और अनेकों जीवोंको सुमार्ग पर लगाते थे। भटकते हुओको रास्ता वतानेवाले वेही थे! दुखियोंके दु ख निवारन करनेवाले और जगतका उपकार करनेवाले वेही महापुरुष थे। देव और दानवकी उपासना एकसाथ नहीं होसक्ती—धर्म और धनका उपार्जन साथही साथ कर लेना असंभव है। इसीलिये आत्महित् और परोपकारी पुरुष सासारिक मायाकी ममताको पैरोंसे ठुकरा देते और प्राकृतरूपमें सिंहवृत्तिसे नरजन्मके परमोच्च उद्देश्यको सफल वनाते हैं। आज संसारमें ऐसे परमोपकारी महापुरुषोका प्राय. अभाव है परंतु सौभाग्यसे भारतमें अब भी उंगलियोंपर गिनने लायक ऐसे नररत्न मिलते हैं। वस, इसी आदर्शनियमका पालन करनेका निश्चय राजमत्री विश्वभूतिने कर लिया था। वह राजा अरविंदके पास पहुंचे और अपने दोनों पुत्रो कमठ और मरुभूतिको उनकी शरणमें छोड़ आये। इसतरह गृहस्थीके उत्तरदायित्वसे निवटकर सुगुरुकी साखिसे वह जिन–चारित्रको पालने लगे। परम उत्तम क्षमाका पालन करते, दुध्दर परीपहोंको सहते, ग्रामग्राममें विचरते वह अपना और परका कल्याण करने लगे। इस लोकमें पूज्य पुरुष होगये' सचमुच निर्वृतिमार्ग ही रंकसे राव वनानेका द्वार है!

(२)

कमठ और मरुभूति !

" जैसी करनी आचरै, तैसो ही फल होय ।
इन्द्रायनकी बेलिकै, आंब न लागै कोय ॥ "

कमठ—हाय ! मै कहा जाऊं, कैसे इस जलते हुए दिलको शाति दिलाऊं ? विसुन्दरीकी बांकी चितवनने गजब ढा दिया है। एक ही निगाहमे मृगनयनी मेरे हृदयके टूक २ कर गई है । न उठते चैन है और न बैठते आराम है, खाना पीना सब हराम है ! अवतो उसी सुन्दरीकी याद रह २ कर मारे डाल रही है । क्या करू मै उस मनमोहिनी मूरतको कैसे पाऊ ? मेरे कहनेमे वह आती नही । जब देखो तब धर्मकी बातें बघारती है । लेकिन कुछ भी हो, मेरा जीवन तो उसके बिना किसी तरह भी टिक नहीं सक्ता । मित्र कलहंस ही शायद इस जलते जीको सान्त्वना दिलानेका कुछ उपाय बतलाये । पर हाय ! उसे मै कहां ढूंढू । प्यारी विसुन्दरीकी याद तो मुझे कुछ भी नहीं करने देती । उसकी भोली भाली सुडौल सुदर सूरत मेरे नेत्रोंके अगाड़ी हरसमय नाचती रहती है । हाय ! विसुन्दरी !

कलहंस—मित्र कमठ ! आज उदास कैसे पड़े हुए हो ? तुम्हें अपने तनमनकी कुछ भी सुध-बुध नही है । कहो, क्या भांग पी ली है ?

कमठ—अहा कलहस, खूब आये ! भाई, भांग क्या पी ली—ऐसी भांग पी है जैसी शायद ही कोई पीताहो पर क्या बताऊॅ ? बताये बिना काम भी तो नही चलेगा !

कलहंस–अरे, मालूम पड़ता है किसी व्याधिने आकर आपको घेर लिया है। बस, मुझसे परहेज न कीजिये। अपना हाल निसंकोच हो कहिये; जिससे औषधोपचारकी व्यवस्था की जाय! मित्रोंका कार्य ही यह है कि वे काम पड़े पर एक दूसरेके काम आवें! आपकी मुरझानी सूरतने मुझे पहले ही खटकेमें डाल दिया था। कहिये, क्या हाल है?

कमठ–मुझे शारीरिक व्याधि तो कुछ ऐसी है नहीं और न मानसिक ही! पर है वह ऐसी ही कुछ। कैसे कहूं सखे, मेरा हृदय तो डटा जा रहा है।

कलहंस–आखिर कुछ कहोगे भी–क्या वजह है क्यों हृदयमें गोंठा पड़ा है?

कमठ–हां, भाई कहूंगा, तुम्हारे बिना मेरी रक्षाका उपाय और कौन करेगा? लेकिन तुम्हें करना जरूर होगा।

कलहंस–इसके कहनेकी भी कोई जरूरत है। मित्रताके नाते आपको सुख पहुचाना मेरा कर्तव्य है। बस, आप अपनी व्याधिका कारण बतलाएं।

कमठ–क्या कहूं कलहंस! कहते हृदय लजाता है पर कामकी व्यथा मुझे इस समय दारुण दुःख दे रही है। प्यारी विसुन्दरीके रूप-सुधाका पान करनेसे ही यह व्यथा दूर होगी।..

कलहंस–छि छि! तुम्हारी बुद्धि कहां गई है? लघु भ्राताकी पत्नी पुत्रीवत् होती है, उसीपर तुमने अपनी नियत बिगाड़ी है। यह अनाचार है। इस दुर्बुद्धिको छोड़ो। कोई सुन पायेगा तो तुम्हारे लिये मुंह दिखानेको स्थान नहीं रहेगा। परदाराका साथ बहुत

बुरा होता है, इसका सेवन करके किसने सुख उठाया है, जो तुम उससे उठाना चाहते हो ? रावणसे महाबली और पराक्रमीको इसी पापने मिट्टीमें मिला दिया। इसलिए मेरा कहना मानो इस दुर्बुद्धिको छोड़ो। अपने कुत्सितभावोंको शोध डालो, उनका समुचित प्रायश्चित ले लो !

कमठ—हाय! हाय! तुम भी मेरी बातको टालनेके लिये बहाने बना रहे हो। धर्मकी आड लेकर एक पथ दो काज साध रहे हो। चाहते हो न मुझसे बिगाड हो और न मरुभूतिसे शिष्टाचार टूटे, पर कहीं ऐसा होसक्ता है ? धर्म कर्म सब देख लिए जायगे, अभी तो जीवनके लाले पड़े हुए है। जीवन रहेगा तो धर्म-कर्म सब कुछ कर लूगा। प्यारे मित्र, जीवन रहे ऐसा उपाय करो। कैसे भी विसुन्दरीको मेरे पास ला दो !

कलहंस—हाय! कामने तुम्हारी बुद्धिको बिल्कुल नष्टकर दिया है। कविका निम्न छद तुम पर सोलह आने चरितार्थ होरहा है कि—

"पिता नीर परसै नहीं, दूर रहै रवि यार।
ता अंबुजमे मूढ़ आलि, उरझि मरे अविचार॥
यों ही कुविसनरत पुरुष, होय अवस अविवेक।
हित अनहित सोचै नहीं, हियै विसनकी टेक॥"

तुम्हें पाप-कर्मका भय नहीं है; कार्य-अकार्यकी सुध नहीं है; लोक लाजकी परवा नहीं है। विषयांध होकर अपनी आत्माका घोर पतन कर रहे हो और चाहते हो उस पापमे मुझे भी शामिल करना। पर सखे, जरा विवेकसे काम लो-होश संभालो ! छोटे भाईकी स्त्रीको भृष्ट करके क्या तुम सुखी हो सकोगे ? भाई मरु-

भूति जब तुम्हारी काली करतूतको जानेगा तो कितना दुखी होगा। कितना भोलाभाला, धर्मात्मा और आज्ञाकारी वह तुम्हारा भाई है। फिर राज्यका भी जरा भय करो। यह मत समझो कि तुम्हारे इस दुष्कर्मको कोई जान नहीं पायगा। यह वात नहीं है। राजाके कानोंतक यह खबर पहुंची तो फिर तुम्हारी क्या दशा होगी, यह सोचो। वस, कहना मानो। विसुन्दरीका ध्यान छोड़ो!

कमठके मित्र कलहंसने उसको हर तरहसे समझाया—ऊंच नीच सब कुछ सुझाया पर उसकी समझमें कुछ न आया। सच है जिसका भविष्य दुखद होता है उसको कितना ही कोई सन्मार्गको सुझाए पर यह सब अरण्यरोदनवत होता है। कामीपुरुषको हेयाहेयका कुछ ध्यान नहीं रहता। वह अपने कुत्सित प्रेममें अंधा होजाता है। कमठका भी यही हाल था। कविवर भूधरदासजी भी इस विषयमें यही कहते हैं:—

"यों कलहंस अनेक विध, दई सीख सुखदैन।
ते सब कमठ कुसीलप्रति, भये विफल हितबैन॥
आयुहीन नरको जथा, औषधि लगै न लेस।
त्योंही रागी पुरुष प्रति, वृथा धरम-उपदेश॥"

मंत्री-पुरोहित विश्वभूतिका ही ज्येष्टपुत्र यह कमठ था। वचपनसे ही इसका स्वभाव कुटिल रहा था। यह मतिका हेठा था। इसके विपरीत इसका छोटा भाई मरुभूति विल्कुल सरल-स्वभावी था। एक ही कोखसे जन्मे हुये यह दोनों विष और अमृततुल्य थे, यही एक अनोखी वात है।

राजमंत्री विश्वभूतिके दीक्षा ग्रहण कर जानेके वाद कमठ

और मरुभूति आनन्दसे रह रहे थे कि अचानक राजा अरविंदने अपने शत्रु राजा वज्रवीरऊपर चढ़ाई कर दी थी। दलबल सहित दोनों राजा रणक्षेत्रमे आए और घोर सग्राम होने लगा था। मरभूति भी राजाके साथ रणक्षेत्रमे गया था। इधर कमठकी बन आई। वह निरंकुश हो प्रजाको तरह २ के कष्ट देने लगा। इसी बीचमें उसकी कुदृष्टि मरुभृतिकी स्त्री सती विसुन्दरी पर पड़ गई थी और वह कामातुर हो उसको पानेके उपाय करने लगा था, यह पाठकगण ऊपर पढ़ चुके है। अस्तु;

कलहंसने जब देखा कि कमठ विसुन्दरी विना विह्वल होरहा है: तव वह भी न्यायमार्गसे फिसल पड़ा! कुमतिके फंदेमें पड़कर वह धोखेसे कमठके बीमार होनेका वहाना बताकर विसुन्दरीको उसके पास लिवा लाया। विचारी अजान वनिता इसके प्रपचको क्या जाने? वह सरल स्वभावसे वहां चली आई। कमठको अब भी लज्जा न आई। पापीने उसके शीलको भंग किया और दुर्गतिमें अपना वास बनाया।

इतनेमे राजा अरविंद अपने शत्रुको परास्त करके सानन्द अपने नगरको लौटे। नगरमे पहुंचनेपर उनको कमठकी सब काली करतूतें मालूम पड गई। सचमुच कमठके पापोंका घडा भर गया था-बस, उसके फूटनेकी ही देरी थी। वह भी दिन आ गया। राजाने उसे देशनिकालेका दंड देना निश्चित कर लिया! सरल-स्वाभावी मरुभूतिने भाईके प्रेमसे विह्वल होकर एकवार उसे क्षमा करनेके लिए भी कहा; पर राजाने अनीति मार्गको रोकनेके लिए कमठको दण्ड देना ही निश्चित रक्खा!

राज आज्ञाके अनुसार कमठका काला मुंह करके गधेपर चढ़ाया गया और वह देशसे निकाल दिया गया। कुशीलवान कमठ महा दुःखी हुआ पर उसे अपनी करनीका फल मिल गया। पाप किसकी रियायत करता है? विलखता हुआ वह भूताचल पर्वतके पास पहुचा। वहां तापस लोगोंका आश्रम था, हठयोगमें लीन वे लोग अधोमुख लटककर, धुंआ पान करके, ऐसी ही क्रियाओसे कायक्लेश सहन कर रहे थे। कमठने उनके पास जाकर दीक्षा ग्रहण कर ली और वह भी अपनी कायाको तपाने लगा।

इधर विचारे मरुभूतिको अपने ज्येष्ठ भ्राताकी इस दुर्दशापर बहुत दुःख हुआ और सहसा वह उसको भुला न सका। जब उसे यह मालूम हुआ कि कमठ अमुक तापसोंके निकट तपश्चरण तप रहा है, तब उसने उनके निकट जाना आवश्यक समझा। राजाने कमठके खल स्वभावके कारण उसके पास जानेके लिए मरुभूतिको मना भी किया परन्तु भाईके मोहसे प्रेरा वह वहां पहुच ही गया। कमठको देखते ही उसका भ्रातृप्रेम उमड़ आया! वह चट उसके पैरोंपर गिर पडा और उससे हरतरहसे क्षमायाचना करने लगा। इस सरलताका कमठके वक्र हृदयपर उल्टा ही प्रभाव पडा। वह क्रोधमें कापने लगा और क्रूर कोपके आवेशमें उसने एक शिला उठाकर मरुभूतिके सिरमें दे मारी। मरुभूतिके लिये वह काफी थी। आर्तध्यानने मरुभूतिको आ घेरा। उसके प्राण-पखेरू उस नश्वर शरीरको छोड चल वसे। वह अन्त समय खोटे परिणामोंसे मरकर सल्लकी वनमें वज्रघोष नामक वनहाथी हुआ! परिणामोंकी वक्रताके कारण ही उसे पशुयोनिमें जन्म लेना पडा!

मनुष्योंके विचारों अथवा परिणामोंका बड़ा गहरा संबध उनकी भलाई-बुराईसे लगा हुआ है। अच्छे विचार होंगे, तो परिणाम भी अच्छे होंगे और परिणाम अथवा मनके अच्छे होनेपर ही वचन और कार्य अच्छे हो सकेंगे, किन्तु इसके विपरीत बुरे विचारो और परिणामोसे बुरे कार्य होगे जिनका फल भी बुरा होगा। इस वैज्ञानिक नियमका ही शिकार बिचारा मरुभूति बन गया! अन्तिम स्वांसमें उसने हलाहल विष चख लिया, जिससे वह पहले चौकन्ना रहता था। अस्तु;

दूसरी ओर कमठको भी अपने बुरे कार्यका दुष्परिणाम शीघ्र ही चखना पडा।

तापसियोंने उसके इस हिंसक कर्मसे चिढकर उसे अपने आश्रमसे निकाल बाहर कर दिया। वह दुष्ट वहांसे निकलकर भीलोमे जाकर मिला और चोरी करनेका पेशा उसने गृहण कर लिया। आखिर इसतरह पापकी पोट बांधकर वह भी मरा और मरकर कुर्कुट सर्प हुआ। उसके बुरे विचार और बुरे कार्य उसकी आत्माको पशुयोनिमे भी बुरी अवस्थामें ले गये। जैसा उसने बोया वैसा पाया।

सचमुच जीवोको अपने२ कर्मोका फल भुगतना ही होता है। जो जैसी करनी करता है वैसी ही उसकी गति होती है। मरुभूतिने भी आर्तरूप विचारोके कारण पशुयोनिके दुःखमें अपनेको पटक लिया। क्रोधके आवेशमे सगे भाइयोंमें गहरी दुश्मनी पड़ गई, जो जन्म जन्मान्तरोतक न छूटी यह पाठक अगाडी देखेंगे! अतएव क्रोधके वशीभूत होकर प्राणियोको वैर बांधना उचित नहीं है।

किन्तु पाठकगण, शायद आप विस्मयमे होगे कि इन विश्वभूति, मरुभूति, और कमठका सम्बन्ध भगवान पार्श्वनाथसे क्या ? भगवान पार्श्वनाथ तो जैनधर्ममे माने गए चौवीस तीर्थंकरोंमेंसे तेईसवें तीर्थंकर थे । उनका इन लोगोंसे क्या सरोकार ? किन्तु पाठकगण, धैर्य्य रखिये । जरा ध्यान दीजिये, जितने भी भारतीय दर्शन एवं यूनान आदि देशोके जो प्राचीन धर्म थे, उनमे परलोक और संसार परिभ्रमण अर्थात् आवागमन सिद्धान्त स्वीकार किया हुआ मिलता हैं । जैनधर्ममें भी इन सिद्धान्तोको स्वीकार किया गया है। इसी अनुरूप वह प्रत्येक आत्माको संसारमे अनादिकालसे चक्कर लगाते और अपने कर्मोके अनुसार दु.ख सुख भुगतते मानता है । जैन पुराणोमें जिन महापुरुषोंके दिव्य चरित्र वर्णित किये गये हैं; वहा उनके पहलेके भवोंका भी वर्णन दिया हुआ है । इसी तरह जैन पुराणोंमें भगवान पार्श्वनाथके पहलेके नौ भवोंका वर्णन बतलाया गया है । इन नौ भवोंका प्रारंभ मरुभूतिके जीवनसे होता है । मरुभूतिका जीव ही उन्नति करते २ दसवें भवमें भगवान पार्श्वनाथ होजाता है । इस कारण यहांपर मरुभूति और कमठके वर्णनमें हम भगवान पार्श्वनाथके प्रथम भव वर्णनका दिग्दर्शन करते है । इन दोनों भाइयोंका सवन्ध अन्त तक एक दूसरेसे इसी तरहका रहेगा । यह परिणामोंकी विचित्रता और कर्मोके अचूक फलका दृश्य है !

---

(३)

राजर्षि अरिविंद और वनहस्ति।

"ज्यों माचन-कोदों परभाव, जाय जथारथ दिष्टि स्वभाव।
समझै पुरुष और की और, त्योंही जगजीवनकी दौर॥"

सल्लकी वनमें घोर हाहाकार मचा हुआ है। कोई किसी ओर भागा जारहा है, कोई किसी ओर झाड़ियोमे घुमकर प्राण बचा रहा है; और कोई भयके कारण बुरी तरह चिल्ला रहा है। चारो ओर कोलाहल मचा हुआ है, मानो साक्षात् प्रलय ही आनकर उपस्थित होगई है। वह देखो वज्रघोष हाथी, जिसके गण्डस्थलसे मद झर रहा है, मदमाता होकर यहां ठहरे हुए इस यात्री-संघ पर टूट पड़ा है। कुपित हुआ ऐसे त्रास देरहा है कि सबको प्राणोंके लाले पडे हुये है। वह मानो इस संघको यह शिक्षा देरहा है कि 'दूसरेकी जीवनचर्यामे बाधा डालना ठीक नही। मैं आनन्दसे अपनी हथनियोंके साथ इस वनमें आनन्दक्रीडा किया करता था, तुमने बीचमे आकर यह क्या अड़गा डाल दिया। लो, इसका फल चाखो।' मत्त हाथी रोषवान हुआ इसतरह बुरीतरह हिंसाकर्म रत होरहा था।

परन्तु जरा नजर बढ़ाइये। यह हाथी अपनी विद्युद्गतिसे क्यों शिथिल होता जारहा है। अरे, यह तो अपनी क्रूरता भी छोड़ता जा रहा है, शांति इसके निकट आती जा रही है। क्या कारण है कि यह यहां इन मौनी साधुके सामने चुपचाप खड़ा होकर एकटक उनकी ओर निहार रहा है? साधु महाराजका दिव्य शरीर है। उनके उरस्थलमें श्रीवत्सका लक्षण सोह रहा है,

तपश्चरणके कारण शरीर कृश हो चुका है; पर आत्मतेजका प्रभाव उनके सुन्दर मुखपर छागया है कि मानो सूर्य ही उग रहा है। वन हस्ती भी इस दिव्य पुरुषके सामने अवाक् होरहा। अपने दुष्कर्मको बिल्कुल ही भूल गया! आत्मतेजका प्रभाव ही ऐसा होता है!

आजकल आत्मवादकी प्रगति प्राय शिथिल होगई है। इसी कारण लोगोंको आत्माकी अनन्तशक्तिमें बहुत कम विश्वास है। भौतिकवादके झिलमिले प्रकाशने ही उनकी आंखें चुंधिया दीं है, परन्तु अब जमाना पलटता जा रहा है। लोग फिरसे आत्म-वादके महत्वको समझते जा रहे है और आत्माकी अनन्तशक्तिमें विश्वास करने लगे है। सचमुच आत्माकी अमोघ अनन्तशक्तिके समक्ष कोई भी कार्य कठिन नहीं है। फिर भला, अगर वनहाथी वज्रघोष मुनिके अलौकिक आत्मरूपके सामने नतमस्तक होजावे तो कौनसे आश्चर्यकी बात है? वह जमाना तो आत्मवादके प्रचंड अभ्युदयका था। मनुष्योंमें ही क्या, बल्कि पशुओं तकमें आत्म प्रभाव अपना असर किये हुए था। इसी कारण पुण्य भावनाओंने वातावरणको विशेष धर्ममय बना दिया था, जिससे उस समयके प्राणी भी हर बातमें आजसे विशेष उन्नतिशाली थे। उनका मान-सिक ज्ञान खूब ही बढ़ा चढ़ा था। यहांतक कि पूर्वभवकी स्मृति पशुओं तकको होजाती थी। वज्रघोष हाथीको भी मुनिके उरस्थल पर श्रीवत्सका चिन्ह देखकर अपने पूर्वभवका स्मरण होआया था।

पाठको, यह दिव्य साधु राजा अरविंद ही थे। सल्लकी वनमें यह राजर्षि रूपमें विराजमान थे। मरुभूतिकी मृत्युके उपरान्त यह एक रोज बादलोंकी उथलपथल देख रहे थे, कि देखते ही देखते

उनमेंका एक सुन्दर दृश्य आंखोंसे ओझल होगया। राजाको यह देखकर दुनियांकी सब चीजें अथिर जचने लगी। क्षणभंगुर जीवनको आत्म-कल्याणमें लगाना उन्होने इष्ट जाना। वह परम दिगंबर मुनि होगये। बारह प्रकारका घोर तपश्चरण तपने लगे। आत्म-ध्यानमें सदैव तल्लीन रहने लगे। उनके ज्ञानकी भी वृद्धि होने लगी। इसी अवस्थामें वे अरविंदराजर्षि श्री सम्मेदशिखरजीकी वंदना हेतु संघ सहित जारहे थे, सो सल्लकी वनमे आकर ठहरे हुये थे। इसी समय उस मरुभूतिके जीव हाथीने इनपर आक्रमण किया था।

जिसका भला होना होता है, उसको वैसा ही समागम मिलता है। बिल्लीके भाग्यसे छीका टूट पड़ता है। वज्रघोष हाथीके सुदिन थे कि उसे इन पूज्य राजर्षिके दर्शन होगए। हाथी विनयवान होकर इनके समक्ष खड़ा होगया। अपने पूर्वभवका सम्बन्ध याद करते ही उसने अपना शीश राजर्षिके चरणोमे नवां दिया! सबका हित चाहनेवाले उन राजर्षिने इसकी आत्माके कल्याण हेतु उत्तम उपदेश दिया-बतलाया कि हिंसा करने-दूसरेके प्राणोंको तकलीफ पहुंचानेसे दुर्गतिका वास मिलता है, क्योकि हिंसा जीवोंको दुःख-कारक है। कोई भी जीव तकलीफ नहीं उठाना चाहता, इसलिए दूसरोंको कष्ट पहुंचानेके लिए पहले स्वयं अपने आप तकलीफ उठानी पड़ती है। फिर कहीं उसका अनिष्ट हो पाता है। इस-कारण यह हिंसा पापका घर है। इसका त्याग करना ही श्रेष्ठज-नोका कार्य है। क्रोधके वशीभूत होकर वन-हस्तीने अनेको जीवोंके प्राणोको कष्ट पहुंचाकर वृथा ही अघकी पोट अपने सिरपर धरली! इसी हिंसाकृत्य, आर्तभाव, अपनी आत्माको हननेके कारण यही

मरुभूति ब्राह्मण पशुकी योनिमें आन पडा ।

राजर्षिके मार्मिक उपदेशने हाथीके हृदयको पलट दिया । पशु पर्यायके दुःखोंसे छूटनेके लिए उसने सम्यग्दर्शन पूर्वक अणुव्रतोंको धारण कर लिया । धर्म भावना उसके हृदयमें जागृत हो गई । राजर्षि तो अपने मार्ग गए और वह हस्ती धर्मध्यानमें दिन बिताने लगा। एक पशुके ऐसे धर्मकार्यपर अवश्य ही जीको सहसा विश्वास नहीं होता; किन्तु इसमें अचरज करनेकी कोई बात नहीं है । पशुओंमें भी बुद्धि होती है । वह स्वभावतः आवश्यक्ताके अनुसार यथोचित मात्रामें प्रगट होती है । उनके प्रति यदि प्रेमका व्यवहार किया जाय और उनकी पशुताको दूर करके उनकी बुद्धिको जागृत कर दिया जाय, तो वह अवश्य ऐसे२ कार्य करने लगेंगे कि जिनको देखकर आश्चर्य होगा । आज भी ऐसे२ शिक्षित बैल और बकरे देखे गए हैं कि जो अपने खुरोसे गुणा करके खास अदमियोंके जेबोंमें रक्खे हुए रुपयोंकी संख्या बता देते है और जिस किसीने कोई चीज चुराई हो तो उसके पास जाकर खडे होजाते है । सरकसोंके खेलोंको सब कोई जानता है, साधारणतः कुत्तोंकी स्वामिभक्ति, किसी चीजका पता लगानेकी बुद्धि और सिखानेपर मनुष्योंकी सहायता करनेके प्रयत्न प्रतिदिन देखे जाते है। ये ऐसे उदाहरण हैं जो हमें पशुओंद्वारा उस मनोवृत्तिको प्राप्त करनेकी बातपर विश्वास करनेके लिए बाध्य करते हैं, जिससे हाथी आदि पंचेन्द्रि सैनी जीव धर्माराधन करनेकी योग्यता पा लेते हैं । अस्तु,

हाथी विविध रीतिसे धर्मका अभ्यास करने लगा । त्रस जीवोंकी वह भूल कर भी विराधना नहीं करता था । समताभावको

हृदयमे रखकर वह इन्द्रियोंका निग्रह करने लगा। यहांतक कि गिरे हुये सूखे पत्तों आदिको खाकर पेट भरने लगा और धूपसे तपे हुये प्रासुक जलको धोकर प्यास बुझाने लगा। जिन हथिनियोंके पीछे वह मतवाला बना फिरता था, उनकी तरफ अब वह निहारता भी नहीं था। हरतरहके कष्ट चुपचाप सहन करलेता था—दुर्ध्या-नको कभी पास फटकने नहीं देता था। इसप्रकार संयमी जीवन व्यतीत करता वह कृषतन होगया। पचमपरमेष्ठीका ध्यान वह निसिवासर करता रहा। एक रोज हत्भाग्यसे क्या हुआ कि वह वेगवती नदीमें पानी पीने गया था, वहांपर दलदलमें फस गया। बाहर निकलना बिल्कुल मुहाल होगया। इस तरह असमर्थता निहार-कर हाथीने सन्यास ग्रहण करना उचित समझा। वह समाधि धारण-कर वहां वैसाका वैसा ही स्थित खड़ा रहा। प्रबल पुण्यप्रकृतिके प्रभावसे निपट दुर्बुद्धियोंको भी सन्मार्गके दर्शन होजाते हैं और वह उसपर चलनेमें हर्ष मनाते है, इसमे आश्चर्य करनेकी कुछ बात नही!

हाथी बिचारा सन्यास साधन किये हुये वहा खड़ा ही था, कि इतनेमें पूर्वभवके कमठका जीव, जो मरकर इसी वनमें कुर्कुट हुआ था, इधर आ निकला। हाथिको देखते ही उसे अपने पहले जन्मकी बातें याद आगईं। क्रोधसे वह तिलमिला गया। झटसे उसने मरुभूतिके जीव उस सयमी हाथीको डस लिया! शुभभावोसे देह त्यागकर भगवान पार्श्वनाथके दूसरे भवका जीव यह हाथी सहस्रार नामक बारहवें स्वर्गमें बड़ी ऋद्धिको धारण करनेवाला देव हुआ। और कमठका जीव—यह सर्प मरकर पापोंके कारण पांचवे नर्कमें पहुंचा! यहां अपनी २ करनीका फल प्रत्यक्ष है।

जैनशास्त्रोंमें तीर्थंकर पद मनुष्य भवका सर्वोच्च दर्जा माना गया है और उसका अधिकारी हरएक प्राणी होसक्ता है, यदि वह वहां बताये गये नियमोंका पूर्ण पालन अपने जन्मान्तरोंमें करले। वह नियम इस तरह बताए गए हैं —

(१) दर्शनविशुद्धि—सम्यग्दर्शन, आत्मश्रद्धानकी विशुद्धता प्राप्त करना।

(२) विनयसम्पन्नता-मुक्ति प्राप्तिके साधनों अर्थात् रत्नत्रयके प्रति और उनके प्रति जो उसका अभ्यास कररहे हैं विनय करना।

(३) शील व्रतेष्वनतिचार—अतीचाररहित अर्थात् निर्दोष रूपसे पांच व्रतोंका पालन और कषायोंका पूर्ण दमन करना।

(४) अभीक्ष्ण ज्ञानोपयोग—सम्यग्ज्ञानकी सलग्नतामें—स्वाध्यायमें अविरत दत्तचित्त रहना।

(५) संवेग—संसारसे विरक्तता और धर्मसे प्रेम रखना।

(६) शक्तितस्त्याग—यथाशक्ति त्यागभावका अभ्यास करना।

(७) शक्तितस्तप—शक्ति परिमाण तपको धारण करना।

(८) साधुसमाधि—साधुओंकी सेवासुश्रूषा और रक्षा करना।

(९) वैयावृत्य करना—सर्व प्राणियों खासकर धर्मात्माओंकी वैयावृत्य करना।

(१०) अर्हद्भक्ति-अर्हत् भगवानकी भक्ति करना।

(११) आचार्यभक्ति—आचार्य परमेष्टीकी उपासना करना।

(१२) बहुश्रुतभक्ति—उपाध्याय परमेष्टीकी भक्ति करना।

(१३) प्रवचनभक्ति—शास्त्रोंकी विनय करना।

(१४) आवश्यकापरिहाणि—षडावश्यकोंके पालनमें शिथिल न होना।

(१५) मार्गप्रभावना—मोक्षमार्ग अर्थात् जैनधर्मकी प्रभावना करना; और

(१६) प्रवचनवत्सलत्व—मोक्षमार्गरत साधर्मी भाइयोंके प्रति वात्सल्यभाव रखना।

इन्हीं सोलह नियमोंका पूर्ण पालन मरुभूतिकी आत्माने अपने नौ जन्मान्तरोंमें करलिया था, जिसके ही प्रभावसे वह परमोच्च तीर्थकरपदको पहुंचा था—साक्षात् परमात्मा भगवान पार्श्वनाथ हुआ था। बात यह है कि इसलोकमें एक सूक्ष्म पुद्गल वर्गणायें भरी पड़ीं हैं, जो जीवात्माके शुभाशुभ मन, वचन, काय क्रियाके अनुसार उसमें आकर्षित होती रहती हैं। जीवात्माका सम्बन्ध इस पुद्गलसे अनादिकालसे है और वह निरतर मन, वचन, कायकी शुभाशुभ क्रियाके अनुसार बढ़ता रहता है। उस समयतक यह क्रम जारी रहता है जबतक जीवात्मा जो स्वभावमें चैतन्यमई है, इस पौद्गलिक सम्बन्धसे अपना पीछा नहीं छुड़ा लेता है। इस सनातन नियमका खुलासा परिचय पाठकगण अगाड़ी पायेंगे, परन्तु यहांपर यह ध्यानमें रख लेना उचित है कि इसी नियमके बल मरुभूतिका जीव अपने अशुभ मन, वचन, काय योगके परिणाम स्वरूप दुर्गतिमें गया और पशु हुआ था किंतु उसी अवस्थासे धर्मका आराधन जन्मान्तरोंमें करते रहनेसे वह उत्तरोत्तर उन्नति करता गया और आखिर वह इस योग्य बन गया कि पौद्गलिक संसर्गका बिल्कुल अन्त कर सका! इससे कर्मसिद्धान्तका प्रभाव स्पष्ट होजाता है। अस्तु।

सहस्रार स्वर्गके स्वयंप्रभ विमानमें मरुभूतिका जीव जो आगामी चलकर जगतपूज्य २३वें तीर्थंकर पार्श्वनाथजी हुआ था, वह

शशिप्रभ नामक देव हुआ। अवधिज्ञानके वल उस देवने अपने पूर्व भवमे किये गये व्रतोका माहात्म्य जान लिया। सो यहां भी वह खुव ही मन लगाकर भगवद्भजन करने लगा। महामेरु, नंदीसुर आदि पूज्यस्थानोंमें जाकर वह वडे भावसे जिन भगवानकी पूजन-अर्चन करता था। सोलहसागर तक वह स्वर्गोंके सुखोका उपभोग करता हुआ विशेष रीतिसे पुण्य संचय करता रहा। अंतमें वहांसे चयकर वह देव जंवूद्वीप पूर्व विदेहके पुष्कलावती देशके उन्नतशैल विजयार्धपर वसे हुये विशाल नगर लोकोत्तमपुरके राजा भृपाल और रानी विद्युत्मालाके अग्निवेग नामक सुन्दर राजकुमार हुआ।

राजकुमार अग्निवेग वडा ही सौभाग्यशाली, सोमप्रकृति, प्रवीण और सकल शुभ लक्षणोका धारी था। पूर्वसंयोगसे इस भवमें भी उसकी भक्ति श्री देवाधिदेव जिनदेवके चरणोंमें कम नही हुई थी। पुण्यात्मा जीवोको धर्म हरजगह सहाई होता है। राजकुमार अग्निवेग सबके लिए सुखका ही कारण थे। युवा होनेपर इन्होंने राज्यसंपदाका उपभोग किया। एकरोज इनका समागम एक स्वपर-हितकारी साधु महाराजसे होगया। इन्होंने उनकी विशेष भक्ति की और उनका उपदेश सुनकर इनके हृदयमें वैराग्यकी लहर उमड़ आई—यह मुनि होगये।

राजर्षि अग्निवेग तिलतुष मात्र परिग्रहतकका त्याग करके परम तपोंको तप रहे थे कि अचानक पूर्वसंयोगसे अपने मरुभूतिके पूर्वभवमें वांधे हुये वैरके कारण कमठका जीव नर्कसे निकल करके जो फिर अजगर सर्प हुआ था, इनके पास आ धमका! हिमगिर गुफामें अवस्थित इन धीरवीर मुनिराजको इसने फिर डस लिया।

इस तरह इनका यह चौथा भव भी आपसी वैरका बदला चुकानेसे खाली न गया ! मुनिराजने समभावसे प्राण विसर्जन किये, इस लिये वह तो सोलहवें स्वर्गमें पहलेसे भी ज्यादा भोगोंके अधिकारी हुये, और कमठका जीव वह अजगर पापदोषके वशीभूत होकर छठे नर्कमे जाकर पड़ा, जहा दारुण दुःख भुगतने पड़ते हैं। तीव्र वैर बांधनेके परिणामसे उसे वारम्वार घोर यातनाओंका कष्ट सहन करना पड़ता रहा ! सचमुच क्रूर परिणामोकी तीव्रता भव भवमें दुखदाई है ! जीवका यदि कोई सहाई और सुखकारी है तो वह एक धर्म ही है। कवि भी उसके पालन करनेका उपदेश देते हैं:-

"आदि अन्त जिस धर्मसौं सुखी होय सब जीव।
ताकों तन मन वचन करि, रे नर सेव सदीव॥"

---

(४)

चक्रवर्ती वज्रनाभि और कुरंग भील !

"बीज राखि फल भोगवैं, ज्यों किसान जग मांहि।
त्यों चक्री नृप सुख करें, धर्म बिसारै नांहि॥"

आजकलके लोगोंको संसारके एक कोनेका भी पूरा ज्ञान नहीं है। पाश्चात्य देशोके अन्वेषकों और विद्यावारिधियोने जिन स्थानों और जिन बातोंकी खोज कर ली है, वह अभी न कुछके बराबर हैं। नित नये प्रदेश और नई २ बातें लोगोके अगाड़ी आती हैं। परन्तु भारतके पूर्व इतिहासको देखते हुये हम उनमें कुछ भी नवीनता नहीं पाते हैं। भौगोलिक सिद्धान्तोमे भी अब पश्चिम भारतके सिद्धान्तोंको माननेके लिये तैयार होता जारहा है। ऐसे

ऐसे विद्वान् भी अगाड़ी आ रहे हैं जो सप्रमाण पृथ्वीको स्थिर बतलाने लगे है । सारांश यह कि इस जमानेमें जो उन्नति हुई है, वह अपनी पराकाष्टाको नहीं पहुंची है । वल्कि जैन ग्रंथोंके वर्णनको ध्यानमें रखकर हम कह सक्के है कि अभी सेरमे पौनी भी नहीं कनी है । अतएव उन्नतिकी इस नन्हीं अवस्थामें यदि पहिले जैसी वातो और देशोंका पता हमे न चले और हम उन्हें अचंमे जैसा मान लें, तो उसमें विस्मय ही कौनसा है ? यह हमारी संकुचित वुद्धिका ही दोष है ! अस्तु, यहांपर इस कथामें विस्मय करनेकी कोई आवश्यक्ता नही है ।

मरुभूतिका जीव जो अच्युत स्वर्गमें देव हुआ था, वह वहां अपने सुखी दिन प्राय पूरे कर चुका । पाठकगण, उसके लिये स्वर्गसुखोंको छोडना अनिवार्य होगया । वहासे चयकर वह वज्रवीर नामक भूपालके यहा बड़ा भाग्यवान पुत्र हुआ । यह राजा पद्मदेशके अस्त्रपुर नगरके अधिपति थे । जम्बूद्वीपके मध्यभागमें अवस्थित मेरु पर्वतके पश्चिम भागमे एक अपरविदेह नामक क्षेत्र वताया गया है । यह वडा ही पुण्यशाली क्षेत्र है । यहाके जीवोंके लिये मोक्षका द्वार सदा ही खुला रहता है । यहा जैन मुनियोंका प्रभाव चहुओर फैला मिलता है । अहिंसा धर्मकी शरणमें सव ही जीव आनन्दसे काल यापन करते है । इसी क्षेत्रमे अस्त्रपुर नगर था ।

राजा वज्रवीर वडे नीतिनिपुण जिनराजभक्त राजा थे । उनकी पटरानी विजया वडी ही सुलक्षणा और सुकुमारी थी । एकदा पुर्वपुन्यवशात रानीने सोते हुये रातके पिछले पहरमें पाच शुभ स्वप्न देखे । पहले मेरुपर्वत देखा, फिर क्रमसे सूर्य, चंद्र, विमान

और सजल सरोवर देखे। प्रातः होते ही वह अपने प्रियतम राजा वज्रवीरके पास पहुंची और बड़ी विनयसे रातके स्वप्नोंका सब हाल उनसे कह सुनाया। राजा इन स्वप्नोंका हाल सुनकर बहुत खुश हुआ। उसने रानीसे कहा कि तेरे एक प्रधान पुत्र होगा। स्वप्नोंका यह उत्तम फल सुनकर रानीको भी बड़ा हर्ष हुआ। नियत समय पर भाग्यवान पुत्रका जन्म हुआ; जिसका नाम इन्होंने वज्रनाभि रक्खा और यह जीव अच्युत स्वर्गका देव ही था। यह भगवान पार्श्वनाथका छट्ठा पूर्वभव समझना चाहिए।

क्रमकर राजपुत्र वज्रनाभि युवावस्थाको प्राप्त हुये। इस अवस्थाको पहुंचते २ इन्होने शस्त्र-शास्त्र आदि विद्याओंमें पूर्ण निपुणता प्राप्त कर ली थी। आजकलके रईसोंकी भांति इनके पिताने इनका बालपनमे विवाह करके ही इन्हें विद्या और स्वास्थ्य-हीन नहीं बना दिया था बल्कि यह जब सब तरहसे निष्णात होगये थे, तब इनका विवाह संस्कार राजाने कराया था। विवाह होनेपर यह अपनी सुन्दर रानियोंके साथ मनमाने भोग भोगने लगे। अन्तमें राज्यभार इनको प्राप्त हुआ और यह बड़ी कुशलता पूर्वक राज्यप्रबंध करने लगे थे।

वज्रनाभि नीतिपूर्वक राज्य कर रहे थे, कि इनको समाचार मिले कि राजाके आयुधगृहमे चक्ररत्न उत्पन्न होगया है। यह सुनकर इनको बडा हर्ष हुआ और यह छहों खंड पृथ्वीको विजय करके धर्मराज्य स्थापित करनेके लिये घरसे निकल पड़े। लोकके प्राणियोंकी हित चिन्तनासे वह व्यग्र हो उठे और धर्मचक्रका माहात्म्य वह चहुंओर फैलाने लगे। जैनशास्त्रोंके अनुसार चक्र-

वर्तियोंके लिये अपूर्व सामिग्रीका प्राप्त करना और सार्वभौमिक सम्राट् होना अनिवार्य है। इसी अनुरूप राजा वज्रनाभि भी छह खंडकी विजय करके चक्रवर्ती पदको प्राप्त हुये। सार्वभौमिक सम्राट् होगए। प्रबल पुण्यसे अटूट सम्पदा और भोगोपभोगकी सामिग्रीका समागम इनको हुआ था। जिन राजाओंको इनने परास्त किया था, प्राय. उन सबने ही इनकी बहुत कुछ नजर भेंट की थी तथा अपनी सुकुमारी कन्याओंका पाणिग्रहण भी इनके साथ कर दिया था। इन राजाओंमें बत्तीस हजार म्लेच्छ राजा भी थे। इनकी कन्यायोंके साथ भी राजा वज्रनाभिने विवाह किया था। उस समय विवाह सम्बंध करना एक नियत परिधिमें संकुचित नहीं था बल्कि वह बहुत ही विस्तृत था। यहां तक कि उच्चकुली मनुष्योंके लिए शूद्र और म्लेच्छों तकमें विवाह सम्बध करना मना नहीं था, जैसे कि सम्राट् वज्रनाभिके उदाहरणसे प्रकट है।

इस तरह सार्वभौमिक सम्राट्पदको पाकर राजा वज्रनाभि सानन्द राज्य कर रहे थे। वह अपने विस्तृत राज्यकी समुचित रीतिसे व्यवस्था रखते थे, परन्तु इतना होते हुए भी वह अपने धर्मको नहीं भूले हुये थे। अर्थ और कामकी वेदीपर धर्मकी बलि नहीं चढ़ा चुके थे, जैसे कि आजकल होरहा है। योंही सुखसागरमें रमण करते हुए सम्राट् वज्रनाभि कालयापन कर रहे थे, कि एक रोज शुभ कर्मके संयोगसे क्षेमंकर नामक मुनि महाराजका समागम हो गया। भक्तिभावसे सम्राट्ने उनकी वन्दना की और मन लगाकर उनका सर्व हितकारी उपदेश सुना। मुनि महाराजका उपदेश इतना मार्मिक था कि उसने वज्रनाभि सम्राट्का हृदय फेर दिया। वह

अपने विशद साम्राज्य और अतुल संपदाको कौडीके मोल बराबर समझने लगे। छयानवे हजार सुन्दरसे सुन्दर रानियां भी उनके दिलको अपनी ओर आकर्षित न कर सकीं। पूरा वैराग्य उनके दिलमें छा गया, सारा संसार उनको असार दीखने लगा। राजभोग भोगते जहां सार ही सार नजर आता था, वहां अब उन्हें कुछ भी सार न दिखाई पडता था। लौ लगी थी शाश्वत सुख पानेकी इसलिए उनकी भ्रमबुद्धि उसी तरह भाग गई जिस तरह सूरजके निकलते ही अंधकार भाग जाता है। वस्तुओंका असली स्वरूप उनकी नजरमे आ गया। वे विचारने लगे:—

'इस ससार महावन भीतर, भ्रमते ओर न आवे।
जामन मरन जरा दों दाझ्यो, जीव महादुख पावे॥
कव ही जाय नरकथिति भुजै, छेदन भेदन भारी।
कव ही पशु परजाय धरै तहँ, वध वधन भयकारी॥
सुरगतिमे पर सपति देखै, राग उदय दुख होई।
मानुष जोनि अनेक विपतिमय, सर्व सुखी नही होई॥"
"मोह उदय यह जीव अग्यानी, भोग भले कर जानै।
ज्यों कोई जन खाय धतूरो, सो सब कचन मानै॥
मै चक्री पद पाय निरतर, भोगे भोग घनेरे।
तोभी तनिक भये नहीं पूरन भोग मनोरथ मेरे॥
सम्यग्दरसन ग्यान चरन तप, ये जियके हितकारी।
ये ही सार, असार और सव, यह चक्री चित धारी॥"—पार्श्वपुराण

चितमें दृढ़ता धारण करके सम्राट्‌ने अपने पुत्रको राज्य भार सौंपा और आप अनेक राजाओंके साथ निःशल्य होकर मुनि हो गये। गुरु चरणोंके निकट जैनमुनिके पंच व्रतोंको धारण कर लिया। अपनी अलौकिक विभूतिका जरा भी मोह नहीं किया। कानी

कौड़ीकी तरह उसे नि संकोच भावसे पैरोंसे ठुकरा दिया और घोर तपश्चरण करने लगे। सदा आत्मध्यानमें लीन रहने लगे। अपने मनुष्य जन्मको सफल बनाने लगे।

एक रोज राजर्षि वज्रनाभि कायोत्सर्ग एक वनमें विराजमान थे, कि इनके पूर्वभवका वैरी कमठका जीव वहां आपहुंचा। कमठका जीव अजगर जो मरकर छठे नर्कमें गया था वह वहांसे निकल कर किसी पुण्य संयोगसे नर जन्ममें तो आया· पर कुरंग नामक हिंसक भील हुआ। सचमुच जीवोंके किये हुये शुभाशुभ कर्म अपना प्रभाव स्वत ही उचित समय पर दिखाते हैं। भगवान पार्श्वनाथजीके इन पूर्वभवोंके वर्णनसे कर्मके विचित्र परिणामका खासा दिग्दर्शन होजाता है। वैर-बंधके कारण यह कुरंग भील राजर्षिको देखते ही आगबबूला होगया। राजर्षि तो शत्रुमित्रमें समभावको धारण किए हुए थे। उनके निकट उसके कोपका कुछ भी प्रभाव नहीं था· परन्तु यह नीच काहेको माननेवाला था। धनुष-बाण हाथमें लिये हुये था। चटसे बाण धनुषपर चढ़ा लिया और भरताकत खींचकर योगासीन मुनिराजके मार दिया! मुनिराजने इस दुःखदशामें भी धर्मध्यानको त्यागा नहीं! बल्कि उपसर्ग आया जानकर उनने विशेष रीतिसे आत्मसमाधिमें दृष्टिको लीन कर दिया। इस उत्तम दशामें उनके प्राणपखेरू निकलकर मध्यम ग्रैवेयक विमानमें पहुंचे। वहां वे अहमिन्द्र हुये और विशेष रीतिसे आनन्दसुख भोगने लगे।

पहले वहां पहुंचकर उत्पाद सेजसे उठते ही वह भ्रममें पड़ गए कि यहां मैं कैसे आगया? यह कौन स्थान है? इतनेमें ही

अपने अवधिज्ञानके बलसे अपने पूर्वभवका सब संबंध जान लिया ! पुण्य प्रभावका यह प्रत्यक्ष उदाहरण देखकर वह फिर भी जिनेन्द्र भगवानकी पूजन अर्चनामें तल्लीन होगया ! यहां उत्पन्न होनेके कुछ काल बाद ही वह यौवन अवस्थाको प्राप्त होगया और आनंदसे अनेक तीर्थोंमें जाजाकर जिनेन्द्र भगवानकी वन्दना, स्तुति आदि बड़े भावोंसे करने लगा। धर्मतरुको खूब अच्छी तरह सींचने लगा।

इधर वह भील हिंसाकर्ममें रत रहा, मुनिराजकी हत्या करने सदृश महापापके वशीभूत हो वह रुद्रध्यानसे मरा और मरकर सर्व अंतिम नर्कमें जाकर पड़ा। वहांपर वह नानाप्रकारके अनेकानेक महा दुःख भुगतने लगा—अधर्मका कटुफल उसे यहां चखना पड़ा। सचमुच इन्द्रियोंके आधीन हुआ जीव वृथा ही दुःखी होता है। विषयलम्पटी कमठ अपने घोर पापकी बदौलत बराबर दुःख ही उठाता फिरा ! अतएव.—

> "धिकधिक विषयकषायमल, ये वैरी जगमाहिं ।
> ये ही मोहित जीवको, अवसि नरक ले जाहिं ॥
> धर्म पदारथ धन्य जग, जा पटतर कछु नाहिं ।
> दुर्गतिवास बचायकै, धरै सुरग शिव माहिं ॥"

(५)

आनन्दकुमार ।

> "जिनपूजाकी भावना, सब दुखहरन उपाय ।
> करते जो फल संपजै, सो वरन्यौ किम जाय ॥"

वसन्त ऋतु अपनी मनमोहक मुस्कान चारोतरफ छोड रही थी। वनलतायें और दिशा—विदिशायें फूले अंग नहीं समाती थीं।

सुन्दर सुहावना समय था। कामीजनोंके लिये मानो अनङ्गराजने केलिके लिए साक्षात् नन्दनवन ही इस भूतलपर रच दिया था। परन्तु धर्मात्मा सज्जन इस समय भी पुण्योपार्जन करना नहीं भूले थे। नंदीश्वर व्रतका महोत्सव बड़े उत्साहसे इन दिनों किया जाता है।

कौशलदेशके अयोध्या सदृश उत्तम नगरमें इक्ष्वाकुवंशी महाराज वज्रबाहु राज्याधिकारी थे। प्रभाकरी नामकी इनके शीलगुणभरी रानी थी। दोनों ही राजपुरुष जैनधर्मके दृढ़ श्रद्धानी थे। मरुभूतिका जीव अहिमंद्र ग्रैवेयिकसे चयकर इन्हीं राजदम्पतिके यहां सर्वसुखकारी आनन्दकुमार नामक राजकुमार हुआ था। युवा होनेपर इस सुन्दर राजकुमारका अनेक राजकन्याओंके साथ विवाह हुआ था, और फिर यह अपने पिताके पदको प्राप्त हुआ था!

जैन शास्त्रोंमें राजाओंके आठ भेद बतलाये हैं; अर्थात् पहले जमानेमें आठ प्रकारके राजा होते थे, यह जैन शास्त्रोंके वर्णनसे प्रकट है। उनमें बतलाया है कि जो कोटिग्रामका अधिपति होता है, वह राजा कहलाता है। पांचसौ राजा जिसको शीश नमावें वह अधिराजा बतलाया गया है। तथापि एक हजार राजा जिसकी आनमाने वह राजा महाराजा कहलाता है। दो हजार नृप जिसके आधीन हों उसे अर्ध मण्डलीक समझना चाहिये और चार हजार राजा जिसकी शरण आवें वह राजा मंडलीक कहलाता है। आठ हजार भूप जिसकी आज्ञाको शिर धरते हों, वह नृप महामंडलीक माना जाता है। सोलह हजार राजाओंको अपने आधीन रखनेवाला राजा अर्धचक्री बतलाया गया है और बत्तीस हजार राजा जिसका लोहा मानते हों वह चक्रवर्ती राजा कहलाता है। इनमेंसे महामंड-

लीक पद पर राजा आनन्दकुमार आसीन थे।

इसतरह महामंडलीक राजा आनन्दकुमार आनंदसे काल-यापन कर रहे थे कि बसतोत्सवका समागम हुआ। राजमंत्री स्वामिहितने अपने विवेकभरे वचनोसे राजाका मन वनक्रीडा करनेके स्थानपर जिनभवनमें नंन्दीश्वर विधानका परम उत्सव करनेकी ओर फेर दिया! बड़े उत्साहसे पूजन होने लगा। राजा भी बड़े हर्षसे जिनेन्द्रभगवानकी पूजा करनेके लिये वहा पहुंचा और बड़े भक्तिभाव और शात चित्तसे उसने भगवानकी पूजा की। आकुलताका नाम नही—धीरजसे विधिपूर्वक पूजा हुई। राजाका मनरूपी भ्रमर जिनराजके पादकमलोमें मुग्ध होगया। भक्तवत्सल जीव जिनेन्द्रप्रभुके समक्ष अपने द्वैतभावको भूलकर एकमेक होजाते हैं। जिनेन्द्रपूजामे स्वामी और चाकरका सम्बंध नहीं है। वहां जो पूजक है सो पूज्य है, यही भाव प्रधान रहता है। न याचना है—न प्रार्थना है— निशक हृदयसे प्रभुके आत्मीक गुणोमें "अरे; जो वे हैं सो मै हूं" की ध्वनिमे लीन होजाना है—यही जैनपूजा है।

राजा भी ऐसी पूजा करनेको उद्यमशील हुआ था, परन्तु उसके हृदयमे सशय उठ खडा हुआ! सौभाग्यसे विपुलमती नामक मुनिराज भी वहां वदनार्थ आए थे, उनके निकट जाकर राजाने अपने सशयका समाधान करना चाहा। शकाकी निर्वृति करना ही उत्तम है—उसको दवाना सम्यक्त्वमें बट्टा लगाना है—सच्चे श्रद्धानको मलिन करना है। स्वतंत्र विचारो द्वारा प्रत्येक विषयका स्पष्टीकरण करना श्रद्धानको निर्मल और गाढ़ बनाना है। स्वतंत्र विचारोंसे डरनेकी कोई बात नहीं—स्वाधीन रीतिसे तात्विक चर्चा करना परम

उपादेय है। उसको मेटना अश्रद्धानको जन्म देना है। अज्ञानांधकारको मेटनेके लिए विवेकमयी स्वतंत्र विचाररूपी सूर्य ही सामर्थ्यवान है। राजा आनन्दकुमारने स्वतंत्ररीतिसे विचार किया कि पाषाणकी मूर्ति किस तरह हमे पुण्यकी प्राप्ति करा सक्ती है? इसीसे उनको इस बातका अवसर मिला कि वह देवपूजाका सच्चा स्वरूप मुनिराजसे जानकर अपने सम्यक्त्वको दृढ़ करलें। यदि वे चुपचाप रूढ़िवत भगवद्पूजन करके चले आते, तो उनका अज्ञान दूर न होता! इसलिए स्वाधीन रीतिसे तत्वोंका विवेचन करना बुरा नहीं है—पर वहां सच्ची अन्वेषक बुद्धिका होना जरूरी है, इस बातका ध्यान अवश्य रखना चाहिए।

मुनिराजने राजाका समाधान कर दिया, बतला दिया कि जीवके शुभाशुभ भाव कारण पाकर उत्पन्न होते है और उससे ही पुण्य, पाप बंध होता है। जिस तरह स्फटिक पाषाणमें कुसुम वर्णका ढक लगानेसे उसकी द्युति अरुणश्याम होजाती है: उसी तरह जीवकी बात है। उसमें शुभाशुभ भावकर्मके अनुसार अंतर पड़ जाता है। इधर जिन प्रतिमा शुभ भाव उत्पन्न करनेका कारण है ही! क्योंके श्री जिनेन्द्र भगवानकी वीतराग मुद्रा निरखिकर उन भगवानके दिव्य जीवनका स्मरण ही पूजकको आता है। और पुण्यात्मा महापुरुषोंके पवित्र जीवनोंका स्मरण हो आना भावोंको शुभ रूप करनेके लिये अवश्य ही कार्यकारी होता है। इसलिए इस शुभभावके उत्पन्न होनेसे जिनदेवका पूजन पुण्यबंधका कारण है। वैसे अवश्य ही जिनेन्द्र भगवानकी मूर्ति जड़ पाषाण है—रागद्वेषसे रहित, अमल और सुख दुखकी दाता नहीं है। वह दर्पण-

वत है: जैसा दर्पणमें मुह देखोगे वैसा दिखाई पड़ेगा । इसी तरह जिसभावसे जिन भगवानकी प्रतिमाका अवलोकन किया जायगा उसी भावरूप पुण्य-पापका बध पूजकके होगा। पुण्य पाप जीवके निजभावोके आधीन है। जिस तरह एक सुन्दर वेश्याके मृत देह-को देखकर विपयलम्पटी जीव तो पछताता है कि हाय! यह जिन्दा न हुई जो मैं इसका उपभोग करता। एक कुत्ता मनमे कुढ़ता है कि इसे जला ही क्यो दिया गया, वैसे ही छोड देते तो मै भक्षण कर लेता और विवेकी पुरुप उसको देखकर विचारते है कि हाय! यह कितनी अभागी थी कि इस मनुष्य-तनको पाकर भी इसने इसका सदुपयोग नहीं किया! वृथा ही विषयभोगोंमें नष्ट कर दिया; इसी तरह जिनविम्बको देखकर अपनी२ रुचियोके अनुसार लोग उसके दर्शन करते है। वेश्याका निर्जीव शरीर तीन जीवोंको तीन विभिन्न प्रकारके भाव उत्पन्न करनेमे कारणभूत बनगया, यह विल-क्षण शक्ति उसमे कहासे आगई? वह तो जड़ था—उसमें प्रभाव डालनेकी कोई ताकत शेष नही रही थी फिर भी उसके दर्शनने तरह२के विचार तीन प्राणियोके हृदयमें उत्पन्न कर दिये। यह प्रसंग मिल जानेसे जीवोके परिणामोके बदल जानेका प्रत्यक्ष प्रमाण है! इसलिए जिन प्रतिमासे विराग करनेकी कोई जरूरत नही। दृढ़ श्रद्धा रखकर यदि हम उनका आधार लेकर उन तीर्थंकर भग-वानके दिव्यगुणोका चितवन करेंगे जो अपने ही सद्प्रयत्नोसे जगत-पूज्य बन गए है तो अवश्य ही हमे जिनप्रतिमा पूजनसे पुण्यकी प्राप्ति होगी! इसमे संशय नही है।

आज प्रत्यक्षमे अंग्रेजोको देखिये, कोई भी उनको मूर्तिपूजक

नहीं कह सक्ता, किन्तु वह अपने महापुरुषोंके प्रतिबिम्ब देश-विदेशोंमें आदरणीय स्थानोंपर बनाते है और उनको विनय करते हैं। लन्दनके ट्राफलगार स्कायरमें एडमिरल नेलसन साहबकी पाषाण-मूर्ति खड़ी हुई है। अंग्रेज लोग प्रतिवर्ष एक नियत दिवस वहां उत्सव मनाते हैं और मूर्तिपर फूल हार आदि चढ़ाते हैं। इतने पर भी उनका यह कृत्य 'मूर्तिपूजा' के रूपमें नहीं गिना जासक्ता; क्योंकि उनको उस पत्थरकी मूर्तिसे कुछ सरोकार नहीं है सरोकार है तो सिर्फ इतना कि वह उसके निमित्तसे अपनी कृतज्ञता और भक्तिको प्रदर्शित करते हुये अपनेमें एडमिरल नेलसनके वीर भावोंको भर लेते हैं। अंग्रेजोंको जो आज समुद्रोंपर सबसे बड़ा चढ़ा अधिकार प्राप्त है, वह एडमिरल नेलसनके ही कारण है। नेलसनने तो एक ही जल-संग्राममें अंग्रेजोंको विजयलक्ष्मी दिलाई थी; किन्तु उनकी मूर्तिने अंग्रेजोंमें लाखों नेलसन पैदा कर दिये हैं। अत जो मूर्तिका आदर करते हैं, वह आदर्शभावसे करते हैं।-इसी तरह जैनियोंकी पूजा है। वह मूर्तिपूजा न होकर आदर्शपूजा है। जैनग्रन्थोंमें पाषाण आदिमें देवकी कल्पना करके पूजा करनेका खुला निषेध है। मूर्तिका सहारा लेकर उपासक धीरवीर और जगतोद्धारक तीर्थंकरोंके अपूर्व गुणोंसे अपने आन्तर्भावोंको अलंकृत करता है। जैनपूजामें दीनता और याचनाको स्थान प्राप्त नहीं है। वहांतो कृतज्ञताज्ञापन और आत्मानुभवको मुख्यता प्राप्त है। अत: जिनपूजामें आनन्दकुमारकी तरह शङ्का करना वृथा है। अस्तु;

राजा आनन्दकुमार विपुलमती मुनिराजके मुखारविन्दसे जिन पूजाके महत्वको सुनकर दृढ़ श्रद्धानी होगया और उसने उन मुनि-राजसे तीनो लोकके जैन मंदिरोका भी वर्णन सुना। वह प्रतिदिवस सर्वही स्थानोके जिन चैत्योंको परोक्ष नमस्कार करने लगा। सूर्य-देवके विमानमें भी जिनचैत्य उसे बताए गए थे, सो वह सांझ-सवेरे छतपर चढ़कर सूर्यकी ओर लक्ष्य करके वहांके जिनचैत्योको अर्घ चढ़ाया करता था। राजाकी इस क्रियाको देखकर साधारण जनता भी वैसी ही क्रिया करने लगी। कहते है तवहीसे 'भानु उपासक' लोगोका संप्रदाय उत्पन्न होगया, सूर्यदेवकी पूजा होने लगी, सूर्यमंदिर बनने लगे। इन सूर्यमंदिरोका पता जवतब भारतके प्राचीन खण्डहरोंसे होजाता है। काश्मीरमे एक सुन्दर सूर्यमंदिर अब भी भग्न दशामे अवशेष है।

इस प्रकार बड़े भावसे जिनपूजा करता हुआ राजा आनन्द-कुमार राज्यप्रबध कररहा था कि अचानक इसकी दृष्टिमें एक सफेद वाल आगया। सफेद बालने उसे बिल्कुल सफेद ही बना दिया! वह संसारसे विरक्त होगया—अपने ज्येष्ठ पुत्रको राज्यभार सौपकर उसने सागरदत्त मुनिराजके समीप जिनदीक्षा ग्रहण करली! पंच-महाव्रतोको धारण करके वह भव्य जीव विशेष रीतिसे वाह्याभ्यंतर तपश्चरण करने लगा। विविध प्रकारके परीषहोको समभावसे सहन करने लगा। वह राजर्षि शास्त्राभ्यासमें दत्तचित्त रहते, निर्मल भावोसे दशलक्षण धर्म और सोलहकारण भावनाओका चिंतवन करते थे। इन भवतारण सोलहकारण भावनाओके भानेसे आपके त्रिलोकपूज्य तीर्थंकर कर्मका वंध वंधगया। उन्हें अनेक प्रकारकी

ऋद्धियोंकी प्राप्ति हो गई। त्यागभावमें अपूर्व शक्ति है, मनुष्यको स्वाधीन बनानेवाला यही एक मार्ग है।

राजर्षि आनंदकुमार एक रोज क्षीर नामक वनमें वैराग्यलीन खड़े हुये थे। मेरुके समान वह अचल थे, आतमसमाधिमें लीन वह टससे मस नहीं होते थे। इसी समय एक भयंकर केहरी उनपर आ टूटा! अपने पंजेके एक थपेड़ेमें ही वह धीरवीर मुनिराजके कंठको नोच ले गया! और फिर अन्य शरीरके अवयवोंको खाने लगा! इस प्रचंड उपसर्गमें भी वे महागंभीर राजर्षि अविचल रहे। उन्होंने अपनी अन्तर्दृष्टि और भी गहरी चढ़ा दी। वह यह भी न जान सके कि कोई उन्हें कुछ कष्ट पहुंचा रहा है। वह दृढ़ श्रद्धानी थे कि आत्मा अजर-अमर है, शरीर उसके रहनेका एक झोंपडा है। भग्न होनेपर भी उसका कुछ बिगडता नहीं! इसलिए शरीरके नष्ट होनेमें राग-विराग करनेकी उनको जरूरत ही न थी। आजकलके सत्यान्वेषी भी इसी तत्वको पहुंच चुके हैं। प्रसिद्ध वैज्ञानिक सर ओलीवर लॉजने यह स्पष्ट प्रकट कर दिया है कि मृत्युके उपरांत भी जीव रहता है। मृत्युसे भय करनेका कोई कारण नहीं, (देखो हिन्दुस्थानरिव्यू)। राजर्षि आनन्दकुमार तो उस सत्यके प्रत्यक्ष दर्शन करचुके थे! फिर भला वह किसतरह सिंहकृत उपसर्गमें विचलित होते! वह अपने आतमध्यानमें निश्चल रहे और इन शुभ परिणामोंसे इस नश्वर शरीरको छोडकर आनत नामक स्वर्गमें देवेन्द्रोंसे पूज्य इन्द्र हुये!

यह केहरी सिंह जिसने इतने क्रूर भावसे राजर्षिपर आक्रमण किया था, सिवाय कमठके जीवके और कोई नहीं था। नर्कके दुःख

भोगकर वह इसी वनमें सिंह हुआ था। अपने कमठ और मरुभूति भवके बंधे हुए वैरको वह यहां भी नही भुला सका! राजर्षिको देखते ही उसे अपना पूर्वभव याद आगया और फिर जो उसने अधम कर्म किया, वह पाठक पढ़ ही चुके है। नीच केहरी इस अघके वशीभूत होकर पंचम नर्कमे जाकर पड़ा! शुभाशुभ कर्मोका फल प्रत्यक्ष है। शुभ कर्मोंकर एक जीव तो उन्नति करता हुआ पूज्यपदको प्राप्त हो चुका और दूसरा अपनी आत्माका पतन करता हुआ नर्कवासमें ही पडा रहा। यह अपनी करनीका फल है।

आनन्दकुमार राजर्षि मरुभूतिके ही जीव थे और यही स्वर्गलोकसे आकर अपने दसवें भवमें त्रिजगपूज्य भगवान पार्श्वनाथ हुये थे। देवलोकमे इन्होने अपूर्व सुखोंका उपभोग किया था। इस तरह भगवानके पूर्व नौ भवोंका दिग्दर्शन है। इससे यह स्पष्ट है कि भगवानने उन सब आवश्यक्ताओंकी पूर्ति कर ली थी, जो तीर्थंकर जन्म पानेके लिए आवश्यक होतीं हैं। एक तुच्छ जीव भी निरंतर इन आवश्यक्ताओंकी पूर्ति कर लेनेसे रंकसे राव हो सक्ता है, यह भी इस विवरणसे स्पष्ट है। कर्मसिद्धांतका कार्यकारी प्रभाव यहां द्रष्टव्य है। अस्तु, अब अगाड़ी भगवान पार्श्वनाथके जन्मोत्सव संबंधमें कुछ कहनेके पहले हम यहांपर उस जमानेकी परिस्थितिपर भी एक दृष्टि डाल लेंगे, जिससे उस समयका वातावरण कैसा था, यह मालूम हो जायगा।

उस समयकी सुदशा !

"कौशाम्ब्यां धनमित्राख्य-धनदत्तादयो मुदा ।
वाणिज्येन वणिक्पुत्रा निर्गता राजगेहकम ॥"

—आराधना कथाकोष ।

कौशाम्बीसे राजगृहको जाते हुये मार्गमें एक गहन वन पड़ता था। जिस समयका हम वर्णन लिख रहे हैं अर्थात् आजसे करीब पौनेतीन हजार वर्ष पहले जब कि भगवान पार्श्वनाथका सर्व सुखकारी जन्म होनेवाला था, तब इस भारतवर्षमें आजकलकी तरह रेल-गाड़ियां देशके इस छोरसे उस छोर तक दौड़ती नहीं फिरतीं थीं, लोग इसतरह निडर होकर यात्रा नहीं कर सक्ते थे कि जैसे अब करते है। अंग्रेजी राज्यके स्थापित होनेके पहले तक प्रायः यही दशा यहां मौजूद थी परन्तु इसके अर्थ यह नहीं है कि प्राचीन भारतमें शासक लोग यात्रियोंकी रक्षाका प्रबंध नहीं करते थे और यह बात भी नहीं है कि पहले यहां कोई शीघ्रगामी रथ आदि यात्रा-वाहन थे ही नहीं। प्रत्युत हमको स्पष्ट मालूम है कि जनसाधारणकी यात्रा निष्कटक बनानेके लिए स्वयं राजा लोग वनमें जाकर डाकुओं और बटमारोंको पकड़नेका प्रयत्न करते थे।[१] तथापि अग्निरथ और वायुयान जैसे शीघ्रगामी सवारियां भी थीं, परन्तु यह निश्चित नहीं है कि वे सर्वसाधारणको प्राय. मिल सक्तीं हों।

ऐसे ही समयमें धनमित्र, धनदत्त आदि बहुतसे सेठोंके पुत्र व्यापारके लिए कौशाम्बीसे चलकर राजगृहकी ओर रवाना हुये थे,

१. दी साम्स ऑफ दी ब्रेदरेन (थेरगाथा)-अंगुलिमाल ।

यह बात हमे जैनग्रन्थ 'आराधनाकथाकोष' मे बताई गई है।[1] सेठ लोग अपना व्यापारका सामान गाडियोंपर लादे चले जारहे थे। रास्तेमें गहन वन पडता था, उसीमे होकर यह लोग गुजर रहे थे कि अचानक इनपर एक डाकुओका दल टूट पडा और देखते ही देखते उन्होने इनके माल असबाबको लूट लिया। यह बेचारे ज्यों त्यो अपनी जान बचाकर वहासे भागे। डाकुओके हाथ खूब धन आया, धन पाकर उन सबकी नियत विगडी! सच है इस लक्ष्मीका ललच बडा बुरा है। भाई–भाई और पिता–पुत्रमें इसीकी बदौलत शत्रुता बढ़ती देखी जाती है। इन डाकुओका भी यही हाल हुआ, सब परस्परमें यही चाहने लगे कि साराका सारा धन उसे ही मिले और किसीके पल्ले कुछ न पडे। इस बदनियतको अगाडी रखकर वे एक दूसरेके प्राण अपहरण करनेकी कोशिष करने लगे। रातको जब वे लोग खानेको वैठे तो एकने भोजनमे विष मिला दिया; जिसके खानेसे सब मर गए! यहां तक कि भ्रममे पड़कर वह भी मर गया जिसने कि स्वयं विष मिलाया था, किन्तु इतनेपर भी उनमें एक बच गया। यह था एक सागरदत्त नामक वैश्यपुत्र! दुराचारके वश पड़ा हुआ यह इन डाकुओके साथ रहता था, परन्तु इसके पहलेसे ही रातको भोजन न करनेकी प्रतिज्ञा थी, इसी कारण वह डाकुओकी घातसे बाल बाल बच गया। सचमुच यह चचल सम्पत्ति मनुष्योके प्राणोकी साक्षात दुश्मन है और धर्म परम मित्र है। डाकूलोग धनके मोहमे मरे, पर धर्म प्रतिज्ञाको निभानेवाला सेठ पुत्र बच गया! धन और धर्मका ठीकस्वरूप यहां स्पष्ट है!

---

१. आराधनाकथाकोष भाग २ पृष्ठ ११२।

इस प्राचीन कथासे उस समयके भारतकी दशाका परिचय मिलता है। यहाके व्यापारी विशेष धनसम्पन्न और उद्यमी थे। वे दूर २ देशोंमे व्यापार करने जाया करते थे। तथापि इसके अतिरिक्त इस कथासे यह भी स्पष्ट है कि उस समय भी जैन-सिद्धातोंका प्रचार विशेष था। रात्रिभोजनका त्याग जैनीके बच्चे२-को होता है। इस कथामे भी इस नियमका महत्व प्रगट किया गया है। सचमुच जैनधर्म बौद्धधर्मके स्थापित होनेके बहुत पहलेसे भारतवर्षमें चला आरहा था; जैसे कि हम अगाडी देखेंगे। यद्यपि यह बात आज सर्वमान्य है।[1]

उक्त जैनकथाके कथनकी पुष्टि अन्य श्रोतोसे भी होती है। बौद्धोंके यहां भी एक कथामे विदेहको व्यापारका केन्द्र बताया गया है। वहा श्रावस्तीसे विदेहको व्यापार निमित्त जाते हुये वनके मध्य एक व्यापारीकी गाडीका पहिया टूट जानेका उल्लेख है[2]। प्राच्यविद्या विशारद स्व० डॉ० रीस डेविड्स अपनी स्वतत्र खोज द्वारा इस ओर विशेष प्रकाश डाल चुके हैं और उस समय व्यापारकी अभिवृद्धिका जिकर करते हुये वे व्यापारके मुख्य मार्गोंको इस प्रकार बतलाते हैं–[3]

(१) एक मार्ग तो उत्तरसे दक्षिण–पश्चिमकी ओरको था: जो श्रावस्तीसे बहुत करके महाराष्ट्रकी राजधानी प्रतिष्टान (पैंठन) तक गया था। इसमें व्यापारके मुख्यनगर दक्षिणकी ओरसे माहिस्सति, उज्जैनी, गोनर्द्ध, विदिशा, कौशाम्बी और साकेत पड़ते थे।

१–दी अर्ली हिस्ट्री ऑफ इन्डिया (तृतीयावृत्ति) पृ० ३१। २–दी क्षत्रिय क्लेन्स इन बुद्धिस्ट इन्डिया पृ० १०६। ३–बुद्धिस्ट इन्डिया पृ० १०३।

(२) दूसरा मार्ग उत्तरसे दक्षिण पूर्वकी ओरको था। यह श्रावस्तीसे राजगृहको गया था। श्रावस्तीसे चलकर इसपर मुख्य नगर सेतव्य, कपिलवस्तु, कुशीनारा, पावा, हत्थिगाम, भन्डगाम, वैशाली, पाटलीपुत्र और नालन्दा पड़ते थे। यह मार्ग शायद गया तक चला गया था और वहांपर यह एक अन्य मार्ग जो समुद्रतटसे आया था, उससे मिलगया था। यह मार्ग संभवत: ताम्रलिप्तिसे बनारसके लिये था।

(३) तीसरा मार्ग पूर्वसे पश्चिमको था। यह मुख्य मार्ग था और प्रायः बड़ी नदियोंके किनारे २ गया था। इन नदियोंमें नावें किरायेपर चलती थीं। सेहजति, कौशाम्बी, चम्पा आदि सर्व ही मुख्य नगर इस मार्गमें आते थे।

इस तरह ये व्यापारके विशेष प्रख्यात् मार्ग उस समयके थे। इनमे महाराष्ट्र तक ही सम्बन्ध बतलाया गया है। दक्षिण भारतके विषयमें कुछ नही कहा गया है। पुरातत्वविदोंका मत है कि उस जमानेमें उत्तरभारतवालोंको दक्षिणभारतके विषयमें बहुत कम ज्ञान था—वे उसको 'दक्षिणपथ' कहकर छुट्टी पा लेते थे परन्तु जैनशास्त्रोंमें हमे इस व्याख्याके विपरीत दर्शन होते हैं। वहा प्राचीनकालसे दक्षिण भारतका सम्बन्ध जैनधर्मसे बतलाया गया है। भगवान ऋषभदेवके पुत्र बाहुबलि दक्षिण भारतके ही राजा थे[1] इस अपेक्षा जैनधर्मका अस्तित्व वहां वेदोंके रचे जानेके पहलेसे प्रतिभाषित होता है, क्योंकि हिन्दुओंके भागवतमें (अ० ५, ४-५-६) ऋषभदेवको आठवा और वामनको बारहवा अवतार

१—आदिपुराण पर्व ३४-३७ और 'वीर' वर्ष [illegible] ।

वतलाया है और वामनका उल्लेख वेदोंमे है। इस दृष्टिसे भगवान ऋषभदेवका अस्तित्व वेदोके पहलेका सिद्ध होता है। इन्हीं ऋषभदेव द्वारा इस युगमे पहले २ जैनधर्मका प्रचार हुआ था। अतएव जैनधर्मका प्रारम्भ भारतके एक गहरे इतिहासातीत कालमे होता है और इस अपेक्षा दक्षिण भारतका परिचय भी जैन शास्त्रोमें तवहीसे कराया गया है।

भगवान् नेमिनाथजीके तीर्थमे हुये कामदेव नागकुमारकी कथामे भी हमको दक्षिण भारतका पता चलता है। यह उल्लेख भगवान् पार्श्वनाथसे भी पहलेका है। वहां कहा गया है कि पांडुदेशमे दक्षिणमथुराके राजा मेघवाहन रानी जयलक्ष्मीकी पुत्री श्रीमतीने प्रतिज्ञा की है कि जो कोई मुझे नृत्य करनेमे मृदंग वजाकर प्रसन्न करेगा, वही मेरा पति होगा। श्रीमतीकी प्रतिज्ञा सुनकर नागकुमारने दक्षिणमथुराको प्रस्थान किया था। मथुरामें पहुंचकर नृत्य समयमें श्रीमतीको मृदंग बजाकर प्रसन्न किया और अन्तमे उसके साथ विवाह करके वे सुखसे वही रहने लगे थे।[1] यहासे नागकुमार समुद्रके मध्य अवस्थित तोपावलि द्वीपमें गए थे और वहांसे कांचीपुर नगरमें पहुंचकर वहाके राजा श्रीवर्माकी कन्यासे पाणिग्रहण किया था। काचीपुरसे कलिंगदेशके दंतपुर नगरमें पहुंचे और फिर वे ऊड देशको गए थे।[2] इस तरह वह दक्षिणभारतके देशोंमें परिचित रीतिसे विचर रहे थे, यद्यपि वे स्वयं चम्पानगरके निवासी थे।

इसी प्रकार 'चारुदत्त' की कथासे भी उस समयके भारतके

१–पुण्याश्रव कथाकोष पृ० १७५। २–पूर्व पृ० १७७।

व्यापारकी अभिवृद्धि और दक्षिणभारतका दिग्दर्शन स्पष्टरीत्तिसे होता है। कहा गया है कि जब चारुदत्तने अपना सब धन वेश्याको खिला दिया, तब वह अपने मामाके साथ धन लेकर चम्पासे उल्खदेशके उशिरावर्त नामक शहरमे पहुंचा था। यहांसे कपास खरीदकर वह ताम्रलिप्त नगरको संभवतः उपर्युल्लिखित दूसरे मार्गसे गया था। रास्तेमें भयकर वनीमें आग लग जानेसे इनकी सारी कपास नष्ट होगई थी। वहांसे यह पवनद्वीपको गए थे, परन्तु लौटते समय दुर्भाग्यसे इनका जहाज नष्ट होगया और यह समुद्रके किनारे लगकर किसी तरह राजगृह पहुंचे। वहां एक उज्जैनीका वणिक्पुत्र इनको मिला था जिसने सिहलद्वीपमें व्यापार निमित्त जाकर धन नष्ट कर आनेवाली अपनी दुःखभरी कहानी कही थी। यहांसे यह दोनों व्यक्ति रत्नद्वीपको धन कमानेके लिए चल पड़े थे। यहां इनको जैन मुनिका समागम हुआ था।[1] यह सिहलद्वीप और रत्नद्वीप विद्वानोने लका बतलाये है। सिहल और रत्नद्वीप उसीके नाम थे। इस प्रकार इस कथामें भी दक्षिण भारतके लम्बे छोरतक व्यापारियोंके जानेका उल्लेख हमें मिलता है।

यह संभव है कि साधारण पाठक उपरोक्त जैन कथाओके कथनपर सहसा विश्वास न करे, परन्तु इसके लिए हम अन्य श्रोतोंसे भी इस बातको प्रमाणित करेंगे कि दक्षिणभारतमे जैनधर्मका अस्तित्व बहुत पहलेसे रहा है और जैनोको वहाका परिचय भी उतना ही पुराना है। प्रोफेसर एम० आर० रामास्वामी अय्यगरने राजावली कथेका विशेष अध्ययन किया है और उसके कथनको उन्होंने सत्य

१–आराधना कथाकोष भाग २ पृ० ८२–८६।

भी पाया है। उसमे भी लिखा है कि विशाखमुनि (ईसासे पूर्व तीसरी शताब्दि)ने चोल पाण्ड्य आदि देशोंमें विहार करके वहापर स्थित जैन चैत्योंकी वदना की थी और उपदेश दिया था। इसपर उक्त प्रोफेसर लिखते है कि इससे यह प्रकट है कि भद्रबाहु अर्थात् ईसासे पूर्व २९७ के वहुत पहलेसे ही जैनलोग गहन दक्षिणमें आन वसे थे।[1] और अगाडी चलकर आप बौद्धोंके महावश नामक ग्रंथके आधारसे कहते है कि लंकाके राजा पान्डुगाभयने जब अपनी राजधानी ईसासे पूर्व करीब ४३७में अनुरुद्धपुर बनाई थी तो वहां एक निगन्थ (जैन) उपासक 'गिरि' का भी गृह था और राजाने निगन्थ कुम्बन्धके लिए भी एक मंदिर बनवाया था।[2] इमसे लकामें जैन धर्मका अस्तित्व ईसासे पूर्व पाचवी शतब्दिमें प्रो० साहब बतलाते है और इसके साथ ही दक्षिण भारतमें भी[3], परन्तु यह समय इससे भी कुछ अधिक होना चाहिए क्योंकि इससमय ही यदि जैनलोग इन देशोमें आए होते तो एक विदेशी राजा उनके प्रति इतना ध्यान नहीं देता। वह वहापर उसके बहुत पहले पहुचे होगे तब ही उनका प्रभाव वहापर इतना जमा होगा कि वहाके राजाका भी ध्यान उनकी ओर आकर्षित हुआ था। तिसपर इतना तो स्पष्ट ही है कि इन देशोंमें वसनेके बहुत पहलेसे जैनोका आना जाना यहा अवश्य होता रहा होगा, जैसे कि उपरोक्त जैन कथाओसे प्रकट है। बौद्धोंके 'महावंश' से भी प्राचीन ग्रन्थ 'दीपवंश' में भी यह और

१-स्टडीज इन साउथ इन्डियन जैनीज्म भाग १ पृ० ३२। २-महावश पृ० ४९। ३-स्टडीज इन साउथ इन्डियन जैनीज्म भाग १ पृ० ३३।

लिखा हुआ है कि वह जैन विहार जो लंकामे हुये पहलेके इक्कीस राजाओंके समयसे मौजूद था, राजा वत्तागामिनी (ई०से पूर्व ३८–१०) द्वारा नष्ट कर दिया गया था। यह राजा जैनोसे रुष्ट होगया और उसने उनके विहारको उजड़वा दिया। (दीपवंश १९–१४) इस उल्लेखसे लकासे जैनधर्मका प्राचीन सम्बंध प्रगट होता है। अतएव उपरोक्त कथाओंको हम विश्वसनीय पाते हैं।

इसप्रकार उस समयके भारतवर्षका व्यापार उन्नतशील अवस्थामें था। यहाके व्यापारी दूर दूर तक व्यापार करने जाते थे। जैन कथाओमें अनेको जैन वणिकोका जहाजद्वारा विदेशोंमें जाकर व्यापार करनेके उल्लेख मिलते हैं।[1] पुरातत्वविदोने भी इस बातको स्वीकार किया है कि ईसासे पूर्व आठवीं शताब्दिसे भारत और मेडेटेरेनियन समुद्रके देशोके मध्य व्यापार होता था।[2] यह व्यापार आजकलके व्यापारियो जैसी कोरी दलाली अथवा धोखेबाजी नही थी। तबके व्यापारी आजसे कही इमानदार और संतोपी थे। वे भारतीय शिल्पको उन्नत करना अपना फर्ज समझते थे। कलतक इस देशका शिल्प भुवनविख्यात था।[3] यही नही कि यह व्यापारी विदेशोंमें जाकर केवल अपनी अर्थसिद्धिका ही ध्यान रखते हों, प्रत्युत हमें यह भी मालूम है कि इनके द्वारा भारतीय सभ्यताका प्रचार दूर२ देशों तक हुआ था।[4] इस तरह यहांका व्यापार भगवान पार्श्वनाथके जन्म समय अपनी उन्नत दशामे था और यह

१–आराधना कथाकोष, पुण्याश्रव आदि ग्रन्थ। २–देखो पंचानन मित्राकी 'प्री–हिस्टॉरिकल इन्डिया' पृष्ठ ३३। ३–भारत–भारती पृ० १०६–१०७। ४–देखो 'प्री–हिस्टॉरिकल इन्डिया' पृ० २७–३३।

मानी हुई बात है कि जिस देशका व्यापार अभिवृद्धिपर होगा वह देश अवश्य ही सम्पत्तिशाली होता है। इसी अनुरूप भारतकी आर्थिक अवस्था भी उस समय बहुत ऊचे दर्जेकी थी। आजकलकी तरह वह दरिद्र नहीं था।

भगवान पार्श्वनाथसे कुछ पहले जो जैनशास्त्रोमे बताए गए अंतिम चक्रवर्ती सम्राट् ब्रह्मदत्त होगए थे, उनकी विभूतिका जो वर्णन जैन शास्त्रोमे दिया गया है, उससे भी यहांकी समृद्धशाली दशाका परिचय मिलता है। चक्रवर्ती सम्राट्की सम्पत्ति जैनशास्त्रोंमें इस तरह बतलाई गई है—उनकी सेनामें चौरासी लाख मदोद्धत हाथी, अठारह करोड़ तीक्ष्णवेगके धारक घोडे, चौरासी लाख सुदर रथ, और चौरासी करोड पयादे लिखे गए हैं। उनके आधीन बत्तीस हजार देश और छ्यानवें करोड गाव आदि बताए गए हैं। बत्तीस हजार राजा चक्रवर्तीकी सेवा करते है। इसी तरह और भी अनेक प्रकारकी उनकी सपदा बताई गई है। यह सब ही सम्राट् ब्रह्मदत्तके यहा मौजूद थी। इससे उस समयके विशेष सपत्तिशाली भारतवर्षके स्पष्ट दर्शन होते है।

इस तरहकी सुखसम्पन्न दशामें यहाके निवासियोंके दैनिक जीवन भी बडे सुखसे व्यतीत होते थे। आनन्दके साथ वह पेट भरकर बेफिक्रीसे अपने परलोक साधनकी धुनमे रहते थे, परन्तु विप्र लोगोंके प्राबल्यसे वे बहुधा उनको पूजकर अथवा और तरहसे क्रियाकाण्डकी पूर्ति करके अपने कर्तव्यकी इतिश्री समझ लेते थे। शेष जीवनभर वह मजेदार सासारिक रगरलिया किया करते थे। यहातक कि ब्राह्मण ऋषि एवं अन्य परिव्राजक साधु आदि स्त्री

संसर्गको बुरा नही समझते थे;[1] जैसे कि हम अगाड़ी देखगे। सचमुच ब्रह्मचर्यकी महत्ता लोगोके दिलसे कम हो चली थी। इसके साथ ही लोगोंको अपनी जाति और कुलका बड़ा घमण्ड था। विप्रोंके प्राबल्यसे इतर वर्णोंके लोगोंके मनुष्यके प्रारंभिक हक भी अपहरण कर लिये गये थे।

जैन शास्त्रोंके कथानक भी इन बातोकी पुष्टि करते हैं। सम्रा श्रेणिकके पुत्र अभयकुमारके पूर्वभव बतलाते हुए इस जातिमदका खुला विरोध ग्रन्थकारको करना पड़ा है। उस समय भी जैनी मौजूद थे, यद्यपि यह अवश्य था कि, उनमे भी समयानुसार शिथिलता प्रवेश कर गई थी।[2] परन्तु वह अपने सम्यक्त्व–आप्त, आगम, पदार्थके स्वरूपके समझनेसे च्युत नहीं हुए थे, यह बात कुमार अभयके पूर्वभव कथनके निम्न अशसे स्पष्ट है। भगवान महावीरके समवशरणमे पूज्य गणधर इन्द्रभूति गौतमने इस सम्बधमे कहा थाः–

पूर्व भवमे तू (अभयकुमार) एक ब्राह्मणका पुत्र था और वेद पढ़नेके लिये देश विदेशमें फिर रहा था। इसी भ्रमणमें तेरा साथ एक जैनी पथिकसे होगया था। देवमूढ़ता आदिको उसके सहवाससे तूने छोड़ दिया था। "तदनंतर वह जैनी उसकी जातिमूढ़ता दूर करनेके लिए कहने लगा कि गोमांस भक्षण तथा वेश्यादि सेवन, न करने योग्योंका सेवन करनेसे व्यक्ति क्षणभरमे पतित हो जाता है। इसके सिवाय इस शरीरमें वर्ण वा आकारसे कुछ भेद भी दिखाई नहीं पडता और ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्योंमे शूद्रोंसे भी

१–हमारा 'भगवान महावीर और म० बुद्ध' पृ० ४३। २–उत्तरपुराण पृ० ६२५।

गर्भाधानकी प्रवृत्ति देखी जाती है । इसलिए मनुष्योंमें गाय और घोड़ेके समान जातिका किया हुआ कुछ भेद नहीं है। यदि आकृतिमें कुछ भेद हो तो जातिमें भी कुछ भेद कल्पना किया जासक्ता है ॥४९०-४९२॥ जिनकी जाति, गोत्र, कर्म आदि शुक्लध्यानके कारण हैं वे उत्तम तीन वर्ण कहलाते हैं और बाकी सब शूद्र कहलाते हैं ॥४९३॥ ... इस प्रकारके वचनों द्वारा उस श्रावकने जाति मूढता भी दूर की ।" (पं० लालारामजी द्वारा अनुवादित व प्रकाशित "उत्तरपुराण" पृष्ट ६२६-६२७)[1]

इससे स्पष्ट है कि भगवान पार्श्वनाथके समयमें जाति मूढतामें पड़े हुये लोग ब्राह्मणपने और क्षत्रियपने आदिके नशेमे चूर थे। उनके इस मिथ्याश्रद्धानको दूर करनेका प्रयत्न जैनी विद्वान् किया करते थे । आजकल भी जातिमूढता भारतमे बढ़ी हुई है। भारतीय नीच वर्णके मनुष्योंको मनुष्य तक नहीं समझते । उनको घृणाकी दृष्टिसे देखते है । हतभाग्यसे आजके जैनी भी इसी प्रवृत्तिमे वहे जा रहे है । वह अपने प्राचीन पुरुषोंकी भाति भारतीयोंकी इस जातिमूढताको मेटनेमें अग्रसर नहीं हैं । सचमुच प्राकृत रीतिसे ही

१-तस्य पाखण्डिमौढ्य च युक्तिभि' स निराकृत ।
गोमास भक्षणागम्यगमाद्यै पतिते क्षणात् ॥ ४९० ॥
वर्णाकृत्यादि भेदाना देहेस्मिन्नच दर्शनात् ।
ब्राह्मण्यादिषु शूद्राद्यैगर्भाधान प्रवर्त्तनात् ॥ ४९१ ॥
नास्ति जातिकृतो भेदो मनुष्याणा गवाश्ववत् ।
आकृति ग्रहणात्तस्मादन्यथा परिकल्पते ॥ ४९२ ॥
जाति गोत्रादि कर्म्माणि शुक्लध्यानस्य हेतव. ।
येषुतेस्युस्त्रयो वर्ण शेषा शूद्राप्रकीर्तिता॥४९३॥इति गुणभद्राचार्य ।"

जातिका मद करना वृथा है। ब्राह्मण जैसे उत्तम वर्णमे जन्म लेकर भी अपने नीच आचार द्वारा एक व्यक्ति महापतित और नीच होता हुआ देखा जाता है। तथापि एक नीचवर्ण उच्चवर्णके साथ सम्बन्ध करके अपने आचरण सुधारता भी इसलोकमे दिखाई पडता है। यही बात एक अन्य जैनाचार्य स्पष्ट प्रकट करते हैं।[1] अतएव जातिका घमण्ड किस विरतेपर किया जाय ! उस प्राचीनकालमें जातिमदका भूत लोगोंके सिरसे उतारनेका प्रयत्न जैनी करते थे और उस समय भी यह मद लोगोको खुब चढ़ा हुआ था, यह बात जैन ग्रन्थोंके उक्त उद्धरणसे स्पष्ट है। ऐतिहासिक दृष्टिसे भी यह कथन सत्यको लिये हुए प्रगट होता है। म० बुद्धके समयका जो विवरण हमको मिलता है, उससे कुछ विभिन्न दशा कुछ वर्षों पहले नही होसक्ती है और वास्तवमे जो सामाजिक दशा म० बुद्धके समयमे बताई गई है वह जरूर ही उस अवस्थाको क्रम

१-एकोदूरात्यजतिमदिरा व्राह्मणत्वाभिमानादन्यः शूद्र स्वयमहमितिस्नातिनित्यंतयैन। द्वावप्येतौयुगपदुदरान्निर्गतौशूद्रिकाया शूद्रौसाक्षादपि च चरतो जातिभेद भ्रमेण ॥ १ ॥ ३ ॥ —श्री अमितगतिः

वर्तमानकालके दिग्गज विद्वान् स्याद्वादकेसरी, न्याय वाचस्पति स्व० पं० गोपालदासजी वरैयाने भी शास्त्राधारोंसे यही मत प्रगट किया है। वे अपने एक लेखमें, जो 'जैनहितैषी' भा० ७ अक ६ (वीर नि० सं० २४३७)में प्रगट हुआ है स्पष्ट लिखते हैं कि, "ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य इन तीन वर्णोंके वनस्पतिभोजी आर्य मुनि धर्म तथा मोक्षके अधिकारी है म्लेच्छ और शूद्र नहीं है . परन्तु म्लेच्छों और शूद्रोंके लिये भी सर्वथा मार्ग बन्द नहीं है। क्योंकि त्रस जीवोंकी संकल्पी हिंसासे आजीविकाका त्याग करनेसे कुछ कालमें म्लेच्छ आर्य होसक्ता है और शूद्रकी आजीविकाके परिवर्तनसे शूद्र द्विज होसक्ता है। इत्यादि।"

क्रमकर ही पहुची होगी। क्रांति एकदम उठ खड़ी नहीं होती। जब सामाजिक अत्याचार चर्मसीमाको पहुंच जाता है, तब ही वहां क्रांतियां प्रगट होने लगती हैं। म० बुद्धके समयमें एक सामाजिक क्रांति ही उपस्थित थी। इसलिए भगवान् पार्श्वनाथके समयमें सामाजिक अत्याचारोंकी भरमार होना प्राकृत संगत है।

स्व० मि० ह्रीसडेवेड्सि सा०ने बौद्धकालीन सामाजिक व्यवस्थापर प्रकाश डालते हुए लिखा था कि "ऊपरके तीनवर्ण मूलमें प्राय: एक हो रहे थे; क्योंकि विप्र और क्षत्रियपुत्र एक तरहसे तीसरे वैश्य वर्णमेंके वह व्यक्ति थे जिन्होंने अपनेको सामाजिक वातावरणमें उच्चपद पर पहुचा दिया था। और यद्यपि जाहिरा यह कार्य कठिन था, तो भी यह संभव था कि ऐसे परिवर्तन होवें। साधारण स्थितिके मनुष्य राजपुत्र बन जाते थे और दोनों ही ब्राह्मण हो जाते थे। ग्रंथोंमें इस प्रकारके अनेक उदाहरण मिलते हैं। सुतरां ऐसे उदाहरण भी मिलते हैं—स्वयं विप्रोंके क्रियाकाण्डके ग्रंथोंमें—कि जिनमें हरप्रकारकी सामाजिक परिस्थितिके स्त्री पुरुषोंका परस्पर पाणिग्रहण हुआ हो। यह संबंध केवल उच्चवर्णी पुरुष और नीच कन्याओंके ही नहीं है, बल्कि बिलकुल बरअक्स इसके अर्थात् नीच पुरुष और उच्चवर्णी स्त्रीके विवाह संबंधके भी हैं।"[1]

वास्तवमें विवाह क्षेत्र भी उस समय इतना सीमित नहीं था जितना कि आज वह संकीर्ण बना लिया गया है। आज तो अपनी वैश्य जातिमें भी नहीं, बल्कि वैश्य जातिके भी नन्हें नन्हें टुकड़ोंमें ही बट बट कर दिया गया है। आज यदि कोई जैनी अपने ही

१–देखो बुद्धिस्ट इन्डिया पृष्ठ ५५–५६।

समान अन्य साधर्मी और सजातीय अर्थात् वैश्यसे विवाह सम्बंध कर लेता है तो उसके इस कृत्यको कोई२ लोग बुरी निगाहसे देखते हैं; परन्तु उस समय यह बात नही थी। विवाह क्षेत्र अपनी ही जाति या अपने ही साधर्मी भाइयोमें ही नियमित नही था बल्कि शूद्रों और म्लेच्छोंकी कन्याओंसे भी विवाह किये जाते थे। तथापि ऐसे विवाहोंको करनेवाले लोग कभी भी नीची निगाहसे नही देखे जाते थे। सचमुच वे इतने पूज्य माने गए हैं कि आज भी हम उनके गुणगान शास्त्रोंमें सुनते हैं। इसलिए उस समय जातिका अभिमान विवाह करनेमें बाधक नहीं था। इसका यही कारण था कि उस समयके प्रधान मतावलम्बी विप्रोंने ब्रह्मचर्यपर विशेष जोर नहीं दिया था; जैसे कि हम अगाड़ी देखेंगे। हिन्दू और जैन ग्रन्थोके निम्न उदाहरण भी हमारी उक्त व्याख्या और विवाह क्षेत्रकी विशालताको प्रगट कर देते हैं।

"मनुस्मृतिके ९वें अध्यायमें दो श्लोक निम्नप्रकार पाये जाते हैं--

'अक्षमाला वसिष्ठेन सयुक्ताऽधमयोनिजा।
शारङ्गी मन्दपालेन जगामाभ्यर्हणीयताम्॥
एताश्चन्याश्च लोकेऽस्मिन् पकृष्टप्रसूतय.।
उत्कर्षं योषित प्राप्ता· स्वैर्भर्तृ गुणै शुभै॥ २४॥

"इन श्लोकोमे यह बतलाया गया है कि अधम योनिसे उत्पन्न हुई–निःकृष्ट (अछूत) जातिकी अक्षमाला नामकी स्त्री वशिष्ठ ऋषिसे और शारगी नामकी स्त्री मन्दपाल ऋषिके साथ विवाहित होनेपर पूज्यताको प्राप्त हुई। इनके सिवाय और भी दूसरी कितनी ही हीन जातियोंकी स्त्रियां उच्च जातियोके पुरुषोके साथ विवाहित होनेपर अपने२ भर्तारके शुभ गुणोके द्वारा इस लोकमे उत्कर्षको

प्राप्त हुई और उन दूसरी स्त्रियोंके उदाहरणमें टीकाकार कुल्लूकभट्ट-जीने 'अन्याश्च सत्यवत्यादयो' इत्यादि रूपसे सत्यवतीके नामका उल्लेख किया है। यह सत्यवती हिन्दू शास्त्रोंके अनुसार एक धींवरकी-कैवर्त्य अथवा अन्त्यजकी कन्या थी। इसकी कुमारावस्थामें पाराशर ऋषिने इससे भोग किया और उससे व्यासजी उत्पन्न हुए जो कानीन कहलाते हैं। बादको यह भीष्मके पिता राजा शान्तनुसे व्याही गई और इस विवाहसे विचित्रवीर्य नामका पुत्र उत्पन्न हुआ जिसे राज-गद्दी मिली और जिसका विवाह राजा काशीराजकी पुत्रियोंसे हुआ। विचित्रवीर्यके मरनेपर उसकी विधवा स्त्रियोंसे व्यासजीने अपनी माता सत्यवतीकी अनुमतिसे भोग किया और पाण्डु तथा धृतराष्ट्र नामके पुत्र पैदा किये जिनसे पाण्डवों आदिकी उत्पत्ति हुई। ..

एक और नमूना 'ययातिराजाका उशना ब्राह्मण (शुक्राचार्य) की देवयानी' कन्यासे विवाहका भी है। यथा —

तेषां ययाति पञ्चानां विजित्य वसुधामिमा।
देवयानिमुशनसः सुता भार्यामवाप सः॥

महाभा० हरि० अ० ३० वा।

"इसी विवाहसे 'यदु' पुत्रका होना भी माना गया है, जिससे यदुवंश चला।" इस तरह पर हिन्दू शास्त्रोंमें हीन जातियों और शूद्रा स्त्रियों तकसे विवाह संबन्ध करनेके अनेकों उदाहरण मिलते हैं; जो हमारे उपरोक्त कथनको स्पष्ट कर देते हैं। साथ ही जैन-शास्त्रोंमें भी विवाह क्षेत्रकी विशालता बतानेवाले अनेकों उदाहरण मिलते हैं। यहां हम उनमेंसे केवल उनका ही उल्लेख करेंगे जो भग-

१ विवाहक्षेत्र प्रकाश।

वान पार्श्वनाथके समय अथवा उनसे पहलेके हैं। पहले ही तेईसवें तीर्थंकर श्री नेमनाथजीके समयके वसुदेवजीको ले लीजिये। यह वसुदेवजी स्वयं क्षत्री थे, परन्तु इनने विश्वदेव नामक ब्राह्मणकी क्षत्रिय स्त्रीसे उत्पन्न सोमश्री नामक कन्यासे विवाह किया था। इसका उल्लेख श्री जिनसेनाचार्य प्रणित 'हरिवंशपुराण (२३वें सर्ग) मे इन श्लोकोंमें किया गया है:—

"अन्वयेतत्तु जातेय क्षत्रियाया सुकन्यका।
सोमश्रीरिति विख्याता विश्वदेव द्विजन्मिन ॥ ४९॥
कराल ब्रह्मदत्तेन मुनिना दिव्यचक्षुषा।
वेदेजेतुः समादिष्टा महत सहचारिणी ॥ ५०॥
इति श्रुत्वा तदाधीत्य सर्वान्वेदान्यदूत्तमा।
जित्वा सोमश्रिय श्रीमानुपयेमे विधानतः ॥ ५१॥"

दूसरा उदाहरण श्रीकृष्णके भाई गजकुमारका है। श्रीकृष्णने इनका विवाह क्षत्रियराजाओंकी कन्याओंके अतिरिक्त सोमशर्मा ब्राह्मणकी पुत्री सोमासे भी किया था। इस घटनाका उल्लेख श्री जिनसेनाचार्य और ब्रह्मचारी जिनदास दोनोके ही हरिवंशपुराणमें मिलता है। ब्र० जिनदासजीके हरिवंशपुराणमें इस संबन्धका श्लोक यह है:—

"मनोहरतरा कन्या सोमशर्माग्रिजन्म।
सोमाख्या वृत्तवाश्चक्री क्षत्रियाणा तथा परा॥ ३४-२६॥"

तीसरा उदाहरण ब्रह्मदत्त चक्रवर्तीका है जो भगवान पार्श्व-नाथके कुछ ही पहले हो गुजरे थे।[1] इनकी छ्यानवे हजार रानि-योंमेंसे अठारह हजार म्लेच्छकन्यायें भी थी। प्रत्येक चक्रवर्तीके

1. केम्ब्रिज हिस्ट्री आफ इन्डिया भाग १ पृ० १८०।

नियमानुसार ऐसी ही रानियां होती है।[1] इसी समयके प्रसिद्ध राजा नागकुमारका पहला विवाह एक वेश्याकी पुत्रियोंसे हुवा था। अस्तुः

जैन शास्त्रोके इन उदाहरणोसे भगवान पार्श्वनाथके जन्मकालमे जो सामाजिक उदारता इस भारत भूपर फैल रही थी और जो यहांपर विवाह करनेकी स्वतंत्रता थी, वह स्पष्ट प्रकट है। हत्भाग्यसे आज हम अपने प्राचीन पुरुषोंके जीवनचरित्रोसे अनभिज्ञ होकर अपने इतरवर्णी भाइयोको मनुष्य ही नहीं समझते हैं। हमारा सामाजिक जीवन विल्कुल हेय और निकम्मा होगया है। पर भगवान पार्श्वनाथके समय यह वात नहीं थी: यद्यपि उस समय भी विप्रोंको अपने व्राह्मणपनेका झूठा अभिमान था और अन्य लोगोंके धार्मिक अविकार झझटमें पड़े हुये थे: जिनकी रक्षा करनेको ही मानो भगवान पार्श्वनाथका जन्म हुआ था।

इस प्रकार उस समयके एक तरहसे उदार सामाजिक जगतमें लोग अपने जीवन यापन कर रहे थे, परन्तु उनकी आत्मायें धार्मिक वातावरणके अप्राकृत रूपसे छटपटा रहीं थीं। उनको उस समयके धार्मिक नियमो और मान्यताओंसे वहुत कम संतोष मिलता था, जिस कारण प्राय नए२ मंतव्य प्रगट होते जाते थे, जैसे कि हम अगाड़ी देखेंगे। सामाजिक जीवनके मुख्य अंग विवाह-प्रणालीके नियम उदार और आदर्श होनेपर भी लोगोंको ऊंच नीचका भेद अखर रहा था। वे विप्रोंके हाथके कठपुतले वना रहना ठीक नहीं समझते थे और स्वयं ही अपनी धार्मिक जिज्ञासाकी पूर्ति करनेके लिये शास्त्रोंका पठन पाठन करना और धार्मिक सिद्धांतोंपर

१. पार्श्वपुराण पृ० २७। २ नागकुमार चरित्र पृ० १९।

गवेषणानय विवाद करना आवश्यक समझते थे। यही कारण है कि भगवान पार्श्वनाथके उपरांत इस अशांतिने एक क्रांतिका रूप धारण कर लिया था और उस समय हर प्रकारकी स्थितिके हजारों मनुष्य–पुरुष और स्त्री समान रूपमें गृह त्यागकर सैद्धांतिक विवाद क्षेत्रमें कूद पड़ते थे। संसारभरमें यह समय अनोखा और अपूर्व था।[1] भगवान पार्श्वनाथके उपदेशने उनको इतना साहस दे दिया था कि वे अपने२ मन्तव्योंकी स्पष्ट रीतिसे घोषणा करने लगे थे। इसीलिए हमें बतलाया गया है कि उस समय ये साधु लोग वर्षा-ऋतुको छोड़कर बाकी वर्षभर देशमें भ्रमण करके सैद्धातिक शास्त्रार्थ और वादमें समय व्यतीत करते थे।[2] म० बुद्धने साधुओंके इस वादकी बढ़ी हुई मात्राको, जिसने कि एक 'अति' का रूप धारण कर लिया था, खुला विरोध किया था और सैद्धांतिक शास्त्रार्थको मनुष्य जन्मके उद्देश्यकी प्राप्तिमें बाधक माना था।[3]

सैद्धान्तिक विवेचनाके इस बढ़ते हुए जमानेमें संस्कृतकी उन्नति प्रायः नहीं हुई थी; क्योंकि इस समय तो धार्मिकक्षेत्रमें अपनी जिज्ञासाओं अथवा सिद्धान्तोंको लेकर एक मामूली ग्रामीण तक भी अगाड़ी आता था और वह स्वभावतः अपने मन्तव्योंको उसी भाषामें प्रगट करता था जो वह अपने घरमें रोजमर्रा बोलता था। यही कारण है कि उस समयके प्रख्यात् मतप्रवर्तकोंको अपने सिद्धान्तशास्त्रोंको उन प्राकृत भाषाओंमें रचना पड़ा था, जो उनके धर्मके मुख्य स्थानोंमें प्रचलित थीं। इसी अनुरूप म० बुद्धने पाली

१–बुद्धिस्ट इन्डिया पृ० २४७। २–हिस्टॉरीकल ग्लीनिंजास पृ० ९।
३–सुत्तनिपात (SBE) ८३०।

प्राकृतमें अपना उपदेश दिया था। भगवान पार्श्वनाथ और महावीर स्वामीके गणधरोंने अर्द्धमागधी प्राकृतमें उनकी द्वादशांग वाणीकी रचना की थी तथापि मक्खलिगोशालके ग्रन्थोंकी भाषा एक अन्य ही प्राकृत थी।[1] सचमुच उस समयको सर्वसाधारण लोगोंकी दैनिक बोलाचालकी भाषा जिसको कि हरकोई सुगमताके साथ समझता था और जो पश्चिममे कुरुदेशसे लेकर पूर्वमें मगध तक, उत्तरमें नेपालकी तराईमे श्रावस्ती और कुशीनारा तक और दक्षिणमे एक ओरको उज्जैन तक बोली जाती थी, अवश्य ही सस्कृत नहीं थी। साहित्यक (classical) सस्कृतका जन्म भी शायद उस समय नहीं हुआ था[2]। सुतरा एक तरहसे तक्षशिलासे लेकर चम्पा तक कोई भी संस्कृत नहीं बोलता था[3]। केवल प्राकृत भाषाओंकी ही प्रधानता थी, जोकि आजतक जैनधर्म और बौद्ध धर्मकी मुख्य भाषायें है।

उस समय जब कि भगवान पार्श्वनाथका जन्म होनेवाला था तब मनुष्योंमें केवल ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र ही भेद थे। इनके अनेकानेक प्रभेद दिखाई नहीं पडते थे, जैसे कि आज एक एक वर्ण अथवा जाति अनेक उपजातियोंमें बटी हुई दिखाई पड़ती है। उस समयके लोग इन चार वर्णोंको संभाले हुए थे, परन्तु विप्रोंके जातिमदसे इनमें जो परिवर्तन उपरान्तको होने लगे थे, उनका दिग्दर्शन हम कर ही चुके हैं। वास्तवमें अपनी आजीविकाको बदल कर हरकोई अपना वर्ण परिवर्तन भी करसक्ता था। उस समयके लोग अपने दैनिक जीवनमें नाम सज्ञा भी विविध

१-आजीविकस भाग १ पृ० ८०। २-बुद्धिस्ट इन्डिया पृ० १८०। ३-पूर्व पुस्तक पृ० २११।

रीतिसे रखते थे। बौद्धकालीन समयमें बिविध रीतिसे किसी व्यक्तिका नामोल्लेख भी होता था। स्वर्गीय मि० र्हीस डेविड्स इसके आठ भेद इस तरह बतलाते हैं:—

"१—**उपनाम**—जो किसी व्यक्तिगत खासियतको लक्ष्य कर व्यवहारमें लाया जाता था। जैसे 'लम्बकण्ण' (लम्बे कानोंवाला) 'कूटदन्त' (निकले हुए दांतवाला), 'ओट्ठद्ध' (खरगोश जैसे होठोंवाला), 'अनाथ पिण्डक' (अनाथोंका मित्र), 'दारुपिट्टिक' (काठका कमण्डल रखनेवाला) इन सबका उपयोग मित्रभाव और बिलकुल छूटके साथ होता था। इस तरहके नाम इतने मिलते हैं कि हरकिसीका एक उपनाम होता था ऐसा भान होता है।

"२—**व्यक्तिगत नाम**—जिसको पालीमे मूलनाम कहा गया है। इसमे किसी व्यक्तिगत खासियतसे सम्बन्ध नहीं होता था। यह वैसा ही था जैसे आजकल हम सबके नाम होते हैं। इन नामोंमें कोई२ बडे कठिन और विकृत है, परन्तु शेष ऐसे हैं जिनके शुभ अर्थ लगाना सुगम है। उदाहरणके तौरपर देखिए 'तिस्स' यह इसी नामके भाग्यशाली तारेकी अपेक्षा है और भी देवदत्त, भद्दिय, नंद, आनन्द, अभय आदि उल्लेखित किए जासक्ते हैं।

"३—**गोत्रका नाम**—जिसको हम खानदानी अथवा इंग्रेजीमें 'सरनेम' (Surname) कह सक्ते हैं। जैसे उपमन्न, कण्हायन, मोग्गलान, कस्सप, कोन्डण्ण, वासेट्ठ, वेस्सायन, भारद्वाज, वक्खायन।

"४—**वंशका नाम**—जो पालीमें 'कुलनाम' कहा गया है, जैसे सक्क, कालाम, बुलि, कोलिय, लिच्छवि, वज्जि, मल्ल आदि।

"५—**माताका नाम**—जिसके साथ 'पुत्त' लगा दिया जाता

था, जैसे सारीपुत्त, वैदेहीपुत्त (अजातशत्रु मगधाधिपका दूसरा नाम), मौदिकपुत्त (=उपक), गोधिपुत्त (=देवदत्त)। परन्तु माता और पिता अपने प्रख्यात् पुत्रकी अपेक्षा किसी नामसे परिचित प्राय: नहीं हुए हैं। यदि किसीका पुत्र प्रसिद्ध हुआ भी तो उसके माता-पिता 'अमुकके माता-पिताके रूपमें कहे गए हैं। तथापि पिताके नाम अपेक्षा भी पुत्रका नाम कभी नही रक्खा गया है। माताका नाम भी उसका खास मूल नाम नहीं होता है, बल्कि वह उसके वंश या कुलका नाम होता है।

"६-समाजमें प्रतिष्ठित पदकी अपेक्षा पड़ा हुआ नाम-अथवा सम्बोधित व्यक्तिके कर्मानुसार नाम। ऐसे नाम ब्राह्मण, गहपति, महाराज, आदि हैं।

"७-शिष्टाचार या विनयरूप सम्बोधन-जिसका सम्बंध संबोधित व्यक्तिसे तनिक भी नहीं हो, जैसे भन्ते, आवुसो, अय्ये आदि।

"८-अन्ततः साधारण नाम-जो किसी व्यक्तिके सम्बोधन करनेमें व्यवहृत नहीं होता है, बल्कि मूल या गोत्रके नामके साथ जोड़ दिया अथवा अगाड़ी लिखा जाता है, जिससे उसी नामके एकसे अधिक मनुष्योंका बोध होसके....। इन नामोंको किस ढंगसे कब व्यवहृत करना चाहिये, इसके लिए बतलाया गया है कि बराबर वालोंमें, जब उनमें मित्रताकी पूरी छूट न हो, उपनाम या मूल नामका व्यवहारमें लाना अशिष्ट समझा जाता था। बुद्ध ब्राह्मणोंको 'ब्राह्मण' नामसे उल्लेख करते हैं। परन्तु वह ही अन्य साधुओंको 'परिव्राजक' न कहकर उनके गोत्र नामसे पुकारते हैं। सच्चक निगन्थ (जैनी)को वह उसके गोत्र 'अग्गि वेस्सायन' के नामसे

सम्बोधित करते हैं। गोत्र नामसे उल्लेख करनेकी प्रथा प्रायः बहु प्रचलित थी, परन्तु निगन्थों (जैन मुनियो)के निकट उसकी मनाई थी। (जैकोबी, 'जैनसूत्र' भाग २ पृष्ठ ३०९) वे अपने संघको ही गोत्र कहते थे। (पूर्व ३२१-३२७) और जाहिरा किसी अन्य संघका अस्तित्व मानना सासारिक समझते थे। बुद्ध अपने सघके लोगोको मूल नामसे ही पुकारते थे। वस्तुतः उस समय गोत्र नाम अन्य मूल नाम आदि सबसे विशेष गौरवशाली समझा जाता था।" +

यदि हम जैनशास्त्रोमे खोज करके देखें तो अवश्यही उनमें भी सम्बोवनके उपरोक्त भेदोका परिचय अवश्य ही प्राप्त होजाता है। उदाहरणके तौरपर देखिये 'रक्तमुख' 'श्यामसुख' आदि रूपसे 'उपनाम' का व्यवहार 'पद्मपुराण' मे हुआ मिलता है। व्यक्तिगत नाम तो अनेको मिलते हैं—ऋषभ, भरत आदि यही मूल नाम है। गोत्र नामका व्यवहार भी जैन शास्त्रोमे होता हुआ मिलता है, जैसे भगवान पार्श्वनाथ अपने गोत्रकी अपेक्षा 'काश्यपीय' इन्द्रभूति गणधर 'गौतम' और सुधर्माचार्य 'अग्निवैश्यायन' कहलाते थे। वश नामकी अपेक्षा स्वयं भगवान महावीर 'ज्ञातृपुत्र' के नामसे परिचित हुये थे। माताके नामसे भी विशेष व्यक्तियोकी प्रख्याति जैनशास्त्रोमे की गई है, जैसे ऐरानन्दन (शांतिनाथ), वामेय (पार्श्व नाथ) इत्यादि। समाजमें प्रतिष्ठित पदकी अपेक्षा किसीका उल्लेख करना प्रायः बहु प्रचलित है। उत्तरपुराणमें अभयकुमारके पूर्वभव वर्णनमें ब्राह्मणपुत्रका उल्लेख इसी तरह हुआ है। शिष्टाचारके

+ 'डायोलॉग्स ऑफ बुद्ध' मे महालि सुत्तकी भूमिका पृ० १९३-१९६।

शब्दोंका प्रयोग सदा सर्वदा होता रहा है । जैनशास्त्रोंमें भी इसके अनेको उदाहरण मिल सक्ते है । यही दशा साधारण नामकी है । सारांशत जैन शास्त्रोंसे भी हमें उस समयकी दशाके खासे दर्शन होजाते है ।

अब देखना यह रहा कि उस समयकी राजनैतिक दशा क्या थी ? इसके साथ ही 'धार्मिक परिस्थिति' का परिचय पाना भी जरूरी है, परन्तु हम उसका दिग्दर्शन एक स्वतंत्र परिच्छेदमें अगाडी करेंगे । अस्तु, यहापर केवल राजनैतिक अवस्थापर एक नजर और डालना बाकी है । जैन पुराणोंपर जब हम दृष्टि डालते हैं तो उस समय सर्वथा स्वाधीन सम्राटोंका अस्तित्व पाते हैं । सार्वभौमिक सम्राट् ब्रह्मदत्त भगवान पार्श्वनाथके जन्मसे कुछ पहले यहा मौजूद थे ।[1] किंतु ऐसा माल्लम होता है कि उनकी मृत्युके साथ ही देशमें उच्छृङ्खलताका दौरदौरा होगया था । छोटे छोटे राज्य स्वाधीन बन बैठे थे और विदेशी लोग भी आनकर जहां तहा अपना अधिकार जमा लेने लगे थे ।[2] इस तरहकी राज्य व्यवस्थामें ऐसे भी उल्लेख मिलते है जिनसे यह घोषित होता है कि जनता खास अवसरोपर स्वय एक योग्य व्यक्तिको अपना राजा चुन लेती थी ।[3] यह उपरान्तके प्रजसत्तात्मक राज्य जैसे लिच्छवि, मल्ल आदिका पूर्वरूप कहा जाय तो कुछ अनुचित नहीं है । जैन

---

१ उत्तरपुराण पृ० ५६४ और कैम्ब्रिज हिस्ट्री ऑफ इन्डिया भाग १ पृ० १८० । २ उपरान्तके नागकुमारचरित और करकण्डु चरित्र आदि ग्रंथोंके पढनेसे यही दशा प्रकट होती है । अनेक छोटे२ राज्य दिखाई पड़ते हैं और विद्याधरोंको आनकर यहापर राज्य करते बतलाया गया है। ३ दन्तपुरकी प्रजाने करकण्डुको अपना राजा चुना था । करकण्डुचरित्र देखो।

दृष्टिसे जो यह हालत राज्यकीय क्षेत्रमे मिलती है, वह अन्यथा भी सिद्ध है। प्राचीनतम भारतीय मान्यता इस पक्षमे है कि पहले एक व्यक्तिको जनता राजाके रूपमें चुन लेती थी और वह जनताके हितके लिये राज्य करता था। हिन्दुओके महाभारतमे राजा वेण और पृथुकी कथासे यही प्रकट होता है।[1] स्वयं ऋग्वेदमे 'समिति' और 'परिषद्' शब्दोका उल्लेख मिलता है, जिससे स्पष्ट है कि प्रजासत्तात्मक राज्यकी नींव वैदिककालमें ही पड चुकी थी।[2] यद्यपि मानना पड़ता है कि उस समयकी प्रजा स्वाधीन राजाओंके ही आधीन थी। जाहिरा ऋग्वेदमें ऐसा कोई उल्लेख स्पष्ट रीतिसे नहीं है कि जिससे किसी अन्य प्रकारकी राज्य व्यवस्थाका अस्तित्त्व प्रमाणित होसके। ऋग्वेदमें अनेक स्थलोंपर 'राजन्' रूपमे एक नृपका उल्लेख मिलता है और यह राज्य प्रणाली अवश्य वंशपरम्परामें क्रमशः चली आरही थी। राजा होना तबके राजाओका मौरूसी हक था, किन्तु वह पूर्ण स्वाधीन भी नही थे कि मनमाने अत्याचार कर सके, क्योंकि ऐसा करनेमे उनके मार्गमें समिति या सभाके सदस्य आड़े आते थे।[3] इस कारण यह मानना ही पडता है कि प्रजासत्तात्मक राज्यके बीज भारतमें ऋग्वेदके जमानेसे ही बो दिये गये थे। जैन शास्त्र भी सर्व प्रथम राजाओका साधारण जनतामेसे चुना जाना ही बतलाते हैं।[4] अतएव इसमे कोई आश्चर्य नही, यदि भगवान पार्श्वनाथजीके समयमे भी दोनो तरहके राज्योंका अस्तित्त्व किसी न किसी रूपमें मौजूद हो।

---

१. महाभारत शांतिपर्व ६०।९४। २. समक्षत्री ट्राइब्स ऑफ एन्शियेन्ट इंडिया पृ० ९९। ३. कैम्ब्रिज हिस्ट्री ऑफ इन्डिया भाग १ पृ० ९४। ४. आदिपुराण अ० १६।२४१-२७५।

बौद्ध साहित्यपर जब दृष्टि डाली जाती है तो वहांपर म० बुद्धके पहलेसे सोलह राज्योंका अस्तित्त्व भारतवर्षमें मिलता है। बेशक म० बुद्धके जीवनकालमें भी इन सोलह राज्योंका और इनके साथ अन्य प्रजासत्तात्मक राजाओंका अस्तित्व मिलता है; परन्तु ऐसी बहुतसी बातें हैं जो इन सोलह राज्योंका अस्तित्व म० बुद्धसे पहलेका प्रमाणित करती है। म० बुद्धके जीवनमें कौशलका अधिकार काशीपर होगया था; अङ्गपर मगधाधिपने अधिकार जमा लिया था और अस्सक लोग संभवत. अवन्तीके आधीन होगये थे, किंतु उपरोक्त सोलह राज्योंमें ये तीनों ही देश स्वाधीन लिखे गये हैं। इसीलिए इनका अस्तित्व बौद्ध धर्मकी उत्पत्तिके पहलेसे मानना ही ठीक है। यह बात दीघनिकाय (२-२३५) और महावस्तु (२। २०८-२०९)के उल्लेखोंसे भी प्रमाणित है; जिनमें बौद्ध धर्मके पहले केवल सात मुख्य देशों अर्थात (१) कलिग, (२) अस्सक, (३) अवन्ती. (४) सौवीर, (५) विदेह, (६) अङ्ग और (७) काशीका नामोल्लेख है। इसमें भी कलिङ्गके साथ अस्सक, अङ्ग और काशीका उल्लेख स्वतंत्र रूपमे है। इस अवस्थामें कहना होगा कि भगवान पार्श्वनाथजीके समयसे ही सोलहराज्योंका अस्तित्व भारतमें मौजूद था।[1]

इस प्रकारकी राजव्यवस्थाके दर्शन हमे भगवान पार्श्वनाथके समयमें होते है और उस समयकी सामाजिक और राजनैतिक परिस्थितिका दिग्दर्शन करके आइए पाठकगण, एक नजर तत्कालीन धार्मिक परिस्थिति पर भी डाल लें।

---

१ कम्ब्रिज हिस्ट्री ऑफ इन्डिया भाग १ पृ० १७३।

(७)

तत्कालीन धार्मिक परिस्थिति !

" कश्चिद्विप्रसुतो वेदाभ्यासहेतोः परिभ्रमन्।
देशांतराणि पाखंडिदेवतातीर्थजातिभिः ॥ ४६६ ॥
लोकेन च विमुह्याकुलीभूतस्तत्प्रशंसनं।
तदाचारितमत्त्युच्चैरनुतिष्ठन्नयेच्छया ॥ ४६७ ॥ "

—उत्तरपुराण।

एक मनुष्य आकुल व्याकुल हुआ दृष्टि पड रहा है। कपिरोमा वेलके पत्ते अब भी उसके हाथमें है। वह रह रहकर अपने सारे शरीरको खुजालता है। खुजलीके मारे वह घवड़ाया हुआ है। देखनेमें सुडौल–सौम्य–युवा है। उसका उन्नत भाल चन्दन चर्चित है। सचमुच ही वह एक ब्राह्मण पुत्र है, परन्तु इसतरह यह वावला क्यों वन रहा है? कपिरोमा वेलके पत्ते इसके हाथमें क्यों है? रहरहकर अपनी देहको वह क्यो खुजला रहा है और खिजाई हुई दृष्टिसे वह अपने साथीकी ओर क्यो घूर रहा है?

इन सब प्रश्नोका ठीक उत्तर पानेके लिये, पाठकगण जरा भगवान महावीरजीके समवशरणके दृश्यका अनुभव कीजिए। अनुपम गंधकुटीमें सर्वज्ञ भगवान अंतरीक्ष विराजमान थे। भूत, भविष्यत्, वर्तमानका चराचर ज्ञान उनको हस्तामलकवत् दर्शता था। सामने रक्खे हुये दर्पणमें ज्यो प्रतिबिम्ब साफ दिखाई पड़ता है उसी तरह परमर्हित्–रागद्वेष रहित–वीतराग भगवानके ज्ञानरूपी दर्पणमें तीनो लोकका त्रिकालवर्ती बिम्ब स्पष्ट नजर पड़ रहा था! कोई बात ऐसी न थी जो वहां शेष रही हो। उन

परमयोगी-साक्षात् परमात्माके निकट सब जीव मोदभावको धारण किये हुये बैठे थे। देव, मनुष्य, तिर्यंच सब ही वहांपर तिष्ठे भगवानके उपदेशको सुनकर अपना आत्मकल्याण कर रहे थे। भगवानके मुख्य शिष्य-प्रधान गणधर इन्द्रभूति गौतम एवं अन्य मुनिराज और आर्यिकाएं भी वहां विराजमान थे। मनुष्योंके कोठेमें उस समयके प्रख्यात सम्राट् श्रेणिक बिम्बसार भी बैठे हुये थे। उनके निकट उनका विद्वान् और यशस्वी पुत्र अभयकुमार बैठा हुआ था।

यही सुंदर राजकुमार विनम्र हो खड़ा होगया है-परमगुरूको नमस्कार करके दोनों करोंको जोड़े हुये निवेदन कर रहा है। वह अपने पूर्वभवोंको जाननेका इच्छुक है। दयागंभीर गणधर महाराज भी इसके अनुग्रहको न टाल सके। वे भगवान महावीरकी दिव्य-वाणीके अनुरूप कहने लगे कि "इससे तीसरे भवमें तू भव्य होकर भी बुद्धिहीन था। तू किसी ब्राह्मणका पुत्र था और वेद पढ़नेके लिए अनेक देशोंमें इधर उधर घूमता फिरता था। पाखंड-मूढ़ता, देवमूढ़ता, तीर्थमूढ़ता और जातिमूढ़तासे सबको विमोहित कर बहुत ही आकुलित होता था तथा उन्हींकी प्रशंसाके लिये उन्हीं कामोंको अच्छी तरह करता था। किसी एक समय वह दूसरी जगह जा रहा था। उसके मार्गमें कोई जैनी पथिक भी जा रहा था। मार्गमें पत्थरोंके ढेरके पास एक भूतोंका निवासस्थान पेड़ था। उसके समीप जाकर और उसे अपना देव समझकर बड़ी भक्तिसे उस ब्राह्मणपुत्रने उसकी प्रदक्षिणा दी और प्रणाम किया। उसकी इस चेष्टाको देखकर वह श्रावक हंसने लगा। तथा उसकी

अवज्ञा करनेके लिए उस वृक्षके कुछ पत्ते तोड़कर मींडकर अपने पैरकी धूलसे लगा लिये और उस ब्राह्मणसे कहा कि देख, तेरा देव जैनियोंका अनिष्ट करनेमें बिलकुल समर्थ नहीं है। इसके उत्तरमें उस ब्राह्मणने कहा कि अच्छा ऐसा ही सही, इसमें हानि ही क्या है? मैं भी तेरे देवका तिरस्कार कर सकता हूं। इस विषयमें तू मेरा गुरु ही सही! इसतरह कहकर वे दोनो एक देशमे जा पहुंचे। वहांपर कपिरोमा नामकी बेलके बहुतसे वृक्ष थे। उन्हें देखकर वह श्रावक कहने लगा कि देखो यह हमारा देव है और यह कहकर उसने बड़ी भक्तिसे प्रदक्षिणा दी और नमस्कार कर अलग खडा होगया। वह ब्राह्मण पहलेसे क्रोध करही रहा था, इसलिए उसने भी हाथसे उसके पत्ते तोड़े और मसलकर सब जगह लगा दिये, परन्तु वे खुजली करनेवाले पत्ते थे इसलिये लगाते ही उसे असह्य खुजलीकी बाधा होने लगी तथा वह डर गया और श्रावकसे कहने लगा कि इसमें अवश्य ही तेरा देव है। तब हंसता हुआ श्रावक कहने लगा कि इस संसारमे जीवोको सुखदुखका देने-वाला पहिले किये हुये कर्मोंके सिवाय और कुछ नहीं है—कर्म ही इसके मूलकारण है। इसलिये तप, दान, आदि सत्कार्यों द्वारा तू अपना कल्याण करनेके लिए प्रयत्न कर और इस प्रकारकी देवमूढ़ताको कि देवता ही सब करते है निकाल फेंक। बादको वह फिर कहने लगा कि जो मनुष्य पुण्यवान हैं उनके देवलोग स्वयं आकर सहायक होजाते हैं। पुण्यरूपी कङ्कणके रहते हुये देव कुछ हानि नही कर सक्के। इस प्रकार समझाकर अनुक्रमसे उसकी देवमूढता दूर की।"

१–श्रीगुणभद्राचार्य प्रणीत 'उत्तरपुराण"का प० लालाराम कृत हिन्दी

पाठकगण, जिस व्यक्तिके विषयमें हम प्रारम्भमें कितने ही प्रश्न कर आए हैं, उसका सम्बन्ध गणधर भगवान द्वारा बतलाई गई उक्त घटनासे है । भगवान महावीरस्वामीके समयके अभयकुमारका जीव ही अपने पहलेके तीसरे भवमें ब्राह्मणपुत्र था। उसीका उल्लेख हम ऊपर कर आए हैं । अभयकुमारका यह तीसरा भव भगवान पार्श्वनाथके जन्मकालसे पहले हुआ समझना चाहिये: क्योंकि ब्राह्मणभवसे वह स्वर्ग गया था और स्वर्गसे आकर अभयकुमार हुआ था । इस प्रकार अभयकुमारके उपरोक्त पूर्वभव वर्णनमें हमें भग-

---

अनुवादमें । मूल श्लोक परिच्छेदके प्रारम्भमें दिये हुओंको छोडकर इस प्रकार हैं -

वान पार्श्वनाथके समय, बल्कि उसके पहलेसे स्थित धार्मिक वातावरणके दर्शन होते है। इसी महत्वको दृष्टिकोण करके यह कथा यहांपर दी गई है। इस कथाके अबतकके वर्णनसे यह स्पष्ट है कि उस समय देवमूढ़ता, तीर्थमूढ़ता आदिका विशेष प्रचार था। दूसरे शब्दोमें ब्राह्मण लोगोका प्राबल्य अधिक था। देवमूढता यहांतक बढ़ी हुई थी कि लोग भूत, यक्षादिका वास पेडोपर मानकर उनकी पूजा करते थे, उनको अपना देव मानते थे। यही कारण है कि उक्त कथामें श्रावकके कपिरोमा बेलको अपना देव बतानेपर ब्राह्मणपुत्रने कुछ भी आगापीछा न सोचा और उसके कहनेपर विश्वास कर लिया ! साथ ही वेदानुयायियोंने जो देव—ईश्वरको सुखदुखका दाता घोषित किया था, उसका भी इस समय प्रचार था, यह भी इस कथासे स्पष्ट है।

सभव है कतिपय पाठकगण, जैन कथाके उक्त विवरणको विश्वासभरे नेत्रोसे न देखें, उनके लिये हम अन्य श्रोतोंसे जैनकथाके विवरणकी स्पष्टवादिताको प्रकट करेंगे। बौद्ध श्रोतोका अध्ययन करके स्व० मि० हीस डेविड्स इसी निष्कर्षको पहुंचे थे कि बुद्धके समयमें पहलेसे चली आई हुई पेडोंकी पूजा भी प्रचलित थी। उन्ही पेडोंके नामके चैत्य आदि भी बने हुये थे।[१] एक अन्य विद्वान् भगवान महावीर और म० बुद्धके समयकी धार्मिक स्थितिके विषयमे लिखते हुए लिखते हैं कि "पहले यहां एक मात्र-

---

१–बुद्धिस्ट इन्डिया और 'डॉयलॉग्स ऑफ दी बुद्ध' भाग २ पृ० ११० फुटनोट तथा मि० आर० पी० चन्दाकी मेडीविल स्कल्पचर इन ईस्टर्न इन्डिया, Cal Univ. Journal (Arts), Vol. III.

तिक धर्म था जो बादमें हिन्दूधर्म या ब्राह्मण धर्मके नामसे ज्ञात हुआ । इस धर्ममें बहुत प्राचीन मनुष्योंकी मानतायें, पित्रजनोंकी पूजा, क्रियाकांड, प्रचलित पौराणिक वाद आदि गर्भित थे । यह बिल्कुल ही प्रकृति (Nature) की पूजाका धर्म था । और जबतक मनुष्य चुपचाप प्राचीन रीतियोंको मानते हुए रहे तबतक इस बातकी किसीको फिकर ही न हुई कि सैद्धान्तिक मन्तव्य किसके क्या हैं ? "[1] इसतरह इससे भी यह बात प्रकट है कि पहले यहां वृक्ष जल आदि प्राकृतिक वस्तुओंकी पूजा भी प्रचलित थी । परन्तु तब यहां क्या केवल यही एक धर्म था, इसके लिए इस उक्त विद्वानके कथनको नजरमें रखते हुए हम अगाडी विवेचन करेंगे । यहांपर उपरोक्त जैन कथाके शेष भागको देखकर हम उस समयके धार्मिक वातावरणके जो और दर्शन होते हैं, वह देख लेना उचित समझते हैं ।

उक्त जैन कथामें अगाड़ी कहा गया है कि "वह श्रावक उस ब्राह्मणके साथ गंगानदीके किनारे गया । भूख लगनेपर उस नदीके जलको मणिगंगा नामका उत्तम तीर्थ समझकर स्नान किया और इसतरह तीर्थमूढताका काम किया । तदनतर जब वह ब्राह्मण खानेकी इच्छा करने लगा तब श्रावकने पहले खाकर उस बचे हुये उच्छिष्ट भोजनमें गंगानदीका वही पानी मिलाकर उस ब्राह्मणको दिया और हित बतलानेके लिये कहा कि गंगाका जल मिलजानेसे यह भोजन पवित्र है इसे खाओ । उसे देखकर वह ब्राह्मण कहने लगा कि तेरा उच्छिष्ट भोजन मैं कैसे खाऊं, तब उस श्रावकने

1-दी हिस्ट्री ऑफ प्री-बुद्धिस्टिक इन्डियन फिलासफी पृ० २६५.

कहा कि तू जो इसतरह कह रहा है सो तुझे क्या मालूम नहीं है कि इसमें गंगाका जल मिला हुआ है। यदि यह गंगाजल इस भोजनके उच्छिष्ट दोषको भी दूर नहीं कर सक्ता तो फिर इन तीर्थोंके जलसे पापरूपी मल किसतरह दूर होसक्ता है। इसलिये तू अपने मूढ़ चित्तसे इन निर्मूल विचारोंको निकाल दे। यदि जलसे ही बुरी वासनाओंके पाप दूर होजाय तो फिर तप दान आदि अनुष्ठानोंका करना व्यर्थ ही होजायगा। सबलोग जलसे ही पाप दूर कर लिया करें क्योंकि जल सब जगह सुलभ रीतिसे मिलता है। मिथ्यात्व, अविरत, प्रमाद, कषाय इससे पापकर्मोंका बंध होता है और सम्यक्त्व ज्ञान, चारित्र तपसे पुण्य कर्मोंका बंध होता है। तथा अंतमें इन्हीं चारोंसे मोक्ष होती है। इसलिये अब तू श्री जिनेन्द्रदेवका मत स्वीकार कर," इसप्रकार श्रावकने कहा।

उस श्रावकका यह उपदेश सुनकर उस ब्राह्मणने तीर्थमूढ़ता भी छोड़ दी। इसके बाद वहांपर एक तपस्वी पांच अग्नियोंके मध्यमें बैठकर दुःसह तप कर रहा था। जलती हुई अग्निमें छहों प्रकारके जीवोंका निरंतर घात होरहा था और वह प्रत्यक्ष जान पड़ता था। उस श्रावकने उस तपस्वीको माननेकी पाखंडि मूढता भी बड़ी युक्तियोंसे दूर की। इसके बाद वह श्रावक फिर कहने लगा 'कि इस वटवृक्षपर कुबेर रहता है, ऐसी बातोंपर श्रद्धान रखकर राजालोग भी उसके योग्य आचरण करने लग जाते हैं अर्थात् पूजने लग जाते हैं। क्या वे जानते नहीं कि लोकका यह बड़ा भारी प्रसिद्ध हुआ मार्ग छोड़ा नहीं जा सकता' इत्यादि ऐसे लोकप्रसिद्ध बचनोंको कभी ग्रहण नहीं करना चाहिए क्योंकि ऐसे

हमें यथार्थताको लिए हुए प्रकट होती है। जब हम देखते हैं कि भगवान महावीर अथवा म० बुद्धके जन्मकालमें बहुतसे यक्षमंदिर आदि मौजूद थे। वैशालीके आसपास ऐसे कितने ही चैत्यमंदिर थे। यह चैत्य चापाल, सप्ताम्रक, बहुपुत्र, गौतम, कपिनह्य, मर्कट-ह्रदतीर आदि नामसे विख्यात थे।[1] बौद्ध लेखक बुद्धघोष अपनी 'महापरिनिब्बाण सुत्तन्तकी टीकामें 'चैत्यानि' को 'यक्षचैत्यानि' रूपमें बतलाते हैं। और 'सारन्ददचैत्य'के विषयमें कहते हैं, जहां कि बुद्धने धर्मोपदेश दिया था, कि 'यह वह विहार था जो यक्ष सारन्दके पुराने मंदिरके उजडे स्थानपर बनाया गया था।[2] इस-तरह उस समय यक्षादिकी पूजाका प्रचलित होना भी स्पष्ट व्यक्त है। लिच्छवि क्षत्रिय राजकुमारोंकी इनकी मान्यता थी, यह भी प्रकट है।[3] अब रही बात हेतुवादसे आत्मकी सिद्धि करनेकी सो यह भी बौद्ध शास्त्रोंसे प्रमाणित है कि उस समय ऐसे साधुलोग विद्यमान थे जो हेतुवादसे अपने मन्तव्योंकी सिद्धि करते थे और वर्षभरमें अधिक दिन वाद करनेमें ही बिताते थे।[4] इसप्रकार उप-रोल्लिखित जैन कथाद्वारा जो भगवान पार्श्वनाथके समयके धार्मिक वातावरणका परिचय हमें मिलता है, वह प्राय ठीक ही विदित होता है और हमें उस समयकी धार्मिक परिस्थितिके करीबर स्पष्ट दर्शन होजाते हैं। इस धार्मिक स्थितिका दर्शन करते हुए आइए

पाठकगण इससे पूर्वकी धार्मिक दशाका भी परिचय प्राप्त करलें जिससे इसका और भी स्पष्ट दृश्य प्रगट होजाय और पूर्वोल्लिखित विद्वान्के वर्णनक्रमका दिग्दर्शन प्राप्त होजाय।

डॉ० वेनीमाधव बारुआने अपनी 'ए हिस्ट्री ऑफ प्री-बुद्धिस्टिक इन्डियन फिलासफी' नामक पुस्तकमें हमे भारतके धार्मिक विकाशका अच्छा दिग्दर्शन कराया है। आपने पहले ही वेदोके ऋषियोंको प्राकृत-धर्म (Natural) निरूपण करनेवाला वतलाया है और आपकी दृष्टिकोणसे वह प्रायः ठीक है। परन्तु यदि हम वेदोके मंत्रोको शब्दार्थमे ग्रहण न करें और उन्हें अलकृत भाषाके आत्मा संबधी राग ही मानें, तो भी उनका अर्थ और अधिक स्पष्टतःसे ठीक बैठ जाता है। यह वैदिक ऋषिगण 'कवि' नामसे परिचित भी हुए हैं।[1] तथापि यह भी स्पष्ट है कि प्राचीन भारतमें अलकृत भाषाका व्यवहार होता था।[2] और हिन्दुओके वेद उस भाषासे अलग किसी दूसरी भाषामें नहीं लिखे गये है।[3] इस दशामें उनको शब्दार्थमे ग्रहण करना कुछ ठीक नहीं जंचता है। जैन शास्त्रोमें यह स्वीकार किया गया है कि स्वयं भगवान ऋषभदेवके समयसे ही पाखण्डमतोकी उत्पत्ति मारीचि द्वारा होगई थी।[4] और इधर वेद भी इस बातको स्वीकार करते हैं कि उनके

१-ऋग्वेद १।१६४,६ १०।१२९,४। २-हिन्दी विश्वकोष भाग १ पृष्ठ ६०-६७। ३-मि० प्यगने अपनी "दी परमानेन्ट हिस्ट्री ऑफ भारतवर्ष" में यही व्यक्त किया है तथापि वि०वा० प० चम्पतरायजीने 'असहमतसंगम' आदि ग्रंथोंमें यही प्रकट किया है। स्वय हिन्दू ऋषि 'आत्मरामायण' के कर्त्ताने भी इस व्याख्याको स्पष्ट कर दिया है। ये ग्रंथ देखना चाहिए। ४-आदिपुराण पर्व १८-६१-२०। ३-२१७।

साथ २ उनका विरोधी मत भी कोई मौजूद था।[1] अतएव वेदोंको शब्दार्थमें ग्रहण करके और फिर उनसे ही उपरान्त जैन, बौद्ध आदि धर्मोंकी उत्पत्ति मानना कुछ ठीक नहीं जंचता है। जबकि जैनधर्म हिन्दूधर्मके समान ही प्राचीनतम धर्म होनेका दावा करता है, जिसका समर्थन हिन्दूओंके पुराण ग्रंथ भी करते हैं।[2] तिसपर स्वयं ऋग्वेदमें जो 'प्रजापति परमेष्टिन्' के मन्तव्योंका विवेचन किया गया है, उनसे इस विषयकी पुष्टि होती प्रतीत होती है, यदि हम उन्हें शब्दार्थमें ग्रहण न करें। परमेष्टिन्की मान्यता द्वैषरूप (Dynamistic) और संशयात्मक (Sceptic) कही गई है।[3] इसी तरह भगवान महावीरके धर्मको भी द्वैषरूप (Dynamistic) और स्याद्वादात्मक कहा है;[4] जो परमेष्टिनकी मान्यतासे सादृश्यता रखता है। तिसपर स्वयं 'परमेष्टिन्' शब्द ही खास जैनियोंका है। जैनधर्मके पूज्य देव—अरहंत, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय, साधु—पंच 'परमेष्टी' के नामसे विख्यात हैं। इतर धर्मोंमें इस शब्दका व्यवहार इस तरहसे किया हुआ प्राय: नहीं ही मिलता है। इस कारण संभव है कि जैनधर्मके सिद्धान्तको व्यक्त करनेके लिए अथवा उसी ढंगको बतानेके वास्ते 'प्रजापति परमेष्टी' के मंत्रोंका समावेश ऋग्वेदमें किया गया है। 'प्रजापति' शब्दसे यदि स्वयं भगवान ऋषभदेवका अभिप्राय हो तोभी कुछ आश्चर्य नहीं है, क्योंकि कर्मयुगके प्रारम्भमें प्रजाकी सृष्टि करने और उसकी रक्षाके उपाय बतानेकी अपेक्षा वे 'प्रजापति' नामसे भी उल्लिखित हुए हैं।[5]

१–ऋग्वेद १०।१३६। २–भागवत ५।४, ५ ६, तथा विष्णुपुराण पृ० १०४। ३–ए हिस्ट्री ऑफ प्री–बुद्धिस्टिक इन्डियन फिलॉसफी पृ० १४। ४–पूर्व पृष्ठ ३३२। ५–जिनसहस्रनाम अ० २ श्लो० ३।

इसतरह जाहिरा हमें इन मंत्रोंसे जैनधर्मका संबंध झलक जाता है।

अब जरा इनके मंत्रोंको भावार्थमें ग्रहण करके देख लीजिए कि वह क्या बतलाते हैं ? इनके मन्तव्य ऋग्वेद मंत्र १०।१२९ मे दिये हुये हैं। पर हम यहांपर मि० बारुआके उल्लेखोके अनुसार विचार करेंगे। सबसे ही पहले परमेष्टिन्‌ने जो 'सिद्धान्त' (Philosophy) का स्वरूप बतलाया है, वह दृष्टव्य है। वे कहते हैं कि 'सिद्धान्त कवियोंकी आभ्यन्तरिक खोजका परिणाम है जो वे सत्तात्मक और असत्तात्मक वस्तुओंके पारस्परिक सम्बन्धको अपने विचार द्वारा जाननेके लिये करते हैं।'[1] जैनधर्ममें भी सिद्धान्तके स्वरूपको ऐसे ही स्वीकार किया गया है। वहां सिद्धान्तकी उत्पत्ति ऋषभदेव द्वारा ध्यानमग्न होकर विचार-तारतम्यकी परमोच्च सीमामे-केवली दशामें पहुंच करके होनेका उल्लेख है। वहां सिद्धान्तको किसी परोक्ष ईश्वर आदिकी कृति नहीं मानी है, बल्कि यही कहा है कि मनुष्य जब ध्यानद्वारा अपनी विचार-दृष्टिको बिल्कुल निर्मल बना लेता है तब उसके द्वारा सैद्धान्तिक विवेचन प्राकृतरूपमें होता है। परमेष्टिन्‌का भी भाव यही है; यद्यपि वह पूर्ण स्पष्ट नहीं है।

प्रजापति परमेष्टिनके समयमें कहा गया है कि दो तरहके-

१-प्री-बुद्धिस्टिक इन्ड० फिला० पृष्ट ६-" Prajāpati Parmesthin seems to speak of philosophy as search carried on by the Poets within their heart for discovering in the light of their thought the relation of existing things to the non-existent. (Rig. X. 192, 4 सतोवघृन असति).

मत प्रचलित थे। एकका कहना था कि 'व्यक्ति' (Being) की उत्पत्ति 'अ–व्यक्ति' (Non-Being) मेंसे हुई है। दूसरा कहता था कि 'व्यक्ति' (Being) व्यक्तिमेंसे ही उत्पन्न होसक्ता है।[1] इन दोनोंके वीचमे प्रजापतिने मध्यका मार्ग ग्रहण किया था, यह कहा गया। उनके निकट 'मुख्य वस्तु' का समावेश न व्यक्तिमें था और न अव्यक्तिमें। (For him the original matter comes neither under the definition of Being nor that of non-B ing)[2] प्रजापतिने समझानेके लिए पानी (सलिल) को मुख्य माना था। उनका कहना था कि पानीसे ही सब वस्तुए बनी है, सब सत्तात्मक वस्तुओकी मूल द्रव्य पानी है। इसके अगाडी उन्होंने और कुछ न बतलाया और इसी अपेक्षा उनका मत संशयात्मक माना गया है।[3] उनके निकट गहन–गंभीर पानी ही सब कुछ था और वह भी क्या था? वह एक वस्तु थी जो स्वास रहित पर अपने ही स्वभावमें स्वासपूर्ण थी। (आनीदवात स्वधयातद एकम्, तस्माद्धान्यन् न पर किञ्चन नास")[4] वह अमूर्तिक भी थी। (ऋग्वेद १०।१२९,२) अंधकार (तमस) भी था और इस तमस–अधकारमें पहले 'पानी' अपने अव्यक्तरूप (अप्रकेतम्) मे छुपा हुआ था। पानी ही वह था जो सत्तामें था। (सर्वम इद।)[5] पानी यहापर सिवाय आत्मद्रव्यके और कुछ न था। संसारमें आत्माको 'पानी' के नामसे सज्ञित करना ठीक भी है,

---

१–१ हिस्ट्री ऑफ प्री–बुद्ध० इन्ड० फिला० पृष्ठ १२। २–पूर्व प्रमाण। ३–पूर्व पृ० १२ ४ पूर्व पृ० १३–" Water was that one thing, breathless, breathed by its own nature. ५–पूर्व पृष्ठ १३।

क्योंकि पानी एक मिश्रितरूप है और संसारमे आत्मा भी अज्ञानसे वेष्टित संयुक्तावस्थामें है यद्यपि मूलमे वह अपने स्वभाव कर ही जीवित है अर्थात् अपने स्वभावसे वह अब भी च्युत नहीं हुआ है। और अमूर्तीक ही है। वही अपना ससार अपने आप बनाता है इस कारण सब वस्तुओंका कर्ता भी वही है। इसप्रकार प्रजापति परमेष्ठिन्‌के मन्तव्यको हम भावार्थरूपमें प्राय जैनधर्मके समान ही पाते है। बल्कि जिनसेनाचार्यजी कृत 'जिनसहस्रनाम' मे भगवान ऋषभदेवका स्मरण 'सलिलात्मक' रूपसे किया हुआ मिलता है।[1] यह भी 'सलिल' के अर्थ 'आत्मा' की पुष्टि करता है, क्योंकि ऋषभदेव परमात्मा रूपमें ग्रहण किये गये है और परमात्मा एव आत्मामे मूलमे कुछ अन्तर नही है। अस्तु;

प्रजापतिने पुद्गल (Matter) और मुख्य शक्ति–आत्मा (Motive power) में यहांपर कोई भेद भी न बताया,[2] इसका कारण यही है कि वह पहले ही आत्माको 'पानी' मानकर इस भेदको प्रकट कर चुके थे। 'व्यक्ति' उनके निकट 'पर्याय' ही थी।[3] 'पानी' अर्थात् आत्माकी पर्याय–पलटन उसमे गरमाई (तपस) के कारण होती थी।[4] यह गरमाई जैनदृष्टिसे 'विभाव' कही जासक्ती है जिससे 'काम'की उत्पत्ति होना ठीक ही है। काम ही सासारिक परिवर्तनमें मुख्य माना गया है, जो मनसे ही जायमान (मनसो रेत.) था। यह मन अन्तत 'सूर्य' बतलाया गया है। जो संसारमे प्रथम-जन्मा, स्व-विज्ञान और प्रत्यक्ष संसारमें व्यक्तिरूप है।[5] जैनधर्ममें भी पर्याय धारण करनेमे मुख्य कारण कामादि जनित इन्द्रियलिप्सा

१–जिनसहस्रनाम अ० २ श्लोक ५। २–ए हिस्ट्री० पृ० १३। ३–पूर्व पृष्ठ १४। ४–पूर्व प्रमाण। ५–पूर्वप्रमाण।

ही मानी गई है और मन एक अलग पदार्थ माना गया है जिसका खास सम्बध आत्मासे है। उसको अन्ततः सूर्यरूप कहना कुछ गलत नहीं है, क्योकि सूर्य आत्माकी शुद्ध दशाका द्योतक है। स्वय ऋग्वेदमे उसे अमरपनेका स्वामी (अम्रितत्वप्येशानो १०-९०,३) कहा गया है। इस तरह प्रजापति परमेष्ठिन्के नामसे जो सिद्धान्त ऋग्वेदमे दिये गये है वह जैनधर्मसे सादृश्यता रखते है तथापि पहले बताये हुए नामके भेदको दृष्टिमें रखते हुये यह कहना कुछ अत्युक्ति पूर्ण न होगा कि इन मंत्रोंमें वेद ऋषियोंने भगवान ऋषभदेव द्वारा प्रतिपादित जैनधर्मका किञ्चित् विवेचन किया है। इसलिये भारतमें प्रारभसे एक प्राकृत धर्म जो उपरान्त ब्राह्मण धर्म कहलाया केवल उसका ही अस्तित्व बतलाना ठीक नहीं है। इस एव अन्य श्रोतोंसे यह प्रमाणित है कि भारतमें जैनधर्मका अस्तित्व वेदोंसे भी पहलेका है।[1]

डॉ० सा० ने वेदोंकेबाद ऐतरेय, तैत्तिरीय आदि ब्राह्मण दर्शनोका समय आता हुआ बताया है। यह काल महीदास ऐतरेयसे याज्ञवल्क्य तक माना है। इस कालमे सैद्धान्तिक विवेचनाका केन्द्र 'ब्रह्मऋषि देश'से हटकर 'मध्यदेश'मे आ गया था, जो हिमालय और विन्ध्या पर्वतोके बीचका स्थल था। यह परिवर्तन क्रमकर हुआ ही खयाल किया जा सक्ता है। इस कालमे धर्मकी विशुद्धता जाती रही और पुराण-क्रियाकाण्ड आदिका समावेश हो चला था। ललित कविताका स्थान शुष्क गद्यने ले लिया था। इस समयके तत्वान्वेषिकोके समक्ष यही प्रश्न था कि "मै ब्रह्ममें कब-लीन हो सक्ता हूं।" और इसी लिए योगकी प्रधानता भी इस जमानेमें विशेष रही थी।[1] जैन शास्त्रोमे भी भगवान शीतलनाथके समय तक अविच्छन्न रूपसे धर्मका उद्योत बने रहनेका उल्लेख है। उसी समयसे ब्राह्मणोमें लोभकी मात्रा बढनेका उल्लेख किया गया है और बतलाया गया है कि उन्होने नए शास्त्रोकी रचना भी की थी।[2] इसकेबाद मुनिसुव्रतनाथ भगवानके समयमें वेदोंमें पशुयज्ञकी आयोजना की गई थी, यह बतलाया है।[3] सचमुच जैन शास्त्रोंकी यह क्रमव्यवस्था ऐतिहासिक अनुसन्धानसे प्रायः बहुत कुछ ठीक बैठ जाती है। ऊपर जो वेदोंके बाद कलिकालमें क्रियाकाण्ड आदिका बढना बतलाया है वह जैन शास्त्रके वर्णनके बहुत कुछ अनुकूल है। इस अवस्थामे जैन शास्त्रोका यह कथन भी विश्वसनीय सिद्ध होता है कि जैनधर्म भी एक प्राचीन कालसे

१-ए हिस्ट्री ऑफ प्री-बुद्धि, इन्ड० फिला० पृष्ठ ३९। २-उत्तरपुराण पृष्ठ १००। ३-पूर्व पृष्ठ ३५१-३६०।

स्वयं ब्राह्मणोकी उत्पत्तिके पहलेसे बराबर चला आ रहा था। यह व्याख्या अन्यथा भी प्रमाणित है, यह पुनः बतलाना वृथा है।

इस कालका प्रारंभ महीदास ऐतरेयसे किया गया है जो स्पष्टत ऐतरेय दर्शनके मूल संस्थापक कहे जा सक्ते है। छान्दोग्य उपनिषद्मे इनकी उमर ११६ वर्षकी बतलाई गई है। और यह ब्राह्मण ही थे। इनकी माका नाम इतरा था। इसी कारण इनका दर्शन ऐतरेय कहलाया था। इनके सैद्धान्तिक विवेचनके स्पष्ट दर्शन प्राय कहीं नहीं होते है। तो भी इनने लोकमें पांच द्रव्य—जल, पृथ्वी, अग्नि, वायु और आकाश—माने थे, इन्हीसे व्यक्तिका अस्तित्व माना गया है। सृष्टिके कार्य आदिका मूल कारण इनने परमात्माको ही माना था। (ऐतरेय आरण्यक १।३।४।९) आत्माका संबंध परमात्मासे ही बतलाया था। एक स्थानपर वह उसे शरीरसे अलग नहीं बतलाते है परन्तु अन्यत्र प्राणोकी स्वाधीनता स्वीकार करते है। (ऐतरेय आरण्यक, २।३।१।१ और २। १।८।१२–१३) इन्होंने मनुष्यके शारीरिक अवयवोका वर्णन खासी रीतिसे किया था और असली जीवनके लिए विवाह और संतानका होना जरूरी समझा था। (ऐत० आर० १।३।४। १२–१३) पुत्रहीन पुरुषका जीवन ही, उनकी नजरोंमें कुछ नहीं था। (नापुत्रस्य लोको स्तिति) इस प्रकार महीदास ऐतरेयका मत था।[1]

इनके बाद मुख्य ब्राह्मण ऋषि गार्गायण माने गये है। इन्होंने कहा था कि 'जो ब्राह्मण है वही मै हूं।' (कौषीतकि

१–ए हिस्ट्री ऑफ प्री–बुद्ध० इन्ड० फिला० पृष्ठ ५१–९६।

उपनिषद १।६) और ब्राह्मण इनके निकट 'सत् था।' इनके उपरान्त प्रतरदनकी गणना की गई है। यह काशीके राजा दिवोदासके पुत्र थे। इन्होंने संयमी जीवन बितानेके लिए आंतरिक अग्निहोत्र (आन्तरम् अग्निहोत्रम्) का विधान किया था। यह वैदिक यज्ञवादका एक तरहसे सुधार ही था। प्रज्ञात्मा (Cognitive Soul) के मूल प्राणको इन्होंने ससारका पोषक, सबोंका स्वामी, शरीररहित और अमर बतलाया था: इसलिए वह सांसारिक पुण्य-पापसे रहित था। (कौपीतकि उप० ३।९)। किसी भी व्यक्तिके किसी कार्यसे 'उसके जीवनको हानि नहीं पहुंचती है, माता, पिताके मार डालनेसे भी कुछ नहीं बिगड़ता है; न कुछ हानि चोरीसे या एक ब्राह्मणके मारनेसे होती है। यदि वह कोई पाप करता है तौभी चेहरेसे प्रकाश नहीं जाता है।' (कौ० ३०३।९) इस तरह उनकी शिक्षामें जाहिरा पुण्य-पापका लोप ही था। इनके इस सिद्धांतका विशेष आन्दोलन नचिकेत, पूरणकस्सप, पकुढकात्यायन और भगवद्गीताके रचयिता द्वारा हुआ था।[१]

प्रतरदनके पश्चात् उद्दालक आरुणीके हाथोंसे ब्राह्मण मतमें एक उलटफेर ला उपस्थित की गई थी। उद्दालक अरुण ब्राह्मणका पुत्र और श्वेतकेतुका पिता था। इनका मत 'मन्थ' नामसे ज्ञात था, जिसमें विवाहका करना मुख्य था। जैन राजवार्तिकमे मान्थनिकोंकी गणना क्रियावादियोंमें की गई है। श्वेतांबरियोंके सूत्रकृताङ्गमें भी (१।१।१।७-९) इनके मतका उल्लेख है। इनको ज्ञानकी पिपासा उत्कट थी। इनका सैद्धान्तिक विवेचन प्रायः महीदास जैसा ही था। इन्होंने

१- पूर्व पृष्ठ १११-१२३।

पुद्गलका उल्लेख ' देवता ' के रूपमें किया था तथापि पुद्गलाणु-ओंका मिलना और विघटना भी स्वीकार किया था।[1]

उपरान्त वरुण द्वारा तैतरीय मतका प्रारंभ हुआ था। उद्दालकने अग्नि, जल और पृथ्वी तीन ही द्रव्य माने थे, परन्तु वरुणके निकट वह आकाश, वायु, अग्नि, जल और पृथ्वी थे। ब्रह्मको ही इनने मुख्य और सर्वका प्रेरक माना था। तथापि वही उनके निकट अन्तिम ध्येय भी था जिसमें स्थाई आनन्दका उपभोग था। आत्माकी क्रियाशीलताके विषयमें इनकी सादृश्यता महीदाससे थी। मनुष्यके प्रत्येक कार्यमे आनन्दको ही इनने मुख्य माना था। मानुषिक आनन्दका प्रारंभ रमना इन्द्रियसे करके वह उसका अन्त ध्यानावस्थामे करते है। इसमे स्त्री, पुत्र, धन, सम्पत्ति आदिको भी गिन लेते है। यह भी उनके निकट आनन्दके कारण है।[2]

वरुणके उपरान्त बालाकि और अजातशत्रु उल्लेखनीय है। बालाकि एक ब्राह्मण और याज्ञवल्क्यका समकालीन था। अजातशत्रु राजपुत्र थे और विदेहके राजा जनकके समयमे हुए थे। राजा जनक फिलासफरोंके प्रेमी व संरक्षक थे और राजा अजातशत्रु स्वयं फिलासफर थे। बालाकि और अजातशत्रुमें शास्त्रार्थ हुआ था। मुख्य विषय आत्माका स्वरूप और जगत् एवं मनुष्यमें उसका स्थान निर्णय करना था। बालाकि सूर्यमे आत्माका ध्यान करना उचित समझता था, पर अजातशत्रु उसे प्रकृति (Nature) का एक अंग ही मानता था।[3]

१–ए हिस्ट्री ऑफ प्री–बुद्ध० इन्डि० फिला० पृष्ठ १२४–१०२।
२–पूर्व प्रमाण पृ० १०२–१५०। ३–पूर्व० पृ० १५१–१५२।

इनके साथ ही याज्ञवल्क्यकी प्रधानता रही थी। कहा जाता है कि यह बौद्धकालसे बहुत ज्यादा पहले नहीं हुये थे। इनका 'नेति नेति' धर्म विख्यात् है। इन्हीके कारण राजा जनकका नाम चिरस्थाई होगया है। याज्ञवल्क्यके निकट आत्म काम (Self-love) ही मुख्य था। इसहीको उनने शेष कामो (Love) का उद्गमस्थान माना था। इसका प्रारंभ अपने आत्म-रक्षाके भावसे होकर परमात्माके प्रेममें अंतको पहुंचता है। दाम्पत्य प्रेम, सतानप्रेम, धन, पशु, जाति, देवता, धर्म आदि प्रेम सब ही विविध अंशोमें आत्म-काम (Self-love) ही हैं। इनका संबंध भी परमात्मासे है क्योंकि जब हम अपने व्यक्तित्वसे प्रेम करेंगे तो परमात्मासे भी करेंगे, यह उनका कहना था। इसी लिए उन्होने इच्छा (Desiring) को बुरा न माना था-फिर चाहे पुत्रो-सम्पति या ब्राह्मणकी ही वाञ्छा क्यों न की जाय! इसतरह इनने भी प्राचीन वैदिक मार्गका एक तरहसे समर्थन करना ही ठीक माना था। त्याग अवस्थामें भी स्त्री, पुत्र, धन, सम्पत्ति आदि उपभोगकी वस्तुओको बुरा नहीं बतलाया था।[1] सचमुच उपरान्तके इन ऋषियोंद्वारा यद्यपि वेदोंके विरुद्ध भी आवाज उठाई गई थी, परन्तु वे उसके मूलभावके खिलाफ नहीं गए थे। आत्म-ज्ञानको विविध रीतियोंसे प्राप्त करनेका प्रयत्न इनमें जारी होगया था। परिणाम इसका यह हुआ कि अन्ततः वेद और वैदिक क्रियाकाण्डको लोग बिल्कुल ही हेय दृष्टिसे देखने लगे। उनको अविद्या और नीचे दर्जेका ज्ञान समझने लगे।[2] पर यह सब हुआ तब ही जब जैन तीर्थंकरो-श्रमण

१-पूर्व० पृ० १५३-१८०। २-पूर्व० पृ० १९२।

धर्मके प्रणेता[1] साक्षात् जीवित परमात्माओंने इन वैदिक ऋषियोंके सिद्धान्तोंके विरुद्ध समय समयपर नितान्त वस्तुस्वभावमय धर्मका निरूपण किया था। अवश्य ही आधुनिक विद्वान् इस व्याख्यासे सहसा सहमत नहीं होते है, पर यह हम देख ही चुके है कि स्वय वेदोमें ही वेदविरोधियोका अस्तित्व बतलाया गया है। ये वेदविरोधी अवश्य ही जैन श्रमण थे।

याज्ञवल्क्यके सिद्धातोने वैदिक धर्ममें उपरात ईश्वरवादको उत्तेजना दी। इसमे ब्राह्मणोंका पुराना ही श्रद्धान था, परन्तु याज्ञ-वल्क्यके सिद्धांतोंने इसके लिये नया क्षेत्र ही सिरज दिया। बृहद् आरण्यक उपनिषदके प्रथम अध्यायमें इस मतका निरूपण किया हुआ मिलता है। 'पुरुष-विधि-ब्राह्मण' के कर्त्ता आसुरी अनुमान किए गए हैं। आसुरी ही इस जागृतिमें मुख्य व्यक्ति थे। बौद्ध शास्त्रोंमे आसुरीका उल्लेख मिलता है। वहा इनके बारेमे कहा गया है कि सूर्यको ही इन्होने प्रथमजन्मा माना था और वही इनके निकट 'ब्रह्मा, महाब्रह्मा, अभिभू, सर्वशक्तिमान्, सर्वज्ञ, शासक, ईश्वर, कर्ता, निर्माता, श्रेष्ठ, संजिता, वर्तमान और भविष्यत्का पिता था।' उसके मनमे इच्छा होते ही मनशक्तिसे (मनोपनिधि) उसने सृष्टि रच दी थी। यही भाव 'पुरुष–विध–ब्राह्मण' मे दिया हुआ है।[2] यही आसुरी संभवत निरीश्वर सांख्यमतके उपदेशक हैं। श्वेताम्बर जैनग्रन्थके अनुसार वह भगवान ऋषभदेवके समयके मरीचि नामक भ्रष्ट जैनमुनि और—साख्यमतके प्रणेताके शिष्य

१–ऋषभमत्र पृ० ८३। २–ए हिस्ट्री ऑफ प्री-बुद्ध० इन्ट० फिला० पृ० २१३–२१४।

कपिलके अनुयायी थे। कपिलको आसुरी अपना गुरु मानते थे और उनसे ही 'षष्टि-तंत्र' नामक मान्य सांख्य ग्रन्थ रचा था। (देखो आवश्यक वृ० निर्युक्ति गा० ३५०-४३९) किंतु 'आदिपुराणजी'में कपिलको मारीचिका शिष्य नहीं लिखा है। वहा 'त्रिदंडी मार्ग' निकालनेका उल्लेख है (पृ० ५३७)। जो हो, इससे यह प्रकट है कि आसुरीका सम्बन्ध अवश्य ही सांख्यदर्शनसे था किन्तु हमारा अभिप्राय यहापर इन वैदिक ऋषियोंके सिद्धातोपर विवेचना करनेका नहीं है और न हमारे पास इतना स्थान ही है कि हम उनकी विवेचना यहा कर सकें। यहां मात्र वैदिक-धर्मके विकाश क्रमपर प्रकाश डालना इष्ट है, जिससे भगवान पार्श्वनाथके समयके धार्मिक वातावरणका स्पष्ट रङ्ग-ढग मालूम हो सके। वैसे जैन-शास्त्रोंमें इन वैदिक मान्यताओंकी स्पष्ट आलोचना मौजूद ही है। अस्तु! हमें अपने उद्देश्यानुसार केवल इन वैदिक ऋषियोके सैद्धांतिक इतिहास क्रमपर एक सामान्य दृष्टि डाल लेना ही उचित है।

आसुरीका अस्तित्व संभवतः भगवान नेमिनाथके तीर्थमें रहा होगा और इन्हीके धर्मोपदेशसे यह प्रभावित हुआ होगा, यही कारण है कि वह हमारे लिये आत्मा या परमात्माको प्राप्त करना अन्य कार्योंसे सुगम समझता है (God or soul is nearer to us than anything else: dearer than a son, dearer than wealth, dearer than all the rest) और पुत्र, सम्पत्ति एव अन्य सब वस्तुओंसे प्रिय बतलाता है। जहां पहले पुत्रकी प्रधानता रही थी, वहां वह अब आत्माको ला उपस्थित करता है। पर साथ ही वह अन्य कर्तव्योंको पालन करना भी जरूरी खयाल

करता है जो उसके निकट सिर्फ तीन ये हैं; (१) ब्राह्मण, (२) यज्ञ, (३) और ससार। अपने पुरखाओंके सामाजिक, नैतिक और आत्मीक कार्योंको करना भी वह उचित वतलाता है। इन कर्तव्योंकी पूर्ति करनेको वह तीन लोक-देव, पितृ और नृलोक निर्दिष्ट करता है। नृलोककी प्राप्ति केवल पुत्र द्वारा ही उसने मानी है। इस तरह वह भी प्राचीन मान्यता स्त्री और पुत्रकी प्रधानताको छोड नहीं सका है। देव और पितृलोकका लाभ क्रमशः ज्ञान और यज्ञ द्वारा उसने वतलाया है। सामाजिक जीवनके सम्वन्धमें वह कहता है कि मूलमें मनुष्योंमे कोई जातीय भेद विद्यमान नहीं थे परंतु उपरान्त सामाजिक वढ़वारी और भलाईके लिहाजसे जातीय भेद स्थापित किये गये थे। जैनदृष्टि भी कुछ२ इसी तरहकी है। भोगभूमिके जमानेमें वह भी मनुष्योंमें कोई भेदभाव नहीं वतलाते हैं परन्तु कर्तव्य युगके आनेपर आदि ब्रह्मा भगवान ऋषभदेवने चार वर्ण या जातियां स्थापित की थीं, यह कहते हैकिन्तु जैनधर्ममे जातियोंकी उच्चता आदिपर उतना अभिमान नहीं माना गया है. जितना कि हिंदू ऋषियोंके निकट रहा है। जैनदृष्टिसे जातिमद एक दूषण है पर आसुरी इन जातीय भेदोंको आवश्यक मानता था। भविष्य जन्मके श्रद्धानको भी वह मुख्यता देता था।[1]

इस प्रकार वैदिक धर्ममें प्रारम्भसे ही गृहस्थकी तरह साधुको भी नियमित रीतिसे सांसारिक भोगोपभोगका आस्वाद लेना वुरा नहीं माना गया था। स्वयं वेदोंमें ही संतानको मनुष्यका मुक्तिदाता वतलाया गया था। (प्रजाति अमृतम्) उनके निकट अमरपनेको प्राप्त करना केवल

१-पूर्व पृ० २१८-२२५।

विवाह द्वारा संभव था। विवाह विना वे मनुष्यका 'मिट्टीमें मिलना और गारत होना' मानते थे।[1] ऐतरीय और तैतरीय कालमें भी इस मान्यताकी प्रधानता रही थी। सब ही वेदानुयायियोके निकट, (१) वैदिक साहित्यका अध्ययन करना, (२) वैदिक रीतिरिवाजोंका पूर्ण पालन करना, (३) पारम्परीण धर्ममें किंचित् उन्नति करना, (४) देवताओं और पित्रोंकी पूजा करना एवं (५) विवाह करना मुख्य कार्य रहे हैं।[2] यज्ञ करने, पंचाग्नि तपने और विवाह करनेपर वे भगवान् पार्श्वनाथके समय तक जोर देते रहे थे। यद्यपि आसुरीने भगवान् नेमिनाथके उपदेशके प्रभावानुसार इस श्रद्धानमें किंचित् फेरफार भी किया था, परन्तु वह भी मूलभावसे विचलित नहीं हुआ था। सारांश यह कि वेदानुयायी ऋषियोंने गृहस्थ जीवनका नियमित उपभोग करना बुरा नहीं माना था और हठयोगको भी वेढब बढ़ाया था। ब्रह्मचर्यसे तो वह बुरी तरह भयभीत थे। ब्राह्मण ऋषि बौद्धायन और वशिष्ठने स्पष्ट कहा था कि पुत्र द्वारा मनुष्य संसारपर विजय पाता है; पौत्रसे अमरत्व लाभ करता है और प्रपौत्रको पाकर परमोच्च स्वर्गको प्राप्त करता है।[3] इसी लिए एक ब्राह्मणका जन्म तीन प्रकारके ऋणोसे लदा हुआ होता बतलाया गया है। अर्थात् छात्रावस्थाका ऋण तो उसे ऋषियोंको देना होता है: यज्ञोंको करके देवताओंके ऋणसे वह उऋण होता है और एक पुत्र द्वारा वह सत्पुति (Manes) को संतोषित करता है।[4]

जैनोके 'उत्तरपुराण'मे भी वैदिक ऋषियोंके इस धर्म विकाश

१-पूर्व० पृ० २४९। २-पूर्व० पृ० २४६। ३-ए हिस्ट्रीऑफ प्री-बुद्ध० इन्ड फिला० पृ० २४७। ४-बौद्धायन २।९।१६।६, वशिष्ठ १७।५.

सम्बन्धी कनके किञ्चित् दर्शन हमें मिलते हैं, यह हम ऊपर कह चुके हैं। सचमुच वहां पहले यही कहा गया है कि यद्यपि स्वयं भगवान ऋषभदेवके समयमें ही मरीचि द्वारा पाखंड मतकी उत्पत्ति होगई थी परन्तु धर्मकी विच्छित्ति भगवान शीतलनाथ तक प्राय नहीं हुई थी। हां, इन शीतलनाथ तीर्थंकरके अंतिम समयमें आकर अवश्य ही जैनधर्मका नाश होगया था और भूतिशर्मा ब्राह्मणके पुत्र मुडशालयनने मिथ्याशास्त्रोंकी रचनाकर पृथ्वी, सुवर्णका दान देना सर्व साधारणके लिए आवश्यक बतलाया था।[१] उपरान्त श्रेयांसनाथ भगवान द्वारा जैनधर्मका उद्योत पुन होगया था परन्तु भगवान मुनिसुव्रतनाथके तीर्थकालमें जाकर अहिंसा धर्मके विरुद्ध पुनः ऊधम मचा था। राजा वसुके राजत्वकालमें पर्वत आदिने हिंसाजनक यज्ञोंकी आविष्कृति की थी। 'अज' शब्दके अर्थ 'शालि धान्य' के स्थानपर इनने 'बकरा' मानकर पशुओंका होमना वेदोक्त बतलाया था और फिर नरमेधतक रच दिया था।[२] परन्तु इसके पहले अरनाथ तीर्थंकरके समयमें ब्राह्मण साधु स्त्री सहित रहने लगे थे, यह भी बतलाया गया है। अयोध्याके राजा सहस्त्रबाहुके काका शतुबिदकी स्त्री श्रीमतीसे उत्पन्न जमदग्नि द्वारा इस प्रथाका जन्म हुआ था। यहांपर इस वेदवाक्यका उल्लेख जैनशास्त्रमें किया गया है कि पुत्र बिना मनुष्यकी गति नहीं होती है। (अपुत्रस्यगतिर्नास्तीत्यार्ष किं न त्वया श्रुत) जमदग्निने अपने मामा पारत देशके राजाकी छोटी पुत्रीसे विवाह किया था, जिससे इनके दो पुत्र इन्द्रराम और श्वेतराम हुये थे। सहस्त्रबाहुने

१–उत्तरपुराण पृष्ठ १०० । २–पूर्व० पृष्ठ ३३९–३५१ ।

जब इनकी कामधेनु गाय जमदग्निको मारकर छीन ली थी तब इन्होंने क्षत्री वंशको नष्ट करनेका प्रयत्न किया था। शांडिल्य ऋषिने सहस्रबाहुकी एक रानी चित्रमतीको सुबन्धु नामक निर्ग्रन्थ मुनिके पास रख दिया था, जिसके गर्भसे सुभौम चक्रवर्तीका जन्म हुआ था। इन्हीं सुभौमने अपने वंशके वैरी परशुराम—जमदग्निके दोनों पुत्रोको नष्ट किया था।[1] भगवान मुनिसुव्रतनाथके तीर्थमें ही रामचन्द्र आदि हुये थे और फिलासफरोके आश्रयदाता जनक भी इस कालमे मौजूद थे। जनकने पशु यज्ञका विचार किया था, परन्तु वह विद्याधरो, जिनमे रावण मुख्य था, से भयभीत थे जो पशु यज्ञके खिलाफ और सम्यग्दृष्टी थे। जनकके मत्री अतिशय-मतिने इसका विरोध भी किया था।[2] अन्तत: राम—लक्ष्मणकी मदद राजा जनकने ली थी। उपरान्त गौतम, जठरकौशिक, पिप्प-लाद आदिका भी उल्लेख इस पुराणमें है। इस तरह जैन शास्त्रोसे भी वैदिक धर्मके विकाशक्रमका पता चल जाता है।

अतएव यहांतकके इस सब वर्णनसे हम भगवान पार्श्वनाथ-जीके जन्मकालके समय जो धार्मिक वातावरण इस भारतवर्षमें हो रहा था उसके खासे दर्शन पा लेते है। देख लेते है कि ब्राह्मण ऋषियोकी प्रधानतासे पशुयज्ञ, हठयोग और गृहस्थ दशामय साधु जीवन बहु प्रचलित थे। ब्रह्मचर्यका प्राय: अभाव था। तथापि देवताओकी पूजा और पुरखाओकी रीतियोंके पालन करनेके भावसे देवमूढ़ता और तीर्थ मूढ़ता आदि भी फैल रहे थे। वातावरण ऐसा दूषित होगया था कि प्राकृत उसको सुधारनेकी आवश्यक्ता

१—पूर्व० पृ० २९२—३००। २—पूर्व०१ १०—३४०—३६४।

थी । अवश्य ही इस समय भगवान नेमनाथजीके तीर्थके जैन मुनि भी यद्यपि जैनधर्मका प्रचार कर रहे थे और जैनी भी मौजूद थे; परन्तु वैदिक मतके सामने उनका महत्व बहुत कम था । अस्तुः अब आइये पाठकगण काशी और उसके राजाका परिचय प्राप्त कर लें जहां भगवान पार्श्वनाथका जन्म हुआ था ।

---

(८)

बनारस और राजा विश्वसेन ।

"भरतखंड छहखंड समेत, धनुषाकार विराजत खेत ।
तामें सब सुख धर्म निवास, कासी देश कुशल जनवास ॥२२॥
गांव खेट पुर पट्टन जहां, धन-कन भरे बसै बहु तहां ।
निवसें नागर जैनी लोय, दया धर्म पालै सब कोय ॥२३॥

—पार्श्वपुराण ।

महा रमणीक देश था । ऊंचे पर्वत, सलिल सरितायें और कलकल निनादपूर्ण झरने वहांके दृश्यको बड़ा ही मनमोहक बना रहे थे । उसके मध्यके बड़े२ गहन वन पथिकजनोंको भयभीत करनेवाले थे· परन्तु वही मुनिजनोंके लिये ध्यानके अपूर्व स्थान थे । वहांकी गिरिकन्दरायें और नदीतट मुनिजनोंके निवाससे पवित्र बन चुके थे । साथ ही थोड़ी २ दूरके फासलेपर स्थित ग्राम और नगर वैसे ही वहां शोभ रहे थे जैसे आकाशमे तारागण चमकते नजर आते हैं । उन नगरों और ग्रामोंके बीचमें जैन-मंदिरोंकी उन्नत शिखरें ध्वजादि सहित दूरसे ही दिखतीं ऐसी माल्म पड़ती थीं मानों वे भव्यजनोंको त्रिलोकवन्दनीय वीतराग

भगवानके पूजन-भजन करनेके लिये आह्वानकर्ता ही हों। प्रजाजन भी वहांके बड़े ही दयालु, सद्धर्मरत और व्यसनोंसे विरक्त थे। वह नियमित रीतिसे अपने धर्मका पालन करते थे और सुमतिसे रहते थे। इसी कारण उनमें धन-सम्पत्तिकी प्रचुरता थी। उनका गोधन अपूर्व था। श्रावकजन सबही प्रकार अपने धर्मकार्योंमें व्यस्त थे। उनकी भव्यता ऐसी थी कि अमरेश भी वहां जन्म लेनेको तृष्णाभरे नेत्रोंसे विकल होते थे।[1]

वस्तुत यह देश इस भारतवर्षमें ही था और यह आजसे करीब पौनेतीनहजार वर्ष पहले 'काशीदेश' के नामसे विख्यात था। इसकी राजधानी वाराणसी नगरी थी; जो बहुत ही प्राचीन कालसे भारतीय इतिहासमें प्रख्यात् रही है। जैनशास्त्रोंमे उस

१-'पार्श्वपुराण' में यही कहा गया है, यथा.-'अपुनीत सब ही विध देस। जहा जनम चाहें अमरेश' इसके अतिरिक्त सकलकीर्ति आचार्यके 'पार्श्वचरित' में भी इसका विशद विवरण मिलता है। श्री चन्द्रकीर्त्याचार्य प्रणीत 'पार्श्वचरितमें इसका उल्लेख इन शब्दोंमें किया गया है:-

' अथास्ति भारत क्षेत्र द्वीपे जम्बुद्रुमाकिते। गगासिन्धुसुवैद्य तो पटषक्षीजत भूतले ॥ २ ॥ तन्मध्ये विषयो वर्यः काशाख्यो विषयार्पकः। जनाना च चकास्तिस्म विडवितसुरालय' ॥ ३ ॥ यत्राजस्त्र प्रमोदिन्यो निरीत्यवग्रहे वसत्। अज्ञपचसद्वान्ये प्रजा स्वर्गता इव ॥४॥ कुर्कुये त्यात मद्भ्रामैः कासारैर्विक चौप्तलै गस्यदै सीमभिर्नित्य यश्च कास्ति समततः ॥५॥ प्रत्यग्र कुसुमैर्मौदैर्यैः सदामोदयत्यल, दिश. समतत कर्तुस्वभृव सार्थकामिव ॥६॥ विभ्राणे र्नर्हदुदडापि छत्र विसदा। यत्प्रदेशावभु पृगद्रुमैर्भृपाइवोन्नतै ॥७॥ सधर्माक्ष वरत्यर्थ सततै कामसेवन। परलोका क्रियासक्ता-यत्र निर्व्यसना जनाः ॥८॥ सदागमेषु विश्रामै. पथिका स्फोटयितश्रमा। यत्राह्वानं प्रभन्यते गृहागजिर विभैर्मदा ॥ ९ ॥ इत्यादि

समय इसे बड़ा ही भव्य नगर बतलाया गया है। उसकी समानताका और कोई नगर उस समय धरातलपर नहीं था। वह तीर्थकर भगवानका जन्मस्थान था और अपूर्व था। उसके देखते साथ ही मनुष्योंकी तो बात क्या स्वर्गलोकके देवोंके मन भी मोहित होजाते थे। वह प्राचीनकालसे ही तीर्थराजके रूपमें तब भी प्रसिद्धि पा चुका था।[1] श्री पार्श्वनाथजीके बहुत पहले हुये तीर्थंकर श्री सुपार्श्वनाथजी इस नगरीको पहले ही अपने जन्मसे पवित्र कर चुके थे।[2] इनसे भी पहले यहां जैनधर्मका शांतिदायक प्रकाश फैल चुका था! यही नहीं इस नगरका जन्म ही स्वयं जैनियोंके प्रथम तीर्थंकर भगवान ऋषभदेवकी आज्ञासे हुआ था और यहांके सर्व प्रथम राजा अकंपन नामक इक्ष्वाकुवंशीय महान क्षत्री थे,[3] यह जैनियोंकी मान्यता है, और इस पवित्र तीर्थराजका विशद वर्णन जैन शास्त्रोंमें खूब ही मिलता है। भगवान पार्श्वनाथके समय इसकी विशालता प्रकट करनेको जैन कवियोंके पास पर्याप्त शब्द ही नहीं थे। उनको यही कहना पड़ा था कि—

"शोभा जाकी कही न जाय, नाम लेत रसना शुचि थाय।"

आजका बनारस ही यह पवित्र धाम है। आज भी उसकी जो प्रख्याति है वह उसके पूर्व गौरवकी प्रत्यक्ष साक्षी है। जैनशास्त्रोंमें कहा गया है कि इस अवसर्पिणी कालके तीन काल जब गुजर चुके थे और चौथा प्रारम्भ हुआ ही था तब वहांपर सभ्यताकी सृष्टि भगवान ऋषभदेव द्वारा हुई थी। ऋषभदेवके पहले

१—बौद्धोंने भी बनारसको प्राचीनकालसे ऋषियोंका स्थान बतलाया था।
२—उत्तरपुराण पृष्ठ ५१। ३—आदिपुराण पर्व १३।१२८—१६०. व २४१—२७५।

तीन कालोमें यहा भोगभूमिकी प्रवृत्ति थी, जिसमें युगल दम्पतिके उत्पन्न होने ही उनके माता-पिता देहावसान कर जाते थे और वे दम्पति युवावस्थाको प्राप्त होकर उस समयके अलौकिक कल्पवृक्षोसे भोगोपभोगकी मनमानी सामग्री प्राप्त करके सांसारिक आनन्दमें मग्न रहते थे। उनको आजीविका आदिकी कुछ भी फिकर नही थी, परन्तु ज्यो२ समय वीतता गया त्यों२ उन कल्पवृक्षोका ह्रास होता गया और अन्तत ऋषभदेवके समयमे ऐसा अवसर आ गया कि लोगोको परिश्रम करके अपने पुरुषार्थके बल जीवन यापन करनेके लिये मजबूर होना पडा। इसी समय ऋषभदेवने सब प्रकारके असि, मसि, कृषि आदि कर्म जनताको सिखाये थे और उनके वर्णादि स्थापित करके दैनिक जीवन शातिमय व्यतीत करनेके उपाय बतलाये थे और इसी समय इन्ही विधाता ऋषभदेवकी आज्ञासे इद्रने विविध देशो एव नगरोकी रचना की थी।

जैनधर्ममें कालके उत्सर्प्पिणी और अवसर्प्पिणी दो भेद करके इनमे प्रत्येकको छह कालोमे विभक्त किया है। उत्सर्पिणी कालमें प्रत्येक वस्तुकी क्रमशः उन्नति होती जाती है और अवसर्पिणीमें ह्रास होते२ एकदम सबकी हानि होजाती है। अवसर्पिणीके छट्ठे कालके अन्तमे एक प्रलयसी उपस्थित होती है, जिसमे कतिपय बड़े भाग्यवान जीव ही गिरि कंदराओंमें छिपकर अपने प्राण बचा लेते है। यही लोग उत्सर्पिणीके छट्ठे कालके प्रारम्भ होनेपर गुप्तस्थानोसे निकल कर ससार क्रम प्रारम्भ करते हैं। उत्सर्पिणीके कालोकी गिनती अवसर्पिणीसे बरअक्स छट्ठे कालसे प्रारम्भ होती है। इस प्रकारके क्रमसे इस ससारका अनादि निधनपना जैनशास्त्रोंमे निर्दिष्ट

किया गया है।[१] भगवान पार्श्वनाथ इस अवसर्पिणीके चौथे कालके अंतिम समयमें हुये थे। आजकल इसीका पंचमकाल जो दुःखकर पूर्ण है व्यतीत हो रहा है। इसी अवसर्पिणीके अथवा कर्मयुगके प्रारंभिक दिनोंमें काशी और वाराणसीकी सृष्टि हुई थी। आज वाराणसी और काशी केवल बनारस नगरके ही नाम हैं, परन्तु प्राचीन कालमें काशी एक प्रख्यात् जनपद था और वाराणसी उसकी राजधानी थी।

पाणिनिके व्याकरणके अनुसार 'वर' और 'अनस' शब्दसे वाराणसीकी उत्पत्ति हुई बतलाई जाती है। अर्थात् वर माने सर्वोत्तम और अनस माने पानी· जिसका सम्बंध बनारसका गंगातटपर अवस्थित होना है। ब्राह्मण लोग इस नामको 'वरुण' और 'असि' नामक झरनाओंकी अपेक्षा निर्णीत करते हैं। ग्रीक (यूनानी) लोगोंको भी बनारसका किञ्चित् परिचय था।[२] उनका प्रसिद्ध भूगोल-वेत्ता टोलमी (Ptolemy) काशीको 'कस्सिडिया' (Cassidia) नामसे उल्लेख करता है। उनके अनुसार पहले काशीकी राजधानी भी इसी नामकी थी। उपरान्त प्राचीन काशी नगरका विध्वंश जब बच्छू लोगों (Bacchus) द्वारा होगया था, जैसे कि डयोनिसियस पेरीगेटस (Dionysius Periegetes) बतलाता है, तब प्राचीन नगरके ध्वंशावशेषोंसे किंचित् हटकर वाराणसी बसाई गई थी। ग्रीक लोग वाराणसीको 'ओरनिस' (Aornis) अथवा 'अवरनस' (Avernus) नामसे परिचित करते हैं। मुगल लोगोंने इसीका नाम बनारस रक्खा था।[३]

---

१. आदिपुराण पर्व ३ श्लो० १४–२३९; पर्व ९।३४–८८।
२ बुद्धिस्ट इन्डिया पृष्ठ २३। ३ एशियाटिक रिसर्चेज भाग ३ पृष्ठ २८२।

ब्राह्मणोंके 'शङ्करमार्दुभाव' में वाराणसीके राजा दिवोदासका उल्लेख है। उसमें कहा गया है कि 'पद्मकल्प' नामक कालके मध्य समयमें ऐसा अकाल पड़ा कि संसारके अधिकांश मनुष्य अपने प्राणोंसे हाथ धो बैठे। यहांतक कि स्वयं ब्रह्माको इस तबाई पर बडा दुःख हुआ। उस समय रिपुञ्जय नामक राजा कुश द्वीपके पश्चिम भागमें राज्य करता था। उससे भी अपनी प्रजाकी दुर्दशा देखी न गई और वह अपने शेष दिन व्यतीत करनेके लिये काशीमें आगया। ब्रह्माने रिपुञ्जयको सारे संसारका राज्य देदिया और काशी उसकी राजधानी बनादी तथापि उसे इधर उधर भटकती फिरती त्रसित मनुष्यजातिको एकत्रित करने और उसको उचित स्थानोंपर बसानेकी आज्ञा दी। साथ ही उसका नाम दिवोदास रख दिया। राजा इस उत्तरदायित्वको स्वीकार करनेमें पहले तो आनाकानी करने लगा, पर इन शर्तोंपर उसने यह भार ग्रहण कर लिया कि जो भी प्रसिद्धि उसे प्राप्त हो वह ठेठ उसीकी हो और कोई भी देवता उसकी राजधानीमें न रहने पावे। हठात् ब्रह्माने यह शर्तें मंजूर कर ली; और स्वयं महादेव अपने प्रियस्थान काशीको छोडकर गगाके मुहानेपर मंदराचलके ऊपर जा विराजे। दिवोदासका राज्य विशेष बलपूर्वक प्रारम्भ हुआ, जिससे देवताओके भी कान खड़े होगए। इसने सूर्य औ चन्द्रको सिहासन च्युतकर दिया और अन्योको उनके स्थानपर नियत किया। साथ ही एक अग्निका किला भी बनाया परन्तु काशीकी प्रजा उसके पुण्यमई राज्यमें बड़ी सुखी थी। देवत ही उसके ईर्षालु थे और महादेव अपने प्रिय स्थानको लौटनेके लिए छटपटा रहे थे। उन्होने देवताओको राजा

देवोदासको डिगानेके लिए उकसाया। चौसठ योगिनी और बारह आदित्य इस प्रयासमें असफल हुये। आखिर महादेवके भेजे गनेशजी एक ज्योतिषिके स्वरूपमें आए। वेनाचिक्रियोंकी सहायतासे उन्होंने काशीकी प्रजाकी रुचि बदलना प्रारम्भ की और उनको होनेवाले तीन अवतारोंके लिए तैयार किया।

पहले ही विष्णु 'जिन' के स्वरूपमे आये, जिन्होने वेदोंमें बताए हुए यज्ञो, प्रार्थनाओं, तीर्थयात्राओ और क्रियाकांडोंका विरोध किया और बतलाया कि सत्य धर्म किसी जीवित प्राणीको न मारनेमें ही है। इनकी सहगामिनी (consort) जयादेवीने इस नये धर्मका प्रचार अपनी जातिमें किया। काशीके निवासी संशयमें पड़ गये। इनके बाद महादेव अर्हन् या महिमनके रूपमें अपनी पत्नी महामान्यके साथ आए। महामान्यके अनेको पुरुष स्त्री सेवक थे। इन्होने 'जिन' प्रणीत सिद्धातोका समर्थन किया और अपनेको ब्रह्मा और विष्णुसे बढ़ चढ़कर बतलाया। स्वयं 'जिन' ने यह बात स्वीकार की। फिर दोनोंने ही मिलकर सारे ससारका भ्रमण और अपने सिद्धातोको फैलानेका उद्योग किया। आखिरको ब्रह्मासे भी न रहा गया और वह 'बुद्ध' के रूपमें आ अवतीर्ण हुए। इनकी सहगामिनी 'विज्ञ' थी। इन्होने भी अपने पूर्वके दो अवतारोके अनुसार उपदेश दिया और ब्राह्मणकी स्थितिसे राजाको वरगलाना शुरू कर दिया। दिवोदासने बडी रुचिसे इनका उपदेश सुना। परिणामत उसे अपने राज्यसे हाथ धोने पड़े। महादेव खुशी२ काशी लौट आए। दिवोदासने गोमतीके किनारे एक दूमरा नगर बसाया। महादेवजीने काशीके लोगोंको समझानेके प्रयत्न किये, परन्तु सब

वृथा ही। इसलिए उन्होंने 'शङ्कराचार्य'का रूप धारण किया और लोगोंको वेद समझाना शुरू किये। इन्होंने जैनोंके मंदिरोंका विध्वंश किया, उनके शास्त्रोंको जलाया और उन सबको तलवारके घाट उतारा जो इनके मार्गमें आड़े आए।[1]

इसतरह यह ब्राह्मणोकी गढ़ी हुई राजा दिवोदासकी कथा है। यद्यपि यह एक कथा ही है, पर इसका आधार ऐतिहासिक सत्य होना संभवित है। हमें मालूम है कि जैनियोके २३ वें तीर्थंकर भगवान पार्श्वनाथको ही आजकल बहुतसे लोग जैनधर्मका संस्थापक ख्याल करते है; परन्तु वास्तवमे जैनधर्मका अस्तित्व इनसे भी पहलेका प्रमाणित हुआ है, यह प्रकट है। उपरोक्त कथामें भी कुछ ऐसा ही प्रयत्न किया गया मालूम होता है। ब्राह्मण ग्रन्थकार भगवान पार्श्वनाथ, महावीरस्वामी और महात्मा बुद्धका वर्णन यहां एक साथ करते प्रतीत होते हैं और आपसी द्वेषके कारण जैनधर्मके प्राचीन इतिहासका उल्लेख करना भी आवश्यक नहीं समझते हैं। साथ ही वह जैनधर्म और बौद्धधर्मको एक ही बतलाते हैं। इसका कारण इन दोनोंका अहिंसामई वेदविरुद्ध उपदेश देना ही कहा जासक्ता है; यद्यपि जैनधर्म और बौद्धधर्म दोनों ही अलग २ धर्म है यह प्रकट है।[2]

ब्राह्मण कथाकारका अभिप्राय 'जिन' शब्दसे भगवान पार्श्वनाथसे ही है, *यह इसीसे प्रकट है कि वह उनके जन्मस्थान

१-एशियाटिक रिसर्चेज भाग ३ पृष्ट १९१-१९४। २-देखो हमारा 'भगवान महावीर और म० बुद्ध' नामक ग्रंथ। *'आईने अकबरी'की जैनकी वंशावलीमें हिन्दुओके अनुसार 'जिन'का काल ईसासे पूर्व ९५० लिखा

बनारसको अपनी कथाका मुख्य स्थान बतलाता है तथापि जिन और अर्हन्‌का मिलकर संसारमें उपदेश देनेका उल्लेख भी इसी भावका समर्थक है, क्योंकि भगवान पार्श्वनाथ और महावीरस्वामीका धर्म कहीं अलग २ नहीं रहा था। तिसपर कतिपय विद्वान् तो भगवान पार्श्वनाथके मुख्य शिष्योंका महावीरस्वामीके संघमें सम्मिलित होना, स्पष्ट उल्लेखोंके द्वारा बतलाते हैं।[1] वस्तुतः यह है भी ठीक, क्योंकि एक तीर्थंकरके निर्वाण उपरान्त दूसरे तीर्थंकरके उत्पन्न होने तक पहलेके तीर्थंकरका शासनकाल जैनशास्त्रोंमे बतलाया गया है। इसके उपरान्त नये तीर्थंकरका शासनकाल व्याप्त होजाता है और पूर्व तीर्थंकरके अनुयायी नये तीर्थंकरकी शरणमें स्वभावतः पहुंचते है। उदाहरण रूपमें भगवान महावीरके पहले तक भगवान पार्श्वनाथका शासन चल रहा था, परन्तु महावीरस्वामीके तीर्थंकर होनेपर उनका शासन चल निकला। तीर्थंकरोंके उपदेशमें भी कोई अन्तर प्रायः नहीं होता है। इसी कारण पूर्वगामी तीर्थंकरके अनुयायी नवीन तीर्थंकरकी शरणमें आते जरा भी नहीं झिचकते हैं प्रत्युत वह तो बडी भारी उत्सुकतासे नवीन तीर्थंकरके आगमनकी बाट जोहते हैं, क्योंकि पहलेके तीर्थंकरको दिव्यध्वनिसे वह आगामी होनेवाले तीर्थंकरका विवरण जान लेते हैं। अतएव

है और उन्हें ... या २५७ वर्ष जीवित रहा कहा है। (Asiatick Researches, Vol IX. p. 209) इनसे भी 'जिन' से भाव भगवान पार्श्वनाथजीका ही निकलता है, क्योंकि ईस्वी ९७० में उन्हींका अस्तित्व प्रमाणित है।

[1]—जैनसूत्र (S. B. E) भूमिका, चारपेन्टियरके उत्तराध्ययन सूत्रकी भूमिका।

इसी अपेक्षा ब्राह्मण कथाकार उपरोक्त उल्लेख करता है तथा कहता है कि अर्हन् ने भी वैसा ही उपदेश दिया था। भगवान महावीरका शासन उनके समयसे चला आरहा है और इनके अनुयायियोको ब्राह्मणोंने 'आर्हत्' नामसे निर्दिष्ट किया है, यह भी स्पष्ट है, इस अपेक्षा अर्हत्से अभिप्राय उक्त कथामे भगवान महावीरसे ही है। बुद्ध शब्दका व्यवहार वह म० बुद्धको लक्ष्य करके करता प्रतीत होता है, यही कारण है कि वह उनको भी जिन और अर्हन्के साथ २ संसारभरमें भ्रमण करता और उपदेश देता नहीं बतलाता है। यहां वह बिल्कुल ही ऐतिहासिक वार्ता कह रहा है, क्योंकि हमे मालूम है कि बौद्धधर्मका विकाश भारतके बाहिर सम्राट् अशोकके पहले नहीं हुआ था। 'अर्हत्' को ब्राह्मण कथाकार 'महिमन्' या 'महामान्य' नामसे उल्लिखित करता है। 'जिनसहस्रनाम' में हमें एक ऐसा ही नाम तीर्थंकर भगवानका मिल जाता है।[2] इसकारण हम इस शब्दको भी जैन तीर्थंकरके लिये व्यवहृत हुआ पाते हैं। सहगामिनी जो उक्त कथामें बतलाई गई है वह तीर्थंकरोंकी शासन देवता है; क्योकि नागोद राज्यके पटैनीदेवीके जैनमदिरमे जो जैन देवियोकी मूर्तियां और उनके नाम लिखे हैं उनमें जया और महामनुसी नामक देवियां भी हैं। (देखो मध्यभारत प्राचीन जैनस्मारक पृ० १२३)। ब्राह्मण कथाकार भी जया और महामान्यको जैन तीर्थंकरोंकी सहगामिनी बतलाता है। अस्तु; उपरान्त जो जैनधर्मका विशेष प्रकाश होनेपर उसका नाश शङ्कराचार्य द्वारा

१–ए० हिस्ट्री ऑफ प्री० इन्डि० फिला० पृष्ट ३७७। २–'महामुनिमहामौनी' इत्यादि छटा अध्याय देखिये।

होते बतलाया गया है, वह भी ऐतिहासिक सत्य है। इसतरह ब्राह्मणोंके बनारस अधिपति दिवोदासका वर्णन है, जिसका सम्बन्ध भगवान पार्श्वनाथसे प्रकट होता है। उससे भी भगवानका जन्मस्थान बनारस सिद्ध होता है और यह भी स्पष्ट होजाता है कि उस समय वह अवश्य ही संसारभरमें सर्वोत्तम नगर था कि ब्रह्माने उसे ही संसारभरके राज्यकी राजधानी नियत की, तथापि यह भी प्रकट है कि वहांसे ब्राह्मणधर्मका प्रमुत्व हट गया था और जैनधर्मकी प्रधानता थी।

सचमुच ब्राह्मण कालमें उत्तरीय भारतके कुरु, पाञ्चाल, कौशल, काशी और विदेह ही विख्यात राज्य थे। इनमेंसे कुरु और पाञ्चालोंकी तथा दूसरी ओर कौशल, काशी और विदेहोंकी आपसमें मित्रता थी। कुरु-पाञ्चालों और शेष तीनों राज्योंका पारस्परिक सम्बन्ध कटुता लिए था।[1] उपरान्त बौद्धकालमें काशी वज्जियन संघमें सम्मिलित थी, यह बात हमें 'कल्पसूत्र'के कथनसे विदित होती है। उसमें कहा गया है कि जिस रातको भगवान महावीर निर्वाण लाभ कर सिद्ध, बुद्ध मुक्त हुए उस रात्रिको काशी कौशलके अठारह संयुक्त राजा, नौ लिच्छवि, और नौ मल्लिकोंने अमावसके रोज दीपोत्सव मनाया था।[2]

बौद्धोंका सम्बन्ध भी बनारससे बहुत कुछ रहा है। उनके शास्त्रोंमें भी इसका वर्णन खूब मिलता है। स्वयं म० बुद्धने बौद्धधर्मका बीजारोपण यहींसे किया था। सम्बुद्ध होनेपर

१-पबलिक एडमिनिस्ट्रेशन इन एनशियेन्ट इन्डिया पृ० ०८-०५।
२-कल्पसूत्र (S B. E Vol XXII.) पृ० २६६।

वह सीधे यहीं आये थे और यहांपर जो उनके पहले साथी तपस्या कर रहे थे उनको अपने मतमें दीक्षित किया था।[1] यह घटना भगवान पार्श्वनाथके निर्वाण होनेके उपरांतकी है। वैसे इससे पहलेके भी उल्लेख बौद्धशास्त्रोंमें हैं; जहां वे म० बुद्धके पूर्वभवोंका जिक्र करते हुये बनारसका सम्बन्ध प्रगट करते हैं। शाक्यवंशकी उत्पत्तिमें भी काशीका सम्बन्ध उनके 'महावस्तु' नामक शास्त्रमें बतलाया गया है,[2] तथापि कोलियवंशके विषयमे भी ऐसा ही उल्लेख उनके शास्त्रोंमें है। 'सुमंगलाविलासिनी' (पृ० २६०-२६२) में लिखा हुआ है कि राजा ओक्काककी बड़ी पुत्रीको कुष्टरोग हो गया। उसके भाई इस संक्रामक रोगसे भयभीत हुये। उन्होंने अपनी बहिनको लेजाकर एक गहन वनमें कैद कर दिया। उधर बनारसके राजा रामको भी कुष्टरोग होगया। वह घरको छोड़कर उसी वनमें भटकने लगा। अकस्मात् वनवृक्षोके फल खानेसे उसका रोग नष्ट होगया। इसी बीचमें उसने ओक्काककी पुत्रीको पा लिया। उसे भी उसने उस वनवृक्षके फल खिलाकर अच्छा कर लिया और उसको अपनी पत्नी बना लिया। राजाने उसी वनमें एक कोल वृक्षको हटाकर नगर बसा लिया और उसीमे रहने लगा। अन्ततः वह नगर कोलनगर कहलाने लगा और उसकी सन्तान 'कोलिय' नामसे प्रसिद्ध हुई।[3] परन्तु उनके 'महावस्तु' में इससे विभिन्न एक अन्यकथा इस वंशकी उत्पत्तिमें दी हुई है।[4] अस्तु; इतना प्रगट है कि काशीमें भी कोई राम नामक राजा होचुके हैं। जैनियोंके

१-देखो 'भगवान महावीर और म०बुद्ध' पृ० ७७। २-सम क्षत्रिय ट्राइब्स ऑफ एनशियेन्ट इन्डिया पृ० १७४-१७५। ३-पूर्व पुस्तक पृ० २०६। ४-पूर्व० पृ० २०७।

एक अन्य जातकमें कौशलके राजा दब्बसेन द्वारा काशीके एक राजाके पकडे जानेका उल्लेख है। दब्बसेनने राजाको हथकड़ी-बेड़ी डलवा कैद कर दिया था, परन्तु वह अपने ध्यानके बल ऊपर आकाशमें बैठे नजर आए। यह देखकर दब्बसेनने उनसे क्षमा प्रार्थना की और उनका राज्य उन्हें वापिस दे दिया।[१] एक दूसरे जातकमें लिखा है कि कौशलके राजकुमार दीघावुने काशीके राजाको वनमें सोता पाकर पकड़ लिया। इस राजाने यद्यपि दीघावुके माता-पिताको तलवारके घाट उतारा था, पर इसने उसको मारा नहीं: प्रत्युत जरा ही धमकाकर उसे मुक्त कर दिया। इसपर राजाने उसे अपनी पुत्री परणा दी और उसका राज्य उसे वापस दे दिया।[२] सारांशतः इन जातक कथाओंसे काशी-कौशलका पारस्परिक सम्बन्ध स्पष्ट प्रगट है। जैन शास्त्रके इस कथनसे कि रामचन्द्रजी कौशलाधीश दशरथकी आज्ञासे काशमें राज्य करने लगे थे, यह स्पष्ट होजाता है कि अवश्य ही एक समय काशीपर कौशलका अधिकार था।[३] फिर श्री ऋषभनाथजीके तीर्थकालमें भी काशी कौशलाधिप सम्राट् भरतके आधीन थी,[४] परन्तु भगवान पार्श्वनाथके समयमें उनमें आपसमें मित्रता थी और वे स्वतंत्र थे, यह प्रकट होता है; क्योंकि अयोध्याके राजा जयसेनका पार्श्वभगवानको मित्रवत् भेंट भेजनेका उल्लेख जैनशास्त्रोंमें मिलता है।[५] इस प्रकार काशी और कौशलका पारस्परिक सम्बन्ध उस जमानेमें था।

१-जातक भाग ३ पृ० २०२। २-जातक भाग ३ पृ० १३९-१४०। ३-उत्तरपुराण पृ० ३६९। ४-आदिपुराण पर्व ६६-६३। ५-पार्श्वपुराण (बंबई) पृ० ११४।

काशीके योद्धा बड़े वीर और बलवान होते थे यह 'सतपथ ब्राह्मण'के एक कथनसे प्रमाणित है। वहां राजा जनकके दरबारमें याज्ञवल्क्य एवं अन्य ऋषियोके मध्यवर्ती संवादमें गार्गी यह कहती है कि मैं उसी तरह केवल दो प्रश्न पूछूंगी जिस तरह काशी अथवा विदेहोंके योद्धा अपने तरकसको संभालते हुए धनुषपर शत्रु भेदी दुफला बाण चढ़ाकर संग्रामके लिए उद्यमी होते हैं।[1] इन वीर योद्धाओंसे परिपूर्ण काशीका राज्य भगवान पार्श्वनाथके समय अवश्य ही विशेष प्रख्यात् था। मद्रदेश (पंजाब) के मद्रवंशीय क्षत्रियोसे भी इस राज्यका प्राचीन सम्बन्ध था[2] और नागवंशी राजा भी यहांके राजाको अपने नागभवनमें बड़े आदरसे लेगये थे।[3]

भगवान पार्श्वनाथके समय काशी और उसकी राजधानी वाराणसी बहुत ही विख्यात् थे, यह हम देख चुके हैं। वाराणसीमें बड़े२ ऊंचे भव्य जिनमंदिर और सुन्दर कई कई खनके राजमहल अपूर्व शोभा देते थे।[4] वहांके बाजार सर्व प्रकारकी वस्तुओंसे परिपूर्ण थे। जौहरी लोग करोड़ो रुपयोंका व्यापार प्रतिदिवस किया करते थे। स्त्री और पुरुष भी बड़े ही शिष्ट और धर्मवत्सल थे। इसी कारण वहां हरकोई सुखी सुखी कालयापन करता था। किसीको सहसा यही नहीं मालूम होता था कि संसारमें दुःख भी कोई वस्तु है। उन लोगोंके पुण्य-प्रभावसे नगर भी खूब उन्नतिको प्राप्त था और राजा भी उन्हें न्यायनिपुण, बुद्धिमान और प्रजाहितैषी

१-सम क्षत्रिय ट्राइब्स इन एंशि० इन्डिया पृ० १३६। २-पूर्व पुस्तक पृ० २२३। ३-पूर्व पृष्ठ २४१। ४-लाला लाजपतराय अपने 'भारतवर्षके इतिहास' (भाग १ पृ० ११६) पर लिखते हैं कि ईस्वीसे पूर्व ८०० से भारतमें ७-८ खनके मकान बनने लगे थे।

मिल गये थे। धर्मके साम्राज्यमे भला कमी किस बातकी रह सक्ती है! वहां तो स्वय त्रिलोकपूज्य तीर्थंकर भगवानका शुभागमन हुआ था ! क्षेत्रके भाग्य खुल गये थे ' उसका नाम दुनियाके कोने२में फैल गया था ' सो भी तवहीके लिये नहीं वल्कि अनन्तकालके लिये ' आज भी भारतीय काशीधामका नामोच्चारण करके अपनेको धन्य समझते हैं ।

ईसवीसन् ६२९ और ६४४के मध्यवर्ती समयमें इस देशका पर्य्यटन करने ह्वूनत्सांग नामक एक चीन देशका यात्री आया था। सारे भारतका उसने परिभ्रमण किया था और पवित्र काशीराजके भी उसने दर्शन किये थे। इस पावन-स्थानको उसने उस समय तीन मील लम्बा और एक मील चौड़ा गंगाके पश्चिम तटपर स्थित वतलाया था ।[1]

इस भव्य नगरमे उस समय राजा विश्वसेन राज्य करते थे। यह इक्ष्वाकवंशीय काश्यप गोत्री महान् क्षत्री थे। वडे ही धीर-वीर और गंभीर प्रजापालक नृप थे। वलवान, सुंदर सौम्य शरीरके धारक दूसरे कामदेव ही जान पड़ते थे। जैनाचार्य इनके विषयमे कहते हैं कि —

"तत्पतिर्विश्वसेनाख्योऽप्यभूद्विश्वगुणकभृः ।
काश्यपाख्यसुगोत्रस्य इक्ष्वाकुवंशखा शुमान् ॥३६॥
सशशी चकलाधारस्तेजस्वी भानुमानिव ।
प्रभुरिद्वाभीष्ट फलदः कल्पशाखिवत् ॥ ३७ ॥
जिनेन्द्रपादसक्तो गुरुसेवापरायण· ।
धर्म्माधार सदाचारी रूपेण जितमन्मथ ॥ ३८ ॥

१—कनिंघम, जाग्रफी ऑफ ऐन्शियेण्ट इन्डिया 'नया' पृ० ४९९।

दात्ताभोक्ता विचारज्ञो नीतिमार्गप्रवर्तक. ।
गुणी प्रजाप्रियो दक्ष ज्ञानत्रयविभूषितः ॥ ३९ ॥"×

वहाके राजा विश्वसेन सचमुच चंद्रमाके समान कलाधर थे और उनका तेज सूर्यके समान था। वह कल्पवृक्षोंकी तरह सबको संतुष्ट करनेवाले थे। जिनेन्द्र भगवानके चरण-कमलोमे परम आसक्त थे। भगवान नेमिनाथके पवित्र तीर्थमे विचरते हुये सर्व हितैषी, तिलतुषमात्र परिग्रह रहित परमविवेकी निर्ग्रंथ गुरुओकी वह सदा सेवा किया करते थे। मुनिराजोंको विधिपूर्वक पड़गाह कर भक्तिसे गद्गद होकर वह राजा पुण्यके द्वार आहारदानको दिया करते थे। उन सद्गुरुओंके वचनामृतका पान तृषित चातककी भांति वह नित्य ही करते था। धर्माचरण और सदाचारके पालनमे वह कोई को कसर उठा न रखते थे। कामदेवको लजानेवाले रूपको धारण किये हुये वह दान देनेके लिये दाता थे। भोगोपभोगकी सामिग्रीका उपभोग करनेके लिए भोक्ता थे और राज्यरक्षाका समुचित प्रबंध करनेके लिये विचारज्ञ थे। फिर भला ऐसे धर्मवत्सल नृपका प्रवर्तन नीतिमार्गमें होना स्वाभाविक ही था। वह गुणी था—प्रजाप्रिय था और पूर्ण दक्ष था। और तो और मति, श्रुति और अवधि इन तीन ज्ञानोसे विभूषित था। इसलिये वह साधारण मनुष्योंसे कुछ विशेष था !

इन प्रजावत्सल महाराज विश्वसेनकी पट्टरानीका नाम ब्रह्मदत्ता था। वह महीपालपुरके राजा महीपालकी पुत्री थी। जैसे ही राजा विश्वसेन रूप और गुणोंमें अद्वितीय थे वैसी ही वह उनकी प्रिय अर्द्धांगिनी थीं। उनको पाकर राजाके निकट 'सोनेमें सुगंधि'की

× श्री सकलकीर्ति आचार्य विरचित 'पार्श्वचरित' सर्ग १० श्लो० ३६-३९.

उक्ति चरितार्थ हुई थी। वह रानी महा शीलवान और गुणोंकी खान थी। जिस तरह वह अपने सौन्दर्यमें एक थी वैसे ही वह विद्या और कलाओंमें परमप्रवीण थी। नृप विश्वसेनके चंचल मनको वह अपने रूप और गुणोंसे स्थिर करनेमें चतुर थी। उनकी महिमाका वर्णन जैन कविके निम्न पद्योंद्वारा करना ही पर्याप्त है:—

"नखसिख सहज सुहागिनि नार, तीन लोक तियतिलक सिंगार।
सकल सुलच्छन मंडित देह, भाषा मधुर भारती येह॥
रंभा रति जिस आगे दीन, रोहिनिरूप लगै छवि छीन।
इन्द्रवधू इमि दीसै सोय, रविद्युति आगे दीपक लोय॥
जनम हर्म्य वड़वन एम, कातिक-चन्द्र-चन्द्रिका जेम।
सकल सार गुनमनिकी खानि, सीलसम्पदाकी निधि जानि॥
सज्जनताकी अवधि अनूप, कला सुबुधिकी सीमारूप।
नाम लेत अघ तजे समीप, महा-सुरूप-मुक्ताफल-सीप॥
त्रिभुवननाथ जन्मकी मही, बुधिबल महिमा जाय न कही।
बहुविध दम्पति नृपति जोग, करैं पुनीत पुन्य फल भोग॥"*

इन ललना-ललाम महाराणी ब्रह्मदत्ताकी संगतिमें महाराज विश्वसेन आनन्दसे कालयापन कर रहे थे। समुचित रीतिसे प्रजाका पालन करते थे और धर्माचरण एवं शास्त्रमनन द्वारा आत्मकल्याण करते थे। बनारसकी प्रजा भी उनकी छत्रछायामें परम सुखी थी। श्रावकोंके षडावश्यक कर्मोंका उस नगरीमें खूब पालन होता था। अहिंसाधर्मका प्रभाव वहां चहुंओर व्याप्त था। सोनेके कलशोंसे मंडित अपूर्व कारीगरीके जिनमंदिरोंमें प्रतिदिवस आत्मरूपकी सुध दिलानेवाली, चंचल मनको सर्वज्ञ भगवानके गुणोंमें अनुरक्त करनेवाली एवं महापुरुषोंकी नीतिकुशलता ज्ञापनकी मर्या-

* कविवर भूधरदास कृत 'पार्श्वपुराण' पृ० ८२।

दाको बतलानेवाली–स्वर्ग और मोक्षका साक्षात् कारण जिनपूजा बड़े भक्तिभावसे होती थी ! उस समयके बनारसका सलौना दृश्य सबका ही मन हरनेवाला था। सब ही वहां आनन्दमग्न रहते थे। धर्मके प्रियकर धवल आलोकमें वहां किसी बातकी बाधा नहीं थी ! आज भी पुरातन वार्ताको प्रकट करनेवाला एक जैन मंदिर भेलूपुरामें विद्यमान है। इसप्रकार बनारस और उसके राजा विश्वसेनके दिग्दर्शन करके हम कृतार्थ होजाते हैं। अगाडी आइये, पाठक-महोदय, प्रभुके पवित्र आगमनमें उनके दर्शन करलें।

---

(९)

भगवानका शुभ अवतार !

"अन्वितान्वित विपातिनूतनानेकरत्नरुचिमेचकं नभः।
आदधौतनुभृतामभित्तिकं चित्रमेतदिति विस्मितां मतिं ॥
आस्खलन्निपतदिंद्रनीलनिर्भासजालवहलांधकारिते।
भातु मानुभिरभावि भावितव्योमनि क्वचिदकांडकुंठितैः॥"
—श्री पार्श्वनाथ चरित्र।

बनारस अद्वितीय शोभाको धारण किये हुये था ! 'भावी तीर्थंकरका जन्म होनेवाला है' यह जानकर सुरगणोंकी विभूतिसे उसकी शोभा और भी बढ़ गई थी। इन्द्रकी आज्ञासे कुवेरने भगवानको महाराणी ब्रह्मदत्ताके गर्भमें आनेके छह महीने पहलेसे ही रत्नवृष्टि करना प्रारम्भ कर दी थी। इस अद्भुत वृष्टिकी चित्रविचित्र प्रभासे उस समय सारा आकाश ही रंगविरंगा होगया था। तथापि 'लगातार पडनेवाले नवीन रत्नोंसे रंगविरंगा दीख पड़ने

वाले आकाशने वहाके लोगोंकी बुद्धिको उस समय विस्मित कर दिया था और विना किसी प्रकारकी रुकावटके धडाधड पडती हुई इन्द्रनीलमणियोकी कातिसे अधकारित आकाशमें सूरजकी किरणें असमयमे ही कुठित होगई थीं ।'[१] कभी पद्मरागमणियोकी वर्षासे आकाश लाल होजाता था तो कभी सुवर्ण वर्षासे पीला ही पीला नजर आता था । सचमुच रत्न आदि निधियोंकी उस समय इतनी वर्षा हुई थी कि उनको ग्रहण करनेवालोकी तृष्णा भी सकुचा गई थी।

इन्द्रकी आज्ञा पाकर छप्पन दिक्कुमारियां भी शीघ्र ही वनारसमें आई थीं । विशाळ और उन्नत राजभवनमें प्रवेश करके उनने रानी ब्रह्मदत्ताके दर्शन पाके अपनेको कृतार्थ माना था। उस अनुपम रूपवान् रानीकी वन्दना करके वे देवियां उसकी सेवा करने लगीं । 'कोई तो महाराणीका उवटन करने लगी, जिसके कारण वह विश्वसेनकी प्रियतमा अमृतमयी सरीखी सुशोभित होने लगीं और कोई उसे सुन्दर अलंकार एव चन्दनहार पहनाने लगी जिससे उस रानीका मुख ताराओसे वेष्टित चद्रबिम्ब जैसा सुन्दर दिखने लगा ।'[२] कभी वे देविया उसके मनको अलौकिक नाच नाचकर मुग्ध करतीं तो कभी मनोहर रागोंको अलाप कर उसे प्रसन्न कर देती ।' यह दिन उन महारानीके लिये वड़े ही मनोरम थे । उनकी सेवामें ये सुर-कन्यायें सदा उपस्थित रहती थीं। महारानी भी सदैव प्रसन्न-चित्त रहा करतीं थीं और धर्माराधनमें दत्तचित्त रहतीं थीं। महाराज विश्वसेन भी इस विभूतिको देखकर बडे ही प्रसन्न होते थे ।

वास्तवमें धर्मकी महिमा ही अपार है । पुण्य प्रभावसे अलौ-

१-पार्श्वचरित (कलकत्ता) पृ० ३४२ । २-पूर्व० पृ० ३४०-३४१ ।

किक बातें भी धर्मात्माके निकट अपनी अलौकिकता खो बैठतीं हैं। तीनो लोकोंमें कोई ऐसी वस्तु नही है जो धर्मसे बढ़कर हो और उसकी आराधनासे वह मिल न सके ! और न ऐसा कोई कार्य है जो धर्म-प्रभावसे सुगम न होजाय ! भौतिकवादके वर्तमानकालमें रहते हुये साधारण मनुष्योंके लिये अवश्य ही यह सब आश्चर्य भरी बातें हैं, परन्तु जिसे आत्माकी अनन्त शक्तिमें विश्वास है, उसके लिये यहां विस्मयको कोई स्थान ही शेष नहीं है। देव भी कोई विशेष पुण्यवान् जीव है, यह आज पाश्चात्य भौतिकवादी भी स्वीकार करने लगे हैं। ब्राह्मण और बौद्धग्रन्थ भी प्राचीनकालमे यहां देवोंके आगमनका वर्णन करते मिलते है। इस दशामे जैनशास्त्रोंके उक्त कथनमें विस्मय करना वृथा ही है। अस्तु !

एकदा राजदरबार लगा हुआ था। मंत्री, सेनापति, राजकर्मचारी और सब ही दरबारी अपने२ स्थानपर बैठे हुये थे। राजा विश्वसेन भी राज्यसिंहासन पर विराजमान थे, राज्यछत्र लगा हुआ था, चवर ढोले जारहे थे। इसी समय अन्तःपुरवाले मार्गकी ओरसे जय-जयकारका घोष सुनाई दिया। देखते ही देखते परिचारिकाओसे वेष्टित महारणी ब्रह्मदत्ता वहां आती हुई दिखलाई दी। दरबारियोंने यथोचित रीतिसे महाराणीका स्वागत किया और राजा विश्वसेनने बडे आदरसे उन्हें अपने पास आधे आसनपर बैठा लिया। सचमुच उस समय दरबारी तो ऐसे मालूम होते थे जैसे तारे हो और राजा विश्वसेन उनमे चाद सरीखे थे, तथापि महाराणी उनके बीच चंद्रिकाके अनुरूप विकसित हो रहीं थीं। इस अवसर पर सब ही लोग उत्सुकतासे महाराणीके

आगमनका कारण जाननेको उत्कण्ठित हो उठे। महाराणी भी बड़े मिष्ट स्वरमें विनयके साथ शिष्ट वचनोंमें 'शत्रुओंके मुकुट-मणिकी आभासे चमचमाते हुए चरणकमलवाले' अपने पति राजा विश्वसेनसे यों कहने लगीं कि 'हे देवोंके प्रिय आर्य! आज रात्रिको जिस समय मैं सो रही थी तो उस समय रातके पिछले पहरमें मुझे हाथी, बैल, सिंह, कमल, पुष्पमाल, सूर्य, युगल, मीन, कलश आदि सोलह स्वप्न दिखाई पड़े थे, तथापि गजको मुखमें प्रवेश करता हुआ जानकर मैं रोमांचित ही होगई थी। हे आर्य! तब ही से मुझे आपके निकट आकर इन स्वप्नोंका फल जाननेकी उत्कण्ठा लग रही थी। प्रिय! प्रातः होते ही नित्यकी शौचादि क्रियायों और भगद्भजनसे निर्वृत होकर मैं आपकी सेवामे उपस्थित हुई हूं। महाराज! इन स्वप्नोंका फल बतलाकर मेरे चचल मनको शांत कीजिए।'

राजा विश्वसेन अपनी प्रिय अर्द्धांगिनीके मुखकमलसे यह वर्णन सुनकर बडे ही प्रसन्न हुये। उन्होंने अत्यन्त प्रियकर शब्दोंमें महाराणीके प्रश्नका उत्तर देना प्रारंभ किया और अपने दिव्य अवधिज्ञानके आधारसे उन्होंने उन सोलह स्वप्नोका उत्कृष्ट फल रानीको यह बतलाया कि तेरे गर्भमें तेइसवें तीर्थंकर भगवान पार्श्वनाथके जीवका अवतरण हुआ है। रानी इस फलको सुनकर बड़ी ही हर्षित हुई मानो रङ्कको निधि ही मिल गई हो। दरबारी भी फूले अग न समाये। सबहीने मिलकर आनंद उदधिमें गोते लगाए!

वह वैशाख मासका कृष्णपक्ष था और द्वितीयाकी तिथि थी कि रात्रिके अवसान समयपर महाराणी ब्रह्मदत्ताने त्रिलोकवन्दनीय

श्रीजिनेन्द्र भगवानको गर्भमें धारण किया था। नक्षत्र भी विमल विशाखा नक्षत्र था। जैनाचार्य इस शुभ घटनाका उल्लेख यूं करते हैं—

'अथ दिविजवधूपवित्रकोष्ठ जठरनिवासमुपेतमनिंतद्रम् ।
अवहद दयिता नृलोकभर्तु खनिरिव सारमणिं निगूढकातिम् ॥'

अर्थात्—'जिसप्रकार छिपी हुई कांतिको धारण करनेवाली उत्कृष्ट मणिको, खानि अपने उदरमें धारण करती है, उसी प्रकार मनुष्य लोकके स्वामी राजा विश्वसेनकी प्रियतमाने आनत स्वर्गसे आये हुए भगवान पार्श्वनाथके जीव आनतेन्द्रको छप्पन दिक्कुमारियों द्वारा शुद्ध किये गये अपने उदरमें धारण किया।' (पार्श्वचरित पृष्ठ ३४९)।

इसप्रकार भगवान पार्श्वनाथ आनत स्वर्गसे चयकर महाराणी ब्रह्मदत्ताके गर्भमें आगये। उनके गर्भमें आनेसे वह महाराणी उसी तरह विशेष शोभित होने लगीं जिस तरह पूर्व दिशा प्रतापी सूर्यके उदय होनेसे मनोहर बन जाती है। भगवानके गर्भावतारका उत्सव भी विशेष सजधजके साथ मनाया गया था। देवलोकके इन्द्र और देवगण बनारसमें आये थे और उन्होंने जिनेन्द्रका 'गर्भकल्याणक' महोत्सव किया था, यह जैनशास्त्र प्रकट करते हैं।

महाराणी ब्रह्मदत्ता वैसे ही विशेष गुणवती और विद्वान् थीं, परन्तु भगवानको गर्भमे धारण करनेपर उनने स्त्रियोके स्वभावोचित सब ही गुणोंको सहज ही अपनेमें उदय कर लिया। भगवानका ऐसा दिव्य प्रभाव था कि गर्भके बढ़ते जानेपर भी महाराणी ब्रह्मदत्ताका उदर नहीं बढ़ा था। भगवान उनके गर्भमें उसी तरह विराजमान थे, जिसतरह सरोवरमे कमल कीचड़से अलग रहता है।

यह तीर्थंकर भगवानकी पुण्य प्रकृतिका प्रभाव था। पूर्व जन्मोंमें उन्होंने किस प्रकार देवपूजा, गुरुभक्ति, व्रताचरण आदिकी उत्कृष्टतासे पुण्य संचय किया था, यह हम पूर्व प्रकरणोंमें देख चुके हैं। इन्हीं धर्मकार्योंके बल एक मत्त हाथीकी गतिमें पड़ा हुआ जीव आत्मोन्नति करके त्रिलोक वंदनीय परमात्मा होगया। नरसे नारायण बन गया! हमारे लिये इससे बढ़कर और आदर्श क्या हो सक्ता है?

महारानी ब्रह्मदत्ताके नौमास बड़े ही आनन्दसे बीते। दिक्कुमारियां सदा ही उनकी सेवा सुश्रूषामें उपस्थित रहती थीं, वे उनकी रुचिके अनुसार ही विनोद क्रियायें करके उनके हृदयको प्रफुल्लित करती थीं। जब वह गूढ़ अर्थको लिये हुये श्लोकोंका अर्थ महारानीसे पूछती थीं और वे यथोचित उनका उत्तर देती थीं, तब सचमुच यही भासने लगता था कि महारानीकी प्रखर बुद्धिको गर्भस्थ बालकके दिव्यज्ञानने और भी प्रकाशमान कर दिया है। इधर देवों द्वारा रत्नवृष्टि पहलेकी भांति होरही थी। जिसको देखकर महारानीका मन सदैव प्रसन्न रहता था। नियमित समयके पूर्ण होनेपर महारानीने पौष कृष्ण एकादशीके पवित्र दिन भगवान पार्श्वनाथको उसी तरह जना जैसे पूर्वदिशामें सूर्यका जन्म होता है। भगवानके आनंदमई जन्मसे तीनों लोकके सब ही प्राणी हर्षित होगये। एक क्षणके लिये सब ही अपने दु:खोंको भूल गये। नर्कमें पड़े हुए दारुण दु:ख सहते नारकियोंको भी उस समय सान्त्वना मिल गई! तीर्थंकर प्रकृतिका प्रभाव ही गजब होता है। आचार्य कहते हैं:—

'उपनतमुखसुप्रसन्नदिक्क नियमितसर्वरजः कणानुबधम् ।
जिनवरजनने जगत्समस्त क्षणमिव मुक्तामभूदमुक्तरागम् ॥
नवपरिमल सौरभावकृष्टभ्रमदलिमेचकितान्मरुत्पथाग्रात् ।
अविरलबहला सुरद्रुमाणा नृपतिगृहे निपपात पुष्पवृष्टिः ॥'

अर्थात्–तीन लोकके नाथ भगवान जिनेन्द्रके जन्मते समय धूलिके करणोंके नियमित हो जानेपर समस्त दिशाएं निर्मल होगईं; उस समय क्षणभरके लिये समस्त जगत शांत होगया और उसके आनंदका पार न रहा। उस समय मनोहर सुगंधिसे खींचे गये जो भनभनाट करते हुये भ्रमर उनके संबधसे चित्रविचित्र और उत्कृष्ट सुगंधिको धारण करनेवाले कल्पवृक्षोंसे जायमान पुष्पोंकी वर्षा आकाशसे राजा विश्वसेनके मंदिरमें होने लगी। (पार्श्वचरित पृ० ३४७)।

देवोंके सचिव इन्द्रका आसन कंपायमान होगया, कल्पवासी देवोंके विमानोंमें स्वयं घंटे बजने लगे, ज्योतिषी गृहोंमें अपने आप सिंहनाद होने लगा, व्यन्तरोंके आवासोंमें भेरीका शब्द अकस्मात् हो निकला और भवनवासी देवोंके भवनोंमें शंखध्वनि होने लगी। सारांश यह कि सारे भूमडलपर प्रसन्नताकी एक लहर दौड़ गई। जिस प्रकार विनातारकी तारवर्की (Wireless Telegraphy) द्वारा एक विद्युत लहर वातावरणमे व्याप्त होकर निर्दिष्ट स्थानोंके कलपुर्जोंको चलायमान कर देती है, उसी प्रकार श्री तीर्थंकर भगवानके जन्मसे एक ऐसी आनंदभरी विद्युत लहर सारे संसारमें फैल गई कि स्वयं सर्वत्र हर्ष ही हर्ष छागया ! प्राकृत रूपमें ऐसी घटना घटित होना अनिवार्य थी।

देवोंने जब उक्त घटनाओंके बल श्री तीर्थंकर भगवानका

कल्याणकारी जन्म हुआ जाना, तो वे बनारसकी ओर चल दिये। बड़ी सजधजके साथ सौधर्मेन्द्र भी आया एवं और सब देव भी आये। सबोंने मिलकर बड़ा भारी आनंदोत्सव मनाया। आखिर सौधर्मेन्द्रकी आज्ञासे शचीने महाराणी ब्रह्मदत्ताको निद्राके वशीभूत कर दिया और एक मायामई बालक उनके पास लिटाकर वह बालक भगवानको इन्द्रके पास ले आई। इन्द्र अनुपम बालकको देखते ही गद्गद होगया। उनके अपूर्व रूप लावण्यको दो आंखोंसे ही देखकर वह तृप्त न हुआ बल्कि अपनी तृष्णाको मेटनेके लिये उसने अनेक कृत्रिम नेत्र बनाकर बालक-भगवानके दर्शन किये और उनकी विशेष रीतिसे स्तुति की। उपरान्त भगवानका जन्माभिषेक करनेके लिये वह सुमेरुगिरि पर्वतपर लेगया। वहांके पांडुकवनमें रत्नजटित शिलापर भगवानको विराजमान किया और क्षीरसागरका निर्मल जल देवोंद्वारा मंगवाकर उसने भगवानका अभिषेक १००८ कलशोंद्वारा किया। उस समय अद्भुत उत्साह चहुओर दृष्टि पड़ने लगा। सब ही सुरागणाएं जयजयकार करने लगीं। एक कोलाहलसा मच गया! जैन कवि भगवानके अभिषेक संबंधमें कहता है कि:—

'जा धारासों' गिरिसिखर, खंड खंड हो जाय।
सो धारा जिन देहपै, फूलकली सम थाय॥
अप्रमान बीरज धनी, तीर्थंकर प्रभु होय।
तातैं तिनकी सकतिकौं, उपमा लगै न कोय॥
नीलवरन प्रभु देहपर, कलस-नीर छवि एम।
नीलाचल सिर हेमके, बादल बरसैं जेम॥
चली न्हौनके नीरकी, उछल छटा नभ माहि।

स्वामि संग अघविन भई, क्यों नहिं ऊरध जाहि ॥
न्हौंन छटा तिरछी भई, तिन यह उपमा धार।
दिग वनिता–मुख सोहियै, करनफूल उनहार ॥'

इस प्रकार न्हवन कर चुकनेपर इन्द्र और शचीने वड़ी विनयसे वालक भगवानकी पूजा की और फिर वह भगवानसे विनय करने लगा कि 'हे भगवन्! आपकी कृपास्वरूप आत्महितके विना अनादिकालसे सम्बन्ध रखनेवाले प्रबल कर्मोका नाशक विवेक स्वरूप नेत्र लोगोको प्राप्त नही होसक्ता। आपकी कृपा विना वे कर्मोंके नाशके लिये समर्थ नही होसक्ते।' इसी तरह बहुत देरतक विनय कर चुकनेपर सब देवलोग बनारस लौट आये।

इन देवोंको इस प्रकार सजधजके साथ आता हुवा देखकर राजा विश्वसेनको वड़ा आश्चर्य हुआ। परन्तु इन्द्रने राजाको सब भेद बतला दिया और कहा कि नियमानुसार देवगण भगवानके गर्भ, जन्म आदि पांच कल्याणकोंपर उत्सव मनाने आते हैं, उसी अनुरूप मैंने भगवानका जन्मकल्याणक उत्सव मनाया है। यह कहकर आचार्य कहते हैं कि इन्द्रने इस प्रकार भगवानका नाम रक्खा।

'अनुपमसुखधामपार्श्ववृत्त्या सकलजगद्विषय प्रभावभूम्ना।
सविनयमयमुच्यता समस्तैर्भुवनगुरुर्वसुधेश पार्श्वनाथः ॥५७॥'

अर्थात्–ऐसा कहकर इन्द्रने, उस समय भगवान जिनेन्द्रके पार्श्व (पास) में अद्वितीय सुख और कांति दीख पड़ती थी और समस्त जगतपर उनका प्रभाव पड़ा हुआ था, इसलिये तीन लोकके स्वामी जिनेन्द्रका पवित्र नाम पार्श्वनाथ रख दिया।[१] (पार्श्व० पृ० ३६२)

१–विश्वसेननृपः सार्द्ध देव्या बधुजनैस्तरा।
प्रीतिमायातिसाश्चर्यो दृष्ट्वातन्नाट्यमूर्जितं ॥ १०० ॥

फिर इन्द्रने वालक भगवानको राजा-रानीके सुपुर्द कर दिया ओर उनकी वडी विनयसे पूजा की। इसपर सव देवोंने मिलकर सबके मनोको मोहनेवाला अद्‌भुत नाट्य रचा जिसे देखकर राजा और रानी एवं सव ही उपस्थित भव्यगण वडे ही आनंदमग्न हुये। इसके वाद इन्द्र और सव देवलोग अपने२ स्थानोंको चले गये।

राजा विश्वसेनने भी पुत्रका जन्मोत्सव वड़े ही ठाठवाटसे मनाथा। सारी वनारस नगरी एक छोरसे दूसरे छोरतक जगमगा उठी और चहुंओर आनंद छा गया। वदीगण मुक्त कर दिये गये, याचकोको दान दिया गया और प्रजाका मान किया गया। और त्रिलोकवदनीय तीर्थंकर भगवानको अपनी गोदमें धारण करके राजा-रानी अपने भाग्यकी सराहना करने लगे। पूज्य भगवानके माता पिता होनेसे वढ़कर और कौनसा पद संसारमें श्रेष्ट है? वही सर्वोत्कृष्ट है। अतएव हम भी यहांपर जन्मोत्सव प्रकरणमें भगवान और उनके मातापिताके निकट नतमस्तक हो लेते है।

नयतीति एव पार्श्वे यो भव्यान तोहि सार्थक।
अस्य चक्रु सुरा पार्श्वनामपित्रो प्रसाक्षिक॥ १०१॥ सर्ग २३
—इति सकलकीर्तिः।

(१०)

कुमारजीवन और तापस समागम !

'हिमकरमुखमंबुजोपमाक्ष पुरपरि धायतबाहु तुच्छमध्यम् ।
पृथुतर विलसद्विशाल वक्षस्तरलतमाल रुचिप्रकाश रुच्यम् ॥६१
अतिसित रुधिरं सरोजगंधि व्यपस्तृत धर्मजलं मलादपोढम् ।
प्रसकल शुभलक्षणोपपन्नं प्रथमक संहननं मनोज्ञ कांतिम् ॥६२
कुलगिरितल भूमि संधिवन्धं श्लथपरिहास विधिक्षमं जवेन ।
वपुरथ परमेश्वरेण बभ्रे शतमख हस्तसरोजराजबिंबम् ॥६३॥'

—पार्श्वनाथचरित्र ।

तीनो लोकोंको सुख दाता जिनेन्द्र पार्श्वनाथका जन्म हो गया । वे बालक भगवान शुक्ल पक्षके चन्द्रमाकी तरह धीरे२ बढ़ने लगे, शिशु अवस्थाकी कोमल मुस्कान और सरल अठखिलियोंसे माता—पिता और बंधुजनोंका मन हरने लगे, देखते २ वे अटपटे पैरोंसे चलने भी लगे । अपने प्रफुल्लित मुख और बाल्यकालीन चंचल क्रीड़ाओंसे सबको बडे ही प्रिय लगने लगे । कभी आप उझककर धायसे दूर भाग जाते, तो कभी रत्नजड़ित दीवालोंमें अपनी परछाई देखकर उसको पकड़नेको कोशिष करते । इस तरह बाललीला करते वह आठ वर्षके होगये । इस नन्हीसी उमरमें ही उनकी बुद्धि बडी कुशाग्र थी और वे नैतिक आचारकी मर्यादाका पालन करने लगे थे । जैन शास्त्र कहते है कि इसी समय आपने श्रावकोके अणुव्रतोको धारण किया था ।[1] हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील

१—वर्षाष्टमे स्वयं देवस्त्रिज्ञानज्ञ सपचधा ।
आददेणुव्रतान्येव गुणशिक्षाव्रतानि च ॥ १७ ॥

और परिग्रहका एकदेश—आंशिक त्याग कर दिया था । वह जान बूझकर इन दुष्कर्मोंमें प्रवृत्त नहीं होते थे । ऐसे विवेकमय आचरणका अभ्यास करते हुये, वह आनन्दसे सुर—कुमारोंके साथ अनोखे खेल खेला करते थे ।

उनका शरीर जन्मसे ही मल, मूत्र, पसीना आदिसे रहित बड़ा ही स्वच्छ था ।[१] उसमेंका रुधिर दूधके समान सफेद था । वह परमोत्कृष्ट शक्तिकर परिपूर्ण था । जैनशास्त्रोंमें उसे 'सुसमचतुरसंठान शरीर' वतलाया गया है । उसमें स्वभावतः एक प्रकारकी प्रिय सुगंधि आती थी और वह 'सहसअठोत्तर' लक्षणोंसे मंडित था । सचमुच जैसे वे भगवान महापुरुष थे वैसा ही उनका सुभग शरीर था । एक जैनाचार्य उपर्युक्त श्लोकोंमें भगवान पार्श्वनाथके शरीर सौन्दर्यका वर्णन यूं करते हैं:—

'भगवान जिनेन्द्रका मुख चन्द्रमाके समान था । नेत्र कमलके समान थे, भुजा परिघाके समान विशाल थीं । कटिभाग पतला और वक्षःस्थल मनोहर किंतु विशाल था । एवं शरीरकी कांति तमालवृक्षके समान मनोहर थी । उनका शरीर सफेद रुधिरका धारक कमलके समान सुगंधिवाला, स्वेदजल, मलमूत्रादिसे रहित, समस्त शुभ लक्षणोंका धारक, वज्रवृषभनाराच नामक उत्तम संहननसे युक्त, महामनोहर, कुलपर्वतकी भूमिके समान संधियोंका धारक और कड़ा

सप्तधा स्वर्गकर्ता निस्त्वयोग्यान्य पराण्यपि ।
त्रिशुद्धयान्यरतीचाराणि सागार वृपाप्तये ॥ १८ ॥
—पार्श्वचरित्र सर्ग १४ ।

१—'तित्थयरा तप्पियरा हलहर चक्काइ वासदेवाइ ।
पडिवास भोयमूमिय आहारो णत्थि णीहारो ॥'

था एवं उसमें इन्द्रके मनोहर करकमलोकी विंब पड़ती रहती थी अर्थात् सदा उसकी सेवा इन्द्र किया करता था।'[1]

इसप्रकार अपूर्व सौन्दर्यके आगार भगवान पार्श्वनाथ कुमार अवस्थाको प्राप्त हुये ! क्रमकर उनके नीलवर्णमई नौ हाथ ऊंचे शरीरमें यौवनके चिन्ह प्रकट हुये। वे भगवान शीघ्र ही युवावस्थाको प्राप्त होगये, किन्तु यहांपर हमे भगवानकी शिक्षा-दीक्षाके सम्बंधमें कुछ अधिक विचार कर लेना चाहिये। मानवताका जो महत्व है उसे देख लेना हमे इष्ट है। मनुष्य होकर हमें अपने पूज्य तीर्थंकर भगवानके दर्शन मनुष्यरूपमें करनेकी लालसा करना स्वाभाविक है। किन्तु हत्भाग्यसे वह इतने प्राचीनकालमे हुये हैं कि जिसका इतिहास पूर्णत. ज्ञात नही है और जिससे उनके विषयमें कुछ अधिक स्पष्ट रीतिसे कहा नहीं जासक्ता है। जो कुछ जैन शास्त्रोंमें उनके बाल्य और कौमार कालोंका विवरण मिलता है उनसे यही ज्ञात होता है कि भगवान नन्हीं आवस्थासे ही धार्मिक रुचिको धारण करनेवाले और नीतिमार्गका पालन करनेवाले व्रती श्रावक थे। वह इस छोटी अवस्थामें ही हमारे सामने एक अनुकरणीय आदर्शके रूपमे नजर आते हैं परन्तु यह ज्ञात नहीं है कि उनकी शिक्षा किस प्रकार हुई थी। जैन शास्त्र तो कहते हैं कि वह जन्मकालसे ही मति, श्रुति, अवधिज्ञान कर संयुक्त थे, और इस तरह वे एक पूर्वनिर्मित मूर्तिकी भांति ही हमारे अगाड़ी रक्खे गये प्रतीत होते हैं। परन्तु यदि हम विशेष पुण्य प्रकृतिके अतुल प्रभावको ध्यानमें रक्खें तो इस प्रकार उनका जन्मसे ही विशिष्टज्ञानी होना कुछ

१-पार्श्वनाथ चरित पृ० ३६४।

असंगत प्रतीत नहीं होता। बेशक आजकलके जमानेके लिये यह एक बेढगी और अटपटी बात है। किन्तु पहलेके आत्मवादी जमानेमें इसमें कुछ भी अलौकिकता नहीं समझी जाती थी। भगवान पार्श्वनाथ अवश्य ही हम आप जैसे एक मनुष्य थे, परन्तु उन्होने इस उत्कृष्टताको अपने इसी एक भवमे नहीं पाया था, बल्कि अपने पहलेके नौ भवोंसे ही वे इतनी उन्नति करते चले आरहे थे कि इस भवमे आकर उनकी आत्मा परमोच्चपदको प्राप्त हुई थी। इस विकाश क्रमको हमें नहीं भुला देना चाहिये और इसमें आश्चर्य करनेको कोई स्थान शेष नहीं रहता है। जैनशास्त्र आपके शिक्षादिके सम्बन्धमें यही कहते हैं। यथाः—

'मतिश्रुतावधिज्ञानान्येवास्य सहजान्यहो ।
भैरवोधिसनिः शेप तत्व विश्व शुभाशुभ ॥ ११ ॥
कलाविज्ञान चातुर्यं श्रुतज्ञान महामते ।
विश्वार्थावगमतस्य स्वय परिणति ययौ ॥ १२ ॥'

भगवान मति, श्रुति, अवधिज्ञान द्वारा जन्मसे ही विभूषित थे। कला, विज्ञान, चातुर्यतामें उनकी समानता कोई कर नहीं सक्ता था। विश्वभरकी सर्व विद्यायें आपको स्वयं प्राप्त हुई थीं। यह महापुरुषोंके लिये कोई अनोखी बात नहीं है, तिसपर भगवान पार्श्वनाथ तो उपरान्त अनुपम साक्षात परमात्मा ही हुये थे। अस्तुः

एक रोज सभा लगी हुई थी। राजकुमार पार्श्वनाथ प्रसन्न चित्त हुए अपने सखाजनोंके साथ आनन्दगोष्टि कर रहे थे। इसी समय वनपाल—मालीने आकर राजकुमारसे वनमें किसी एक साधुके आगमन सम्बन्धी समाचार सुनाये। राजकुमार पार्श्वनाथने अपने अवधिज्ञान (Clairovoyance)से काम लिया। उन्होंने उस

साधुके रूपको जानकर वहां जाना ही आवश्यक समझा। सखा-जनों और अंगरक्षको सहित वडे ठाठ–वाटसे वे हाथीपर सवार होकर वनविहारके लिये निकले। विहार करते २ वहीं पहुंच गये जहां वह साधु आया हुआ ठहरा था। राजकुमारने देखा यह साधु उनका नाना महीपाल है, जो अपनी रानीके विरहमे व्याकुल होकर तापसी होगया है और पंचाग्नि तप रहा है। राजकुमारको उसकी इस मूढ़क्रियापर वड़ा तरस आया। वे सरल स्वभाव उसके पास जा खड़े हुये। तापसी यकायक पार्श्वनाथको चुपचाप अपने पास खड़ा देखकर क्रोधके आवेशमें आगया। वह बोला–“मै ही तुम्हारा नाना हूं, और राज्यविभूतिको पैरोंसे ठुकरा कर आज कठोर तप-श्चरणका अभ्यास कर रहा हूं; फिर भी तुम्हें इतना घमण्ड है कि मुझे प्रणाम करना भी तुम बुरा समझते हो। प्रणाम करनेमें तो तुम्हें शर्म ही आती है न ?”

राजकुमार पार्श्वनाथने तापसीके इन कटु वचनोंसे जरा भी अपने चित्तको विषादयुक्त नहीं बनाया! उन्होने सहज ही जान लिया कि वह कितना सन्यास परायण है और उत्तरमें कहा कि–‘अज्ञानी होकर यह हिंसामय तप, हे तापस! तुम क्यों तप रहे हो ?’ इतना सुनना था कि तापस आग बबूला होगया! उसकी भडकी हुई क्रोधाग्निमें राजकुमारके उक्त शब्दोंने घीका ही काम किया। पूर्वभवका इनका आपसी संयोग ही ऐसा था। यह तापस कमठका ही जीव था, जो नर्कसे निकल कर अनेक कुयोनियोंमें भटककर किंचित् पूर्व पुण्य–प्रभावसे महीपालपुरका राजा हुआ था और फिर तापसका वेष धारण करके इस समय राजकुमारके प्रति रोष

प्रकट करते हुए अपने पूर्व वैरको दर्शा रहा था। वह तड़प कर बोला, "चल रहने दे। तू इस समय निरंतर होनेवाली सम्पत्तिसे उन्मत्त है, अन्यथा और कोई मनुष्य मुनियोंसे ऐसे अनुचित शब्द कैसे कह सक्ता है ?" यह कहकर वह राजकुमारसे विमुख होकर शांति होती हुई अग्निको सुलगानेके लिए एक लक्कड़ फाड़ने लगा। भगवानने उसे बीचमें ही रोक दिया और कहा 'यह अनर्थ मत करो। इस लक्कड़की खुखालमे अन्दर सर्पयुगल हैं। वह तुम्हारी कुल्हाडीके आघातसे मरणासन्न होरहे है। तुम व्यर्थमें ही उनकी हत्या किये डाल रहे हो। उन्हें आगमे मत रक्खो।'

किन्तु भगवानके इन हितमई वाक्योंके सुनते ही वह तापस ताड़ित हाथीकी भांति गर्जने लगा। वह बोला, "हा, ससारमें तूही ब्रह्मा है, तूही विष्णु है, तूही महेश है, मानो तेरे चलाये ही दुनिया चल रही है। तूही बड़ा ज्ञानी है, जो यहां ऐसा उपदेश छाट रहा है। यहां मेरे लक्कड़में नाग-नागिनी कहासे आये ? मैं तेरा नाना और फिर तापस—तब भी तू मेरी अवज्ञा करते नहीं डरता है।"

आचार्य कहते हैं कि 'तपस्वीके कठोर वचन सुनकर भी त्रिलोकीनाथ भगवानको कुछ भी क्रोध न आया। वे हंसने लगे और हाथमें कुल्हाड़ी ले अधजलती लकड़ीको उनने फाड़ डाला। जलती हुई अग्निकी उष्णतासे छटपटाते हुए नाग और नागिनीको जिनेन्द्र भगवानने वाहर निकाला और अपने अलौकिक तेजसे तपस्वीके रूपको खंडवडकर उसे क्रुद्ध कर दिया।' (पार्श्वचरित पृ० २७१)

उन नाग-नागिनीके दुःखसे भगवानका कोमल हृदय बड़ा ही

व्यथित हुआ। दयाके आगार उन सर्वहितैषी भगवानने उस तापससे कहा कि 'तुम व्यर्थ ही तपस्या करते हो। क्रोध आदि कषायोसे तुम्हारा सव पुण्य नष्ट होगया। हिंसामई काण्ड रचकर तुम तपस्या करनेका ढोंग क्यों रचते हो ? क्या तुम्हारे हृदयमें दया विल्कुल नही है ? तुम्हारा यह सव तप अज्ञानतप है। कोरा कायक्लेश है, इसे भोगकर क्या लाभ उठाओगे ?'

तापस महीपाल वैसे ही कुढ़ रहा था। वह उन्मत्त पुरुषके समान कहने लगा कि 'तू वडा घमण्डी है। अकस्मात् यह सर्पयुगल इस लक्कड़में निकल आया उसपर तू फूला नहीं समाता है। तू अपनी पूज्य माताके पिताकी अविनय कर रहा है। देख मै तापस होकर कितनी कठिन तपस्या करता हू। पंचाग्नि तपता हूं—एक पैरसे खडे रहकर एक हाथको आकाशमे उठाकर, भूख व प्यास सब कुछ चुपचाप सह रहा हूं, सूखे पत्ते खाकर पारणा करता हूं, फिर भी तुम मेरी तपस्याको ज्ञानहीन बताते हो !'

भगवानने फिर भी उसे मधुर शब्दोंमें समझाया। उससे कहा—"तापस, तुम क्रुद्ध मत हो। मैं तुम्हारी भलाईके वचन कह रहा हूं। तुम्हारा तपश्चरण इतना सब होनेपर भी हिंसामय है और तुम वृथा ही कायक्लेश भोग रहे हो। जरासी भी हिंसा महादुःखका कारण है, और तुम रोज ही हिंसाकांड रचते हो, इसका पाप फल तुम्हें जरूर ही चखना होगा। 'ज्ञानहीन तपस्या चांवलकी कणिकाके भूसेके ढेरके समान है। अग्निके प्रकोपसे जब वन जलने लगता है, तब लोग रास्ता न पाकर जिस प्रकार यहां वहां भागकर अन्तमे अग्निमें ही जलकर प्राण देदेते हैं, अज्ञानी तापस ठीक

इसी तरह कायक्लेश भोगकर संसारकी अग्निमें ही जलकर भस्म हो जाते हैं।'* सम्यक्श्रद्धान और सम्यग्ज्ञानके विना आचार निष्फल है। मैं तुम्हारी हितकी ही कह रहा हूं, इस हिंसामई कायक्लेशको छोडो और जिनेन्द्र भगवानके बताये हुये मुक्तिमार्गका रास्ता गृहण करो।"

हतभाग्यसे भगवानके इन हितमई वचनोंका भी असर उस तापसपर कुछ भी नहीं हुआ। दुर्जन कभी भी सदुपदेशको ग्रहण करते नही देखे गये है। भगवान जिनेन्द्र अपने राजमहलमें लौट आये और आनन्दमग्न हो कालक्षेपण करने लगे। वह तापसी काय-क्लेशके प्रभावसे मरकर संवर नामक भवनवासी देव हुआ।

---

(११)

धरणेन्द्र-पद्मावती-कृतज्ञता-ज्ञापन।

'पद्मावती च धरणश्च कृतोपकारं।
तत्कालतत्जातमविधं प्रणिधाय बुद्ध्वा॥
आनम्रमौलि रुचिरच्छविचर्चितांघ्रि।
मानर्चतुः सुरतरु प्रसवैर्जिनेंद्रम्॥ ८७॥'

—श्री पार्श्वचरित।

बनारसके वनमें आये हुये तापस महीपालकी कृपासे एक सर्पयुगलके प्राणान्त भगवान पार्श्वनाथके समागममें हुये थे, पूर्व परिच्छेदमें यह परिचय प्राप्त होचुका है। वस्तुत उन मरणासन्न सर्पयुगलको राजकुमार पार्श्वनाथने धर्मोपदेश सुनाकर सुगतिमें पधरा दिया। णमोकार मंत्रके श्रवण मात्रसे उनके परिणाम सम-

---

* 'भगवान पार्श्वनाथ' (सागर) पृ० २७।

तारूप होगये और वे समताभावोंसे प्राण विसर्जन करके इसी लोकमें भवनवासी देव हुये! अन्तिम समयमें धर्माराधन करनेका मधुर फल उनको तुरत ही मिल गया। वे पशु होकर भी उसके पुण्य प्रभावसे देवगतिको प्राप्त हुये।

जैनशास्त्रोंमें देवगति चार प्रकारकी बतलाई गई है। स्वर्ग-लोकमें विमानोंमें वसनेवाले देव कल्पवासी कहे जाते हैं; सूर्य, चन्द्र आदि ज्योतिषपटलमें रहनेवाले देव ज्योतिषी कहलाते हैं; भूलोकमें निवास करने वाले तथापि अधोलोकके पूर्वभागमें भी किंचित् वसनेवाले देव भवनवासी बतलाये गये हैं और व्यंतरदेव वे कहे गये हैं जो भूत, प्रेत आदि नामसे प्रसिद्ध हैं। इन देवोंके शरीर मनुष्योंसे विशिष्ट और सूक्ष्म तथापि विक्रिया (रूप बदलनेकी) शक्ति कर संयुक्त होते हैं। यह लोग मनुष्योंसे अधिक सुखी जीवन व्यतीत करते है। आजकल 'प्रेत-विद्या' (Spiritualism) के बल कतिपय सिद्धहस्त लोग इनमेंसे इतर जातिके—भवनवासी और व्यंतर देवोंको आह्वाहन करनेमें सफल-प्रयास होचुके हैं और उन्होंने जो अन्य देवो और देवलोकोंका हाल बतलाया है, उससे यह बात स्पष्ट होगई है कि सचमुच कोई देवगति भी संसारमे रुलते हुए जीवको सुख—दुःख भुगतनेके लिये हैं। नाग-नागिनीके जीव भवनवासी देवोंमें नागकुमार नामक देवोके इन्द्र और इन्द्राणी हुये थे। इसीलिये वे क्रमशः धरणेन्द्र और पद्मावतीके नामसे विख्यात हुये हैं।[1]

१—जैनशास्त्रोंमें हमें कहीं भी धरणेन्द्र और पद्मावतीके सम्बन्धमें कोई स्पष्ट विवेचन नहीं मिला हैं कि वह जातिवाचक अथवा व्यक्तिगत नाम हैं, परन्तु पुराण ग्रथोंमें हमें भगवान पार्श्वनाथसे पहले भी इनका

जब वे नाग और नागिनी धरणेन्द्र और पद्मावती होगये तो उसी समय अपने जन्मसिद्ध अवधिज्ञान (Clairovoyance) के बलसे उन्हें अपने उपकार करनेवाले राजकुमार पार्श्वनाथका ध्यान आया। 'वे शीघ्र ही बनारस आये और नम्रीभूत मुकटोंकी मनोहर कांतिसे जिनके चरण पूजित हैं ऐसे भगवान पार्श्वनाथकी उन्होंने पूजा की! बहुविधि पूजा करके और कृतज्ञता ज्ञापन करके वे अपने निवासस्थानको चले गये।'

जैन शास्त्रोंमें इनका निवासस्थान पाताल अथवा नागलोक बतलाया गया है।[1] यह स्थान जिस भूमंडलपर हम रहते हैं उस मध्यलोककी पृथ्वीके नीचे अवस्थित कहा गया है।[2] वहांपर इनके बड़े२ महल और भवन भोगोपभोगकी सुन्दर सामिग्रीसे पूर्ण हैं, यह शास्त्रोंमें लिखा हुआ है। प्रख्यात जैन ग्रन्थ श्री राजवार्तिकजीमें इसका उल्लेख इस तरह पर है:—

'खरपृथ्वीभागे उपर्यधश्चैकैकयोजनसहस्रं वर्जयित्वा शेषे

उल्लेख मिलता है। इससे हम इनके ये नाम जातिवाचक ही समझते हैं। उदाहरणके रूपमें 'सजयंत मुनि' की कथामें पद्मपुराण (पृ० ५६) में दूसरे तीर्थंकर श्री अजितनाथजीके समयमें 'धरणेन्द्र' के प्रकट होनेका उल्लेख है। 'पुण्पाजलि व्रतकथा' तथा 'पुण्याश्रव कथाकोष' (पृ० २६०) में ऐसे ही 'पद्मावती' का सहायक होना पार्श्वनाथजीसे पहले बतलाया गया है।

१—पद्मावतीचरित्र—'पाताले वसिता।'—श्री वृहत्पद्मावतीस्तोत्र—पातालाधिपति' श्लोक २२. हरिवंशपुराण पृष्ठ ३३—'मणि और सूर्यसमान देदीप्यमान पाताललोकमें असुरकुमार नागकुमार आदि दश प्रकारके भवनवासी देव यथायोग्य अपने२ स्थानोंपर रहते हैं।' २—तत्वार्थसूत्रम (S. B. J. Vol. II) पृ० ७९.

नवानां कुमाराणां भवनानि भवंति ॥ १० ॥ तद्यथा अस्माज्जम्बूद्वीपात्तिर्यगपाग सख्येयान् द्वीपसमुद्रानतीत्य धरणस्य नागराजस्य चतुश्चत्वारिशत् भवन शतसहस्राणि, षष्ठि; सामानिक सहस्राणि, त्रयस्त्रिंशत्त्रायस्त्रिशाः, तिस्र. परिषदः, सप्तानीकान् चत्वारो लोकपाला, षडग्रमहिष्य., षडात्मरक्षसहस्राण्याख्यायंते । .तान्येतानि नागकुमाराणां चतुरशीति भवनशतसहस्राणि । इत्यादि ।"[1]

खरपृथ्वीपर धरणेन्द्र अथवा नागराजके चवालीसलाख भवन मौजूद हैं। यह खरपृथ्वी इस जम्बूद्वीपके असंख्यात् द्वीपसमुद्रोको व्यतीत कर जानेपर मिलती है। इनके छै हजार सामानिक देव है, तेतीस त्रायस्त्रिंशत् देव हैं, तीन परिषद् (सभायें) हैं, सात सेनायें हैं, छै अग्रमहिषी (पट्टरानी) हैं और छैहजार आत्मरक्षक है। वास्तवमें जैनशास्त्रोमें प्रत्येक प्रकारके देवोके लिए दस दर्जे नियत किये हुये मिलते हैं: यथा –

१. इन्द्र–यह राजाकी भांति मुख्य और शासक होता है।

२. सामानिक–यह भी बलवान और शक्तिसम्पन्न होते है, परन्तु इन्द्रके समान नही। इन्हें पिता, गुरु आदि समझना चाहिये।

३. त्रायस्त्रिंशत्–यह मन्त्री, पुरोहित आदि कुल ३३ है। इसलिये इस नामसे उल्लेखमे आते है।

४. पारिषद–सभाके सदस्यगण अथवा दरबारी लोग।

५. आत्मरक्षक–यह शरीररक्षक होते हैं।

६. लोकपाल–प्रजाके सरक्षक, जैसे पुलिस।

७. अनीक–फौज।

१–राजवार्तिक सटीक पृष्ठ १५४

८. प्रकीर्णक–प्रजा।

९. अभियोग्य–वह देव जो अपनेको सवारी रूप घोड़ा आदि बना देते है।

१०. और किल्विषिक–सेवकदल।[1]

धरणेन्द्र नागकुमार देवोंका इन्द्र था और शेष जो उनके सामानिक आदि थे वह ऊपर बतलाये हैं। इनके विषयमें और विशेष वर्णन श्री अर्थप्रकाशिकाजीमें भवनवासी देवोंके साथ निम्नप्रकार है —

'भवननिमें वसें हैं तातें इनकू भवनवासी कहिये है। भवनवासीनिमें असुरकुमार, नागकुमार, विद्युत्कुमार, सुपर्णकुमार, अग्निकुमार, वातकुमार, स्तनितकुमार, उदधिकुमार, द्वीपकुमार, दिक्कुमार ऐसे दश विशेष सज्ञा नाम कर्मकरि कीनी जानना, बहुरि कोऊ श्वेताम्बरादिक कहैं जो देवनिकरि 'अस्यति' कहिए युद्ध करै प्रहार करैं ते असुर है ऐस कहैं सो नहीं। ए कहना तो देवोंको अवर्णवाद है, इसमे मिथ्यात्वका बंध होय है। ते सौधर्मादिकनिके देव महा प्रभावान है। इनके ऊपरि हीन देव मनकरिकैं हू प्रतिकूलपणा नहीं विचारे हैं। जो एता विशेष है। जो चमरेन्द्र अर वैरोचन ए इन्द्र अपनी ऐश्वर्य संपदा करि परिणाममें ऐसा मद करै हैं जो हमारै सौधर्म ईशान इन्द्रसौं कौनसी सपदा घट है, हम भी उनके तुल्य ही है ऐसी परिणामनिमें ईर्षा है सो अभिमानकी अधिकता ते ऐसी ईर्षा करै ही हैं। बहुरि सौधर्मादिक देवनिकै विशिष्ट शुभ कर्मका उदयकरि विभव है सो अरहंत पूजा तथा भोगानुभवन

[1]–तत्वार्थसूत्रम् अ० ४ सूत्र ४

इत्यादिकमैं लीन हैं। इनकै परकी दाराहरणादिक वैरका कारण ही नही तातैं असुर हैं। ते सुरनिकरि युद्ध नाहीं करैं हैं। बहुरि समस्त देवनिकै बालयौवनादिक अवस्था नहीं पलटै हैं। उपज्या जिस अवसरतैं मरण पर्यंत एकसी थिर अवस्था रहै हैं तातैं अवस्थाकरि कुमार नहीं हैं। इनिकै कुमार समान उद्धत वेष भूषा आभरण आयुध वस्त्र गमन वाहन राग क्रीड़न हैं तातैं कुमार कहिये है। अब इनका भवन कहां हैं सो कहै हैं। इस जम्बूद्वीपकी दक्षिण दिशामैं असंख्यात द्वीपसमुद्रनिकूं व्यतीत करि रत्नप्रभा पृथ्वीका पंकभाग विषै असुर कुमारनिका चमर नाम इन्द्रके चौंतीस लाख भवन हैं अर चौसठि हजार सामानिक देव हैं। तेतीस त्रायंस्त्रिशत् देव हैं। बहुरि सोम, यम, वरुण, कुवेर ए चार लोकपाल हैं। तीन सभा हैं तिनमैं पहली सभामैं अठाईस हजार देव हैं। मध्यकी सभामैं तीस हजार, बाह्य सभामैं बत्तीस हजार देव हैं। अर सात सेना हैं। महिषनिकी घोड़ेनिकी रथनिकी हाथीनिकी पयादनिकी गंधर्वनिकी नृत्यकारिणीनिकी। तिन एक एक सेनामें सात सात कक्षा हैं। पहली कक्षा चौसठि हजार देवनिकी दूजी यातैं दूणी, तीजी यातै दूणी ऐसैं सप्त जायगा दूणी दूणीकी इक्यासी लाख अठाइस हजार प्रमाण महिषनिकी सेना भई इनिकूं सप्तकर गुणिए तदि पांच कोटी अडसठी लाख छिनवै हजार देवसातौ सेनाके भए। ऐसै ही वैरोचनादिक इन्द्रकै सेनाका प्रमाण जानना। इनि सात प्रकारकी सेनामैं एक एक सेनाधिपति महत्तर देव हैं, नृत्यकारिणीकी सेनामैं महत्तरी देवी है। अर प्रकीर्णक देव नगर निवासी समान प्रीतिके पात्र असंख्यात हैं। बहुरि छप्पन हजार देवी हैं तिनमैं सोलह हजार वल्लभिका

अर पांच पट्ट देवी है। अर पट्टदेवी आठ हजार विक्रियां करै हैं। ऐसै ही वैरोचनादि इन्द्रनिकै समस्त दश भेदनिमैं भवन परिवारादिक त्रिलोकसारादि ग्रंथनितै जानना। बहुरि रत्नप्रभा पृथ्वीके पंक भाग विषै असुर कुमारनिके भवन है अर नागकुमारादिक नवजातिके भवन खरभाग विषै है। बहुरि कोई भवन जघन्य हैं ते तो संख्यात कोटी योजनके हें। उत्कृष्ट भवन असंख्यात योजनके विस्ताररूप है चौकोर है। तीनसौं योजनकी ऊचाई लिए है। भवनकी भूमिसूं छाती पर्यंत तीनसै योजनकी ऊचाई है अर एक एक भवनके मध्यविषै एक योजन ऊंचा पर्वत है, तिस पर्वत ऊपरि जिनेन्द्र मंदिर है ऐसै दश जातिके भवनवासीनिके सात कोटी बहत्तरी लाख भवन है। अर सात कोटी बहत्तरी लाख ही जिन चैत्यालय है। अष्ट गुणरूप ऋद्धिनिकरि सहित है। नाना मणिमय भूषणनिकरि जिनका दीप्ति संयुक्त अंग है। अर दश प्रकारके चैत्यवृक्ष जिन प्रतिमाकरि विराजित है। अपने तपके प्रभावकरि सुखरूप भोग भोगते तिष्ठै है। जिनके मल, मूत्र, रुधिर, चाम, हाड मास आदिककर वर्जित दिव्य देह है। अन्य नागकुमार सुपर्णकुमार द्वीपकुमार इन तीनकै आहारकी इच्छा साढा बारह दिन गए होय अर साढाबारा मुहर्त गए उछ्वास होय। देहकी उचाई (नागकुमारादि) नव जातिकेनिकै दश धनुष है।" (पृष्ट १७७–१८०)

साथ ही श्री हरिवंशपुराणजीमे इनके सम्बन्धमें इस प्रकार वर्णन मिलता है:—

'नरककी पहली रत्नप्रभा पृथ्वीके खरभाग, पंकभाग और बहुलभाग ये तीन भाग है, . पंकबहुलभागके दो भाग है, उनमे

प्रथम भागमें राक्षसोंके और दूसरेमे असुरकुमारोंके घर हैं और वे देदीप्यमान रत्नोंके बने हैं। खरभागमे अतिशय देदीप्यमान, स्वाभाविक प्रभाके धारक नागकुमार आदि नौ भवनवासियोके अनेक घर हैं।...नागकुमारोंके चौरासीलाख भवन है। .मणि और सूर्यसमान देदीप्यमान पाताल लोकमें असुरकुमार नागकुमार सुपर्णकुमार द्वीपकुमार उदधिकुमार स्तनितकुमार विद्युतकुमार दिकुमार अग्निकुमार और वायुकुमार ये दश प्रकारके देव यथायोग्य अपने अपने स्थानोंपर रहते है। (पृ० ३२-३३)

इस तरह यहांतकके वर्णनसे यह स्पष्ट है कि धरणेन्द्र और उसकी मुख्य पट्टरानी पद्मावती नागकुमार देवोंके इन्द्र-इन्द्राणी थे और वह पाताल लोकमें रहते थे। उनको नागवंशी राजा अथवा विद्याधर मनुष्य बतलाना कुछ ठीक नहीं जंचता, परन्तु यह बात विचारणीय है; इसलिये इसपर हम अगाड़ी प्रकाश डालेंगे। पाताललोक हमारी पृथ्वीके नीचे बतलाया गया है, परन्तु ऊपर जो राजवार्तिकजी व अर्थप्रकाशिकाजीके उद्धरण दिये गये हैं, उनसे यह प्रकट होता है कि जम्बूद्वीपके असंख्यात द्वीपसमुद्रोको उलंघ जानेपर दक्षिण दिशामें खरभाग पृथ्वी मिलती है जहां धरणेन्द्रके भवन हैं तथापि जम्बूद्वीप आदिकर संयुक्त मध्यलोक जैन शास्त्रोमें थालीके समान सम माना है।[1] इस अपेक्षा तो धरणेन्द्रका निवासस्थान हमारी पृथ्वीके नीचे प्रमाणित नही होता। परन्तु शास्त्रोंमें सर्वत्र पाताललोक पृथ्वीके नीचे बतलाया गया है।[2] ऐसी अवस्थामे उपरोक्त शास्त्रोके कथ-

१. चरचाशतक पृ० ११। २. हरिवंशपुराण पृ० ३२-३३।

नेको मान्यता देते हुये मध्यलोककी पृथ्वीको ढलवां मानना पड़ेगा, जिससे दक्षिण दिशाकी और नीचे ढलते हुये खरपृथ्वी अधोलोकमें आसक्ती है। जम्बूद्वीपकी नदियां जो आमने सामने इधर उधर वहतीं वतलाई गई हैं, उससे भी यही अनुमान होता है कि यह पृथ्वी बीचमें उठी हुई और किनारोंकी ओरको ढलवां है; परन्तु शास्त्रोंमें इस विषयका कोई स्पष्ट उल्लेख हमारे देखनेमें नहीं आया है। अतएव इस विषयमें कोई निश्चयात्मक बात नहीं कही जा सक्ती है। किन्तु इतना अवश्य है कि यह विषय विचारणीय है। जैन भौगोलिक मान्यताओंको स्वतंत्र रीतिसे अध्ययन करके प्रमाणित करनेकी आवश्यक्ता है। जैनशास्त्रोंमें जिस स्पष्टताके साथ भौगोलिक वर्णन दिया हुआ है; उसको देखते हुए उसमें शंका करनेको जी नहीं चाहता है, परन्तु जरूरत उसको सप्रमाण प्रकाशमें लानेकी है।

अस्तु, यह तो स्पष्ट ही है कि धरणेन्द्रका निवासस्थान पाताल अथवा नागलोक है। दि० जैन समाजमें उसकी मूर्ति पांच फण कर युक्त और चार हाथवाली वतलाई गई है। दो हाथोंमें उनके सर्प होते हैं, तथापि अन्य दो हाथ छातीसे लगे हुये रहते हैं, जिनमें एक खुला हुआ और एक मुट्ठी बंधा हुआ होता है। इनकी सवारी कछुवेकी वतलाई गई है।[१] इनकी अग्रमहिषी पद्मावती भी पांच फणवाले सर्पके छत्रसे युक्त चार हाथवाली मानी गई है। इनके दो हाथोंमें वज्रदंड और गदा होती है एवं अन्य दो हाथ उसी रूपमें होते हैं, जिस रूपमें धरणेन्द्रके वतलाये गए हैं।

१ इा अनिग्मस प्लेट नं० २७ ।

इनका आसन राजहंस बतलाया गया है।[1] किन्तु कहीं २ इनको तीन फणवाले छत्रसे मंडित कहा गया है, यथाः—

'फन तीन सुमनलीन तेरे शीस विराजै।
जिनराज तहाँ ध्यान धरे आप विराजै॥
फनिइदने फनिकी करी जिनंदपै छाया।
उपसर्ग वर्ग मेटिके आनन्द बढाया॥
जिनशासनी हंसासनी पद्मासनी माता।
भुज चारतै फल चारुदे पद्मावती माता[2]॥'

यहां हंसनीके साथ इनका उल्लेख पद्मासनी रूपमें भी किया हुआ है। अन्यत्र भी यही कहा गया है और साथ ही इनको पद्मवनमें निवसित बतलाया है· यथा—

'पद्मे **पद्मासनस्थे** व्यपनयदुरित देवि देवेन्द्र वद्ये ॥६॥'
'मातर्पद्मनि पद्मारागरुचिरे पद्मप्रसूतानने।
पद्मे **पद्मवन**स्थिते परिलसत्पद्माक्ष पद्मालये॥
पद्मामोदनि पद्मनाभिवरदे पद्मावती याहि मां।
पद्मोल्लासनि पद्मरागरुचिरे पद्मप्रसूनार्चिते[3] ॥ २७॥'

---

१. पूर्व प्रमाण और करकंडुचरितमें भी पद्मावती देवीको पाच फणवाला बतलाया है: यथा—

" समच्चिविपूजिविज्झायइजाव। समागयदेवय पोमावयताम।
समंथरलालसकोमल आणि-कुणतियकाविअउव्वियभाउ॥
विणिम्मियहव समिद्धिखणेण-सरीर इ रत्तिय सुद्धमणेण।
करेहिं चउहि करतिगुल-सयोछयभिंग समुद्द मुणालु॥
सकुंडलकण्णफुरतकवोल-सण्णउरकिंकिणि मेहलरोल।
फणोफण पंचसिरेणधरंति-पसणियणिम्मल कविकरति॥"
—संधि ७.

२. वृन्दावन विलास पृ० २१। ३ जैन गुटका नं० ४४ आरा-बृहद् पद्मावतीस्तोत्र-पृ० २७-२८।

जनसाधारणमें भी शायद इसी अपेक्षा पद्म (कमल) पुष्पोंसे पूर्ण नदी और सरोवरोको 'पद्मावती' और 'पद्मवन' नामसे परिचित करनेकी मर्यादा प्रचलित है।[1] मिश्रदेश, जहां कि भारतीयताका प्राचीन संबंध रहा है जैसे कि हम अगाड़ी देखेंगे, वहांकी नील (Nile) नदीको लोग इसी अपेक्षा 'पद्मावती' भी कहते हैं और उसीकी दल दलमें एक 'पद्मवन' भी है।[2] तथापि 'पद्म' देवीकी भी वहां मान्यता है।[3] धर्मका प्रकाश करनेके लिये—जिनशासनकी विजय वैजयंती फैलानेके लिये पद्मावतीदेवी बहु प्रसिद्ध है। एक आचार्यके निम्न शब्द[4] इसके साक्षी हैं:—

मग्नागम्भौनिमग्नां प्रगुणगुणयुता जीवराशिं च याहि।
श्रीमज्जिनेन्द्र धर्म्म प्रकव्यविमल देवि पद्मावती त्व ॥ २३ ॥
तागमानत्रिमर्दनी भगवती देवी च पद्मावती।
ताता सर्वगता त्वमेव नियत मायेति तुभ्य नम ॥ २५ ॥

सचमुच पद्मावतीदेवी धर्मानुरागकी उमगसे भरी हुई हैं। जिसने भी जब जिनधर्मकी प्रभावना करनेके भाव प्रगट किये वहां यह देवी उसकी सहायक हुई हैं। आचार्यवर्य श्री अकलंकदेवजी जिस समय राजा हिमशीतलके दरबारमें दक्षिण भारतके काचीपुर (कन्जीवरम्) नामक नगरमें तारादेवीके आश्रित बौद्धगुरुसे वाद करने २ विलम्ब उठे थे, उस समय इन्हीं देवीने प्रगट होकर उनकी सहायता की थी।[5] ऐसे ही पात्रकेशरी आचार्यको भी यही देवी सहायक हुई थीं।[6] एक जैन कवि इनके दिव्यरूपकी

१ ऐशियाटिक रिसर्चेज भाग ३ पृ० ५९। २. पूर्व पुस्तक पृ० ६४। ३ पूर्व पुस्तक पृ० ५९। ४ वृ० पद्मावतीस्तोत्र पृ० ३१। ५ अकलंक चरित्र देखो। ६ आराधना कथाकोष भाग १ पृ० ५।

प्रशंसा निम्न पद्योमें[1] करते हैं:—

"धर्मानुराग रंगसे उमग भरी हो. सध्या समान लाल रग अग धरी हो।
जिनसत शीलवत पै तुरत खड़ी हो, मनभावती दरसावती आनद बड़ी हो ॥५॥
चरणारविंदमें हैं नूपुरादि आभरण, कटिमें है सार मेखला प्रमोदकी करन।
उरमें है सुमनमाल सुमनमालकी माला, पटरग अग सगसों सोहे है विशाला ॥११
करकंजचारुभूषनसों भूरि भरा है, भवि-वृन्दको आनन्दकद पूरि करा है।
जुग भान कान कुंडलसों जोति धरा है, शिरशीसफूल फूलसों अतूल धरा है ॥१२
मुखचदको अमद देख चद हू थभा, छवि हेर हार होरहा रभाको अचभा।
दृग तीन सहित लाल तिलक भाल धरै है, विकसित मुखारविंद सौं आनद भरै है ॥"

श्वेतांबर जैनोंके शास्त्रोमें भी धरणेंद्र और पद्मावतीको भगवान् पार्श्वनाथके शासन देवता स्वीकार किया गया है।[2] यद्यपि कहींर धरणेन्द्रका नाम वहां 'पार्श्व' लिखा मिलता है।[3] परन्तु श्रीभावदेव-सूरिने धरणेन्द्र और पार्श्व शब्दोको समान रूपमें व्यवहृत किया है।[4]

१-वृन्दावनविलास पृ० २२-२३।

श्री वृहद्पद्मावतीस्तोत्रमें इनका उल्लेख इन श्लोकोंमें है—

विस्तीर्णे पद्मपीठे कमलदलश्रिते चित्तकामागगुप्ते।
लातागीं श्रीसमेते प्रहसितवदने नित्यहस्ते प्रशस्ते ॥
रक्ते रक्तोत्पलागी प्रबिबहसि सदा वाग्भवेकामराजे।
हंसारूढे त्रिनेत्रे भगवति वरदे रक्ष मा देवि पद्मे ॥ १० ॥
जिह्वाग्रे नाशिकाते हृदि मनशि दृशा कर्णयोर्नाभिपद्म।
स्कधे कंठे ललाटे शिरसि च भुजयो पृष्ट पार्श्वप्रदेशे ॥
सर्वागोंपाग सुव्यापयतिशय भुवनं दिव्यरूप सुरूप।
ध्यायति सर्वकाल प्रणवलयुत पार्श्वनायेति शब्दे ॥ १२ ॥

२-लाइफ एण्ड स्टोरीज ऑफ पार्श्वनाथ, फुटनोट-पृ० ११८ और पृ० १६७ और हार्टऑफ जैनिज्म पृ० ३१३। ३-भावदेवसूरिकृत श्रीपार्श्वचरित सर्ग ७ श्लो० ८२७ ..और हेमचन्द्राचार्यका अभिधान चिन्तामणि ४३। ४-श्रीपार्श्वचरित सर्ग ६ श्लोक १९०-१९४ यहा धरणेन्द्रका ही नाम लिखा है।

इसीलिये यह कहना होगा कि अन्ततः श्वेताम्बरोंके अनुसार भी धरणेन्द्र ही पार्श्वस्वामीके शासन देवता थे। प्रत्येक जैन तीर्थंकरके शासन रक्षक एक देव और देवी बतलाये गये है। उसहीके अनुसार श्रीपार्श्वनाथजीके शासन रक्षक धरणेन्द्र और पद्मावती थे। श्रीभावदेवसूरिने धरणेन्द्र-पार्श्वका रूप इस तरह चित्रित किया है। उसे एक कृष्णवर्णका चार भुजाओंवाला यक्ष बतलाया है। मूलनाम 'पार्श्व' लिखा है। तथा कहा है कि वह सर्पका छत्र लगाये रहता था। उसका मुंह हाथी जैसा था, उसके वाहन कछुवेका था, उसके हाथोमें सर्प थे और वह भगवान पार्श्वका भक्त बन गया था।[1] दिगम्बर जैनशास्त्रोंमें उसका मुख सुडौल और सुन्दर मनुष्यों जैसा बतलाया है। उसके साथ ही उन श्वेतांबराचार्यने पद्मावतीदेवीको स्वर्णवर्णकी, विशेष शक्तिशाली, कर्कुट सर्पके आसनवाली बतलाया है। उसे सीधे दो हाथोंमें क्रमशः कमल और दड एवं अन्य दो हाथोंमें एक फल और गदा लिये कहा गया है।[2] यहां भी दिगम्बर मान्यतासे जो अन्तर है वह प्रगट है; परन्तु मूलमें दोनों ही उसको यक्षयाक्षिनी और चार हाथवाले जिन शासनके रक्षक स्वीकार करते है। जिस समय भगवान पार्श्वनाथजीपर कमठके जीवने उपसर्ग किया था, जैसे कि अगाड़ी लिखा जायगा, उस समय धरणेन्द्र पद्मावतीने आकर उनकी सहायता की थी। इसीलिये वे जैन शासन रक्षकदेव माने गये हैं। श्रीआचार्य वादिराजसूरि यही लिखते हैं:—

'पद्मावती जिनमतस्थिति मुन्नयतीतेनैवतत्सदसि शासनदेवतासीत्।
तस्या· पतिस्तु गुणसग्रह दक्षचेता यक्षो वभूव जिनशासनरक्षणज्ञ. ॥४२॥'

१–पूर्व पुस्तक सर्ग ७ श्लो० ८२७...। २–पूर्व पुस्तक सर्ग ७ श्लो० ८२८

अर्थात्—'देवी पद्मावती जिनमतकी उन्नतिकी करनेवाली थी इसलिए वह शासनदेवता कही जाने लगी और गुणोंकी परीक्षामें चतुर जिनशासनकी रक्षाका भलेप्रकार जानकार धरणेन्द्र यक्ष कहा गया।'[१]

धरणेन्द्र और पद्मावती इस तरह यक्ष-यक्षिणी प्रमाणित होते है। दिगंबर और श्वेताम्बर दोनों ही सम्प्रदायोंके शास्त्र इस बातपर एकमत है किन्तु इस हालतमे यह विरोध आकर अगाड़ी उपस्थित होता है कि यक्ष व्यन्तर जातिके देवोंका एक भेद है और धरणेन्द्र पद्मावतीको शास्त्रोंमे नागकुमारोंका इन्द्र इन्द्राणी बतलाया है, जो भवनवासी देवोंमेंसे एक है। फिर श्वेताम्बर शास्त्रकारोंने जो धरणेन्द्रको पातालका राजा और श्रीपार्श्वनाथजीका शासनदेवता पार्श्व यक्ष बतलाया है उसका भी कुछ कारण होना चाहिये। यद्यपि अन्ततः वहां भी धरणेन्द्र और पार्श्व यक्ष समानरूपमें व्यवहृत हुये मिलते हैं। इन बातोंको देखते हुए क्या यह संभव नहीं है कि नागवंशी राजाओंका विशेष सम्पर्क भगवान पार्श्वनाथजीसे रहा हो? नागवंशी राजा और नागकुमारोंके अधिपति धरणेन्द्रको एक ही मानकर किसी तरह उक्त प्रकार भ्रमात्मक उल्लेख होगया हो तो कुछ आश्चर्य नहीं, क्योंकि पुरातनकालमे इतिहासकी ओर आचार्योंका बहुत कम ध्यान था। तिसपर यह प्रगट ही है कि भगवान पार्श्वनाथसे पहले भारतपर नागवंशी राजाओंने

१–श्रीपार्श्वनाथ चरित्र (कलकत्ता) पृ० ४१५ श्री बृहद् पद्मावती स्तोत्रमें भी यही लिखा है यथा—

'पातालाधिपति प्रिया प्रणयनी चिंतामणि प्राणिना।
श्री मत्पार्श्व जिनेश शासनसुरी पद्मावती देवता॥ २२॥

आक्रमण किया था और वे यहा विविध स्थानोंपर बसने भी लगे थे।[1] श्री पद्मपुराणजीमें सीताजीके स्वयम्बरमें आये हुये राजाओंमें नागवंशी राजाका भी उल्लेख किया गया है।[2] साथ ही श्री नागकुमार चरितमें भी इसी बातका उल्लेख है।[3] वहा नागवापीमें जो नागकुमारका गिरना और नागोंकी उनकी रक्षा करना बतलाया है उसका भाव नागवंशियोंकी पल्लीमें कुमारका बेधड़क चला जाना और नागवंशियोंका विदेशसे आया हुआ बतलाना ही इष्ट है। जैन पद्मपुराणसे यह प्रगट ही है कि नागकुमार नामके विद्याधर लोग भी यहां मौजूद थे। फिर भारतीय कथाग्रन्थोंमें इन नागवंशी राजाओंका उल्लेख जहां किया गया है वहां उनको पशुनाग ख्याल करके उनका स्थान जल या वापी बतलाया गया है।[4] इसका मतलब यही है कि वह विदेशसे आई हुई विजातीय संप्रदाय थी और समुद्रपार बसती थी। उस कालमें उनने भारतके विविध स्थानोंमें अपने अड्डे जमा लिये थे· यहा तककि वे मगध और हिमालयकी तराई तकमें पहुंच गए थे। नागकुमार जिस नागवापीमें गिरे थे वह मगधमें ही थी[5] तथापि नेपालके पुरातन इतिहासमें इस बातका पूरा उल्लेख है कि वहां कई वार नाग लोग आकर बस गये थे।[6] हिमालयको वे लोग नागहृद कहते हैं।[7] वहां नागेन्द्रका वास बतलाते हैं।[8] जैन शास्त्रोंमें भी चक्रवर्ती सगरके सौ पुत्रोंका कैलाश पर्वतपर पहुंचकर खाई खोदनेपर नागेन्द्रद्वारा मारे जानेका उल्लेख

१–राजपूतानेका इतिहास भाग १ पृ० २३० । २–पद्मपुराण पृ० ४०२। ३–नागकुमार चरित पृ० १७ । ४–इन्डियन हिस्ट्री क्वा० भाग ३ पृ० ५२१। ५–नागकुमार चरित पृ० १७ । ६–दी हिस्ट्री ऑफ नेपाल पृ० ७०–१७४। ७–पूर्व पुस्तक पृ० ७७। ८–श्री हरिवंशपुराण पृ० १६९।

मिलता है।[1] जिससे भी वहां नागेन्द्रका वास प्रमाणित होता है! परन्तु क्या यह नागेन्द्र नागकुमारोंके इन्द्र धरणेन्द्र ही थे, यह मानना जरा कठिन है, क्योंकि धरणेन्द्र जिनशासनका परमभक्त बतलाया गया है। अतएव जब सम्राट् सगरके पुत्र श्री कैलाशपरके भरतराजाके बनवाये हुये चैत्यालयोकी रक्षाके निमित्त खाई खोद रहे थे तो फिर भला एक शासनभक्त देव किस तरह उनपर कोप कर सक्ता था? और यहातककि उनके प्राणो—सम्यग्दृष्टियोके प्राणों तकको अपहरण कर लेता! फिर उनका उल्लेख वहां केवल नागेन्द्र अथवा नागराजके रूपमे है जिससे धरणेन्द्रका ही भाव लगाना जरा कठिन है। इस तरह यह बिल्कुल सभव है कि वह नागराज नागवंशी विद्याधरोका राजा हो, जैसे कि उसे नेपालके इतिहासमें भी बतलाया गया है। नेपालके इतिहासमे भी नागोंका सम्बन्ध बहुत ही प्राचीनकाल अर्थात हिन्दुओके त्रेता और सतयुगसे बतलाया है। त्रेतायुगमे एक 'सत्व' बुद्धका आगमन वहांपर हुआ था। उसने नागहृदको सुखा दिया, जिससे लाखो नाग निकलकर भागे। आखिर सत्वने उनके राजा करकोटक नागको रहनेको कहा और उनके रहनेको एक बडा तालाब बतला दिया एवं उनको घनेन्द्र बना दिया। नेपालकी इस कथाका भाव यही है कि वहांपर नागराजाओंका प्राबल्य था, जिनको सत्व नामक व्यक्तिने परास्त कर दिया। बहुतेरे नाग तो अपने देशको भाग गये; परन्तु प्राचीन क्षत्रियोकी भांति सत्वने उनके राजाको वहा रहने दिया और उसे अर्थ-सचिव बना दिया। करकोटक नाग कैस्पियन समुद्रके किनारे

१—दी हिस्ट्री ऑफ नेपाल पृ० ७९।

बसनेवाली एक जाति थी, यह प्रमाणित हो गया है।[1] कैस्पियन समुद्रके निकट बसनेवाली जातियोका पूर्ण उल्लेख हम अगाड़ी करेंगे। यहांपर इस कथासे भी यह स्पष्ट है कि जिन नागोंको पानीमें रहनेवाला बतलाया गया है वे दरअसल मनुष्य थे। जैन शास्त्रोंमें तो उनको ऐसा ही बताया है जैसे कि पद्मपुराणजीके उपरोक्त उल्लेखसे प्रकट है।

नेपालके इतिहासकी एक अन्य कथासे यह बिल्कुल स्पष्ट हो जाता है कि यह नागलोग वास्तवमें मनुष्य ही थे। इस कथामें कहा गया है कि नेपालके राजा हरिसिंहदेवका एक वैद्य एक दिन तालाबके किनारे स्नान कर रहा था कि इतनेमें ब्राह्मणका रूप धरकर नागोंके राजा करकोटक वहां आये और उन वैद्य महाशयसे साथ चलनेकी प्रार्थना करने लगे। कहने लगे कि 'वैद्यराज, हमारी स्त्रीकी आखें दुख रहीं हैं; आप चलकर देख लीजिये।' वैद्य महाशय ज्यों त्यों कर राजी हुये। वह दोनों दक्षिण पश्चिमकी ओर एक तालाबके किनारे आये। नागराजने वहांपर ब्राह्मणकी आखें बंद करके जो डुबकी लगाई तो दोनोंके दोनों पातालपुरी नागराजके दरबारमें हाजिर हुये। नागराज बड़ी शानसे आसनपर बैठे हुए थे, चमर ढोले जारहे थे। उनने अपनी नागरानीको वैद्यराजको दिखाया। वैद्य महाशयने उसकी आंखोंका इलाज किया और वह अच्छी हो गई। नागराजने प्रसन्न होकर वैद्य महाशयको भेंट दी और उन्हें सादर विदा किया।[2] इस अपेक्षा यह स्पष्ट है

१-दी इन्डियन हिस्टॉरकल क्वार्टरली भाग ६ पृ० ४५८। २-दी हिस्ट्री ऑफ नेपाल पृ० १८८।

कि यह नागलोग मनुष्य ही थे।

नागवंशी राजाओंका इतिहास अभी प्रायः अंधकारमें है; परन्तु उसपर अब प्रकाश पड़ने लगा है। अबतकके प्रकाशसे यह ज्ञात होता है कि इनका अस्तित्व महाभारत युद्धके पहलेसे यहां था। जैन पद्मपुराणके पूर्वोलिखित उद्धरणसे भी यही प्रकट है। सचमुच महाभारतके समय अनेक नागवशी राजा यहां विद्यमान थे। तक्षक नागद्वारा परीक्षितका काटा जाना और जन्मेजयका सर्पसत्रमें हजारों नागोंके होमनेके हिन्दूरूपक इसी बातके द्योतक है कि नागवंशी तक्षकके हाथसे परीक्षित मारा गया था और उसके पुत्र जन्मेजयने अपने पिताका वैर चुकानेके लिए हजारो नागोंको मार डाला। तक्षक, कर्कोटक, धनंजय, मणिनाग आदि इस वंशके प्रसिद्ध राजा थे। विष्णुपुराणमें ९ नागवंशी राजाओंका पद्मावती (पेहोआ, ग्वालियर राज्यमे), कांतिपुरी और मथुरामें राज्य करना लिखा है। वायु और ब्रह्मांडपुराण नागवंशी नव राजाओंका चंपापुरीमें और सातका मथुरामें होना बतलाते हैं। क्षत्री और ब्राह्मण लोगोंने इनके साथ विवाह संबंध भी किए थे। इनकी कई शाखायें थीं; जिनमें की एक टाक या टाक शाखाओंका राज्य वि० सं० की १४ वीं और १९ वी शताब्दितक यमुनाके तटपर काष्ठा या काठा नगरमें था। मध्यप्रदेशके चक्रकोट्यमें वि० सं० की ११ वीं से १४ वीं और कवर्धाने १० वी से १४ वीं शताब्दि-तक नागवंशियोंका अधिकार रहा था। इनकी सिह शाखाका राज्य दक्षिणमें रहा था। निजामके येलवुर्ग स्थानमे इनका राज्य १०वींसे १३वीं शताब्दितक विद्यमान था। राजपूतानेमें भी नागलोगोंका

अधिकार रहा था।[1] उद्यान प्रान्त (पंजाब) में भी नागवंशियोंका राज्य था। वहां एक अपलाल नामक नागराजाका अस्तित्व बतलाया गया है।[2] काश्मीरके राजा दुर्लभ (सन ६२९–६६१) भी नागवंशी थे।[3] अहिच्छत्र (बरेली) में भी बुद्धके समय नागराजाओंका राज्य था।[4] उसी समय बौद्ध गयामें भी एक नागराजाका अस्तित्व बतलाया गया है।[5] रामगाम (मध्यप्रांत)में भी इन राजाओंका राज्य होना एक समय प्रकट होता है।[6] फाहियान और ह्युनत्सांग, इन दोनों ही चीनी यात्रियोंने यहांपर नागराजाओंका होना लिखा है, जो बुद्धके स्तूपकी रक्षा करते थे। ह्युनत्सांग लिखता है कि वे दिनमें मनुष्यरूपमें दिखाई पड़ते थे।[7] इस उल्लेखसे स्पष्ट है कि उस समय भी लोगोंमें इनके वस्तुतः नाग होनेका भ्रम घुसा हुआ था, यद्यपि वस्तुत यह नागलोग मनुष्य ही थे, जैसे कि ह्युनत्सांगके उक्त उल्लेख और जैन शास्त्रोंके कथनसे प्रकट है। लङ्काके बौद्धोंका विश्वास है कि गंगाके मुहाने और लंकाके मध्यके एक देशमें नागलोगोंका राज्य था।[8] दक्षिण भारतके मजेरिका स्थानमें भी नागोंका निवास था।[9] तामिलके प्राचीन शास्त्रकारोंने तामिलके निवासियोंको तीन भागोंमें विभक्त किया है और उनमें नागलोग भी हैं। पल्लववंशके प्राचीन राजाओंका विवाह सम्बन्ध नागकुमारियोंसे हुआ था। प्राचीन चोलराजाओंका भी इनसे संबंध था। तामिलदेशका एक भाग नागवंशकी अपेक्षा नागनाडु कहलाता

१–राजपूतानेका इतिहास प्रथम भाग पृ० २३०–२३२। २–कनिंघम, एनशियेन्ट ऑफ इन्डिया पृ० ९५। ३–पूर्व पुस्तक पृ० १०७। ४–पूर्व पुस्तक पृ० ४१२। ५–पूर्व० पृ० ४१४। ६–पूर्व० ४८३। ७–पूर्व० पृ० ४८४। ८–पूर्व० पृ० ३११। ९–पूर्व० पृ० ३१५।

था। सममुच दक्षिणमे और नागपुरके आसपास नागवंशके अधिपति अनेक थे। उनके विवाह सबंध शतवाहनोसे भी हुये थे।" (इन्डि० हिस्ट्री० क्वा० भाग ३ पृ० ५१८-५२०) मध्यप्रान्तके भोगवती आदिके नागराजाओकी पताकामे सर्पका चिन्ह था। (इपी० इन्डिका १०।२५) लकाके उत्तर-पश्चिम भागमे भी नागोका वास था। इसी कारण लंकाका नाम 'नागद्वीप' भी पड़ा था। यहापर ईसासे पूर्व ६ठी शताब्दिसे ईसाकी तीसरी शताब्दि तक नागवंशका राज्य रहा था, किंतु लोगोंकी धारणा है कि ईसासे पूर्व ६ठी शताब्दिके भी पहलेसे वहां नागोका राज्य था। (Ancient Jaffna pp 33-44) म० बुद्ध जिससमय लंका गये थे, उस समय उनको वहां एक नागराजा ही मिले थे। तामिलके प्रसिद्ध काव्य 'शीलप्पत्तिकारम्' मे दक्षिणके नागराजाओकी राजधानी कावेरीपट्टन बतलाई गई है।[1] जैन कथाग्रन्थोमे भी इस कावेरीपट्टनका बहुत उल्लेख हुआ है। इसतरह ऐतिहासिक रूपमें नागलोगोका अस्तित्व प्राय समग्र भारतवर्षमे ही मिलता है।

जैनधर्मसे नागवंशका घनिष्ट सम्बन्ध प्रारम्भसे ही प्रमाणित होता है। भगवान पार्श्वनाथकी इनमें विशेष मान्यता थी, यह हमारे उपरोक्त कथनसे सिद्ध है। यदि स्वयं भगवान पार्श्वनाथजीका सम्पर्क इस कुलसे रहा हो तो कोई आश्चर्य नहीं क्योकि शास्त्रोंमे इन भगवानको उग्रवंशी और काश्यपगोत्री लिखा है। उधर नागलोकको विविध वंशोमे एक 'उरगस' नामक मिलता है, जो उग्रका प्राकृत रूप होसक्ता है। हिन्दीमे उग्रका प्रयोग 'उरग' रूपमें

१-इन्डियन हिस्ट्री० क्वा० भाग ३ पृ० ५२७

हुआ मिलता भी है और यह नागलोकवासी अपने आदि पुरुष 'काश्यप' बतलाते ही हैं। इस अपेक्षा यदि श्रीपार्श्वनाथजीके कुलका सम्बन्ध इन नागलोकोंसे होना संभव है परंतु इसके साथ ही जैन शास्त्रोंमें इन्हें स्पष्टतः इक्ष्वाकुवंशी लिखा है, यह भी हमें भूल न जाना चाहिये। अतः इतना तो स्पष्ट ही है कि नागवंशका सम्बन्ध अवश्य ही भगवान पार्श्वनाथजीसे किसी न किसी रूपमें था। तथापि मथुराके कंकाली टीलेसे जो एक प्राचीन जैन कीर्तियां मिली हैं, उनमें कुशानसंवत् ९९ (ईसाकी दूसरी शताब्दि) का एक आयागपट मिला है। इस आयागपटमें एक स्तूप भी अंकित है जिसमें कई तीर्थंकरोंके साथ एक पार्श्वनाथस्वामी भी हैं। इनसे नीचेकी ओर चार स्त्रियां खड़ी हैं, जिनमें एक नागकन्या है; क्योंकि उसके सिरपर नागफण है। कदाचित् यह उपदेश सुनने आई हुई दिखाई गई हैं।[1] इससे भी नागलोगोंका मनुष्य और उनका जैनधर्मका भक्त होना स्पष्ट प्रकट है। सिंध-प्रान्तके हरप्पा और मोहिनजोडेरो नामक प्राचीन स्थानोंमें जो खुदाई हालमें हुई है, उसमें चार-पांच हजार वर्ष ईसासे पूर्वकी चीजें मिली हैं। इनमेंके स्तूप आदिका सम्बन्ध अवश्य ही जैन धर्मसे प्रकट होता है। इन्हींमें एक मुद्रा भी है, जिसपर एक पद्मासन मूर्तिकी उपासना नाग छत्रको धारण किये हुए दो नाग-लोग कर रहे हैं। (देखो प्रस्तावना) इस मुद्रासे नागवंशका जैनधर्म प्रेम भगवान पार्श्वनाथके बहुत पहलेसे प्रमाणित होता है। इसके अतिरिक्त जिस समय श्री कृष्णजीके पुत्र प्रद्युम्नकुमार विद्याधर-

१-दी जैन स्तूप एण्ड अदर एन्टीक्टीज ऑफ मथुरा प्लेट नं. १२।

पुत्रोंसे सताये जाकर वाहर निकले थे तो वहीं निकटके एक सह-स्रवक्र नागने उनका सन्मान किया था तथापि वही अर्जुन वृक्षपरके पांच फणवाले नागपतिने उनको पाच वाण आदि देकर सम्मानित किया था।[1] इस तरह यह नाग भी विद्याधरोके देशके थे और जिनेन्द्रभक्त प्रद्युम्नका जो इन्होने मान किया था, उससे उनकी जैनधर्मसे सहानुभूति प्रकट होती है। 'गरुड़ पंचमीव्रत कथा'में भी नागलोगोंका संवन्ध वर्णित है। उसमें मालव देशके चिच नामक ग्रामके नागगौड़की स्त्री कमलावतीके पूछनेपर एक मुनिराजने वहांकी नागवांवीमें श्री नेमिनाथ और पार्श्वनाथ स्वामीकी प्रतिमायें वतलाई थीं।[2] यद्यपि यहां नागवांवी एक सर्पकी वांवी वतलाई गई है; परन्तु पूर्व कथाकारोंके वर्णनक्रमको ध्यानमें रखते हुए इसका अर्थ नाग लोगोका निवास कहा जासक्ता है। अस्तु; इस कथासे भी नागलोगोंका जिनधर्मी होना और भगवान नेमिनाथ व पार्श्वनाथ-जीसे उनका विशेष संपर्क होना प्रकट होता है। श्री मल्लषेणाचार्यके 'नागकुमार चरित'में भी नागलोगोका सम्यक्त्वी नागकुमारकी रक्षा करनेका उल्लेख है, यह हम पहले देख चुके हैं।[3] आधुनिक विद्वान् भी इनको नागवंशी स्वीकार करते हैं। इसमें ध्यान देने योग्य वात यह है कि और सब राजाओंने तो नागकुमारके साथ अपनी राजकुमारियोंका विवाह कर दिया था, किंतु पल्लववंशी राजाओंने नही किया था। उनके ऐसा न करनेका कारण यही कहा था कि स्वयं उनका विवाह नागकुमारियोसे हुआ था। अतः

१–उत्तरपुराण पृष्ठ ५४७–५४८। २–जैनव्रतकथासंग्रह पृष्ठ १४२–१४४। ३–नागकुमारचरित पृष्ठ १७

नागकुमारका नागवंशी होना प्रकट है। हिन्दुओंके विष्णुपुराणमें नौ नागराजाओंमें भी एकका नाम नागकुमार है (I H Q II. 189) 'द्वादशीव्रत कथा'से भी यही बात प्रमाणित है। वहां कहा गया है कि मालवा देशके पद्मावतीनगरका राजा नरब्रह्मा था, जिसकी विजयावती रानीसे शीलावती नामक कुबडी कन्या थी। श्रमणोत्तम मुनिराजसे पूर्वभव सुनकर उसने द्वादशीव्रत किया था। उसके दो पुत्र अर्ककेतु और चन्द्रकेतु थे। अर्ककेतु प्रख्यात् राजा बतलाया गया है, अन्तमें इन सबके दीक्षा लेनेका जिकर है।[1] इस कथाके व्यक्ति नागलोग ही मालूम होते है, क्योंकि पद्मावतीनगर नागराजाओंकी राजधानी था।[2] यहां गणपतिनागके सिक्के मिले है।[3] साथ ही कतिपय 'वर्मांतनामवाले' राजाओंके तीन शिलालेख ग्वालियर रियासतसे मिले है।[4] इन राजाओमे एक राजा नरवर्मा नामक भी है, यह सिंहवर्माका पुत्र है, परन्तु अभीतक इनके वंशादिके विषयमें कुछ पता नहीं चला है। उपरोक्त कथाके राजा नरब्रह्मा और इन नरवर्माके नाममे बिल्कुल सादृश्यता है तथापि इनकी राजधानी जो पद्मावती बताई है, वह भी ग्वालियर रियासतमें है। इसलिये इनका एक व्यक्ति होना बहुतकरके ठीक है। किन्तु इनके नागवंशी होनेके लिए सिवाय इसके और प्रमाण नहीं है कि इनकी राज्यधानी पद्मावतीमें उस समय नागराजाओंका ही राज्य था और इतिहाससे इनके वंशादिका पता चलता नहीं, इस

१–जैनव्रतकथासंग्रह पृष्ठ १८८–१९१। २–राजपूतानेका इतिहास प्रथम भाग फुटनोट पृष्ठ ११७ और पृ० २३०। ३–सत्यभारत, मध्यप्रांतके प्राचीन जैन स्मारक पृ० ६९। ४–राजपूतानेका इतिहास पृ० १२५–१२६।

लिये इन्हें नागवंशी कहना अनुचित न होगा। नागवशी राजाओंने जो अपनी राजधानीका नाम पद्मावती रक्खा था, वह भगवान पार्श्वनाथजीकी शासनदेवी पद्मावतीकी स्मृति दिलानेवाला प्रगट होता है। यह भी नागवंशियोके जैन धर्मप्रेमी होनेमें एक संकेत कहा जासक्ता है। भोगवतीके नागराजाओंकी ध्वजाका सर्प चिन्ह भी इसीका द्योतक है; क्योंकि भगवान पार्श्वनाथका लक्षण सर्प था। साथ ही वीशनगर (जैन शिलालेखोंका भद्दिलनगर) से भी नाग राजाओके सिक्के मिले हैं।[1] और यह स्थान भगवान शीतलनाथजीका जन्मस्थान था। यहां भी नागराजाओंका संबंध एक पूज्य जैन स्थानसे प्रकट होता है। साथ ही अहिच्छत्रके राजा वसुपाल जैन धर्मानुयायी थे यह बात आराधनाकथाकोषकी एक कथासे प्रमाणित है।[2] और अहिच्छत्रमें नागराजाओंका भी राज्य था, संभव है, राजा वसुपाल भी नागवशी राजा हों। किन्तु शिमोगा तालुकाके कल्लूरगुड्ड ग्रामसे प्राप्त सन् ११२२ के शिलालेखमें गंगवंशकी उत्पत्तिका जिकर करते हुये, उसी वंशके एक श्रीदत्त नामक राजाको अहिच्छत्र पर राज्य करते लिखा है तथा यह भी उल्लेख है कि जब श्री पार्श्वनाथजीको केवलज्ञान हुआ, तब इस राजाने उनकी पूजा की थी; जिससे इन्द्रने प्रसन्न हो पांच आभूषण श्रीदत्तको दिए थे और अहिच्छत्रका नाम विजयपुर भी प्रसिद्ध हुआ था। (देखो मद्रास व मैसूर जैन स्मार्क पृ० २९७) अतः उपरोक्त कथाके राजा वसुपाल उपरान्तके—संभवतः श्री महावीर स्वामीके समयमें हुए प्रकट होते हैं, क्योंकि भगवान पार्श्वनाथजीसे

१–म० भा०के प्रा० जैनस्मारक पृ० ६२। २–भाग २ पृ० १०५।

उनका कोई प्रकट सम्पर्क विदित नहीं होता। किंतु उपरोक्त श्रीदत्त शिलालेखमे स्पष्टतः इक्ष्वाकूवशी लिखे गये है समव है कि अपने प्राचीन सम्बन्धको प्रकट करनेके लिए ऐसा लिखा हो: क्योकि यह तो हमें माल्टम ही है कि मूलमें नागवंशका निकास इक्ष्वाकूवश और काश्यपगोत्रसे ही है। अस्तु; उपरान्त करकंडु महाराजके चरित्रमे दक्षिण भारतकी एक वापीमेसे भगवान पार्श्वनाथकी प्रतिविम्व एक नागकुमारकी सहायतासे मिलनेका उल्लेख है।[1] दक्षिणभारतमे नागराजाओंका राज्य था और खासकर उस देशमें जो गंगाके मुहाने और लंकाके वीचमें था यह प्रकट है।[2] इसी देशमें दंतिपुर अथवा दंतपुरको अवस्थित वतलाया गया है।[3] और उपरोक्त वापी इसी दंतपुरके निकटमें थी। अतएव इस कथामें जिस नागकुमारका उल्लेख है वह देव न होकर मनुष्य ही होगा। इससे भी वहाके नागवंशियोंका जैनधर्मप्रेमी होना प्रकट है। 'नागदत्त मुनिकी कथा'से भी नागवंशियोंका सम्वंध प्रगट होता है। वहां नागदत्तको उज्जयिनीके राजा नागधर्मकी प्रिया नागदत्ताका पुत्र लिखा है और कहा गया है कि वह सर्पोंके साथ क्रीड़ा करनेमे वड़ा सिद्ध हस्त था। उनके पूर्वभवके एक मित्रने गारुड़का भेष रखकर उन्हें संवोधा था और वे मुनि होगये थे।[4] वहां राजा, रानी और उनके पुत्रके नाम प्राय नाग–वाची है और जैसे कि हम एक पूर्व परिच्छेदमे देख आये हैं कि प्राचीनकालमें नामोल्लेखके नियमोंमे एक नियम कुल व वंश अपेक्षा प्रख्याति पानेका भी था। उसी अनुसार नागवंशी

१–आ० कथा० भाग ३ पृ० २८०। २–कनिंघम ए०जा० इन्डिया पृ० ६११। ३–पूर्व० पृ० ५९२। ४–आराधनाकथाकोष भाग १ पृ० १४८।

होनेके कारण राजा नागधर्मके नामसे प्रगट होगा और उसकी रानी भी अपने पितृपक्षकी अपेक्षा नागदत्ता तथैव पुत्र अपनी माताके अनुरूप नागदत्तके नामसे प्रख्यात् होना चाहिये। इसप्रकारके नामोल्लेखके कई ऐतिहासिक उदाहरण मिलते हैं। राजा श्रेणिककी रानी चेलनी अपने पितृपक्षकी अपेक्षा 'वैदेही' अथवा 'विदेहदत्ता' रूपमे और उनका पुत्र कुणिक अजातशत्रु अपनी माताके कारण 'विदेहपुत्र' के नामसे प्रगट हुये थे।[1] आराधना कथाकोषकी एक अन्य कथामे पाटिलपुत्रके एक जिनदत्त नामक सेठकी स्त्रीका नाम जिनदासी और उसके पुत्रका नाम जिनदास मिलता है।[2] यहा भी उक्त प्रकार नामोल्लेख होना स्पष्ट है। उज्जैनके आसपास दशपुर और पद्मावतीमे नागवंशियोका राज्य था यह प्रकट ही है। अस्तु, उक्त कथाके पात्र भी वहुत करके नागवंशी ही थे और नागदत्त जैन मुनि हुए, इससे उनका जैनधर्मी होना स्पष्टतः प्रकट है। उपरांत ऐतिहासिक कालके नागवंशी राजा जैन स्वीकार किये गये हैं।[3] सेन्द्रक नागवंशी राजा भी जैन थे।[4] इसप्रकार नागवंशी राजाओका जैनधर्मसे प्राचीन सम्बन्ध प्रकट है। और यह संभव है कि भगवान पार्श्वनाथका उपासक कोई परमभक्त नागवशी राजा हो, जो शासनदेव नागेन्द्र धरणेन्द्रके साथ भुला दिया गया हो। अहिच्छत्र' से जो भगवान पार्श्वनाथका सम्बन्ध बतलाया जाता है उससे भी यही अनुमान ठीक जंचता है, क्योकि यह तो स्पष्ट ही है कि भगवान पार्श्वनाथका केवलज्ञान स्थान प्रत्येक जैनशास्त्रमें बनारसके

१-हमारा भगवानमहावीर पृ० १४३। २-आ० कथा० भाग ३ पृ० १६१। ३-४-स्टडीज इन साउथ इन्डियन जैनीज्म भाग २ पृ० ७४।

निकट अवस्थित उनका दीक्षावन बतलाया गया है। इसलिये अहिच्छत्रमें जिस नागराजने भगवानकी विनय की थी और उनपर सर्प-फण कर युक्त छत्र लगाया था वह एक नागवंशी राजा ही होना चाहिये। नागवंशी लोगोंके सर्प फण कर युक्त छत्र शीशपर रहता था वह पूर्वोल्लिखित मथुराके आयागपटमें की नागकन्याके उल्लेखसे स्पष्ट है एवं वहींकी एक अन्य जैन मूर्तिमें स्वयं एक नाग राजाका चित्र है और उसके शीशपर भी नागफणका छत्र है। तिसपर चीन यात्री ह्युनत्सांगका कथन है कि बौद्धोंका भी अहिच्छत्रसे सम्बन्ध था। वहां वह एक 'नागहृद' बतलाता है जिसके निकटसे बुद्धने सात दिन तक एक नाग राजाको उपदेश दिया था। राजा अशोकने यहीं एक स्तूप बनवा दिया था।[1] आजकल वहां केवल स्तूपका पता चलता है जो 'छत्र' नामसे प्रख्यात है। इससे कनिंघम सा० यह अनुमान लगाते हैं कि नाग राजाके बौद्ध हो जानेपर उसने बुद्धपर नाग फणका छत्र लगाया होगा, जिसके ही कारण यह स्थान 'अहिच्छत्र' के नामसे विख्यात होगया।[2] परन्तु बात दर असल यूं नहीं है, क्योंकि जैनशास्त्रोंके कथनसे हमें पता चलता है कि वह स्थान म० बुद्धके पहिलेसे अहिच्छत्र कहलाने लगा था। हतभाग्यसे कनिंघम सा०को जैनधर्मके बारेमें कुछ भी परिचय प्राप्त नहीं था, इसी कारण वह अहिच्छत्रका जैन सम्बंध प्रगट न कर सके। अतएव ह्युनत्सांगके उक्त उल्लेखसे यह तो स्पष्ट ही है कि अहिच्छत्रमें नाग राजाओंका राज्य म० बुद्धके समयमें

१-कनिंघम, एनशियेन्ट जागराफी ऑफ इन्डिया पृ० ४१२।
२-पूर्व प्रमाण।

मौजूद था और इस तरह उनका वहांपर प्राचीन अधिकारही होना चाहिये। इसलिये अहिच्छत्रकी तद्वत् प्रख्याति भगवान पार्श्वनाथकी विनय नाग छत्र आदि लगाकर वहांके नागवंशी राजानेकी इस कारण हुई थी, यह स्पष्ट है। श्री भावदेवसूरिके कथनसे इस विषयकी और भी पुष्टि होती है। वह कहते हैं कि 'कौशम्ब' वनमें धरणेन्द्रने आकर भगवान पार्श्वनाथके शीशपर अपना फण फैलाकर कृतज्ञता ज्ञापन की थी, इसलिए वह स्थान 'अहिच्छत्र' कहलाने लगा।[1] यहांपर भाव नागराजाके विनय प्रदर्शनके ही होसक्ते है क्योंकि हम भावदेवसूरिसे पहले हुये वादिराजसूरिके अनुसार धरणेन्द्रकी कृतज्ञता ज्ञापनका स्थान स्वय बनारस ही देख चुके हैं। अस्तु, यह करीब २ निश्चयात्मक रूपमें कहा जासक्ता है कि भगवान् पार्श्वनाथका परमभक्त धरणेन्द्रके अतिरिक्त एक नागराजा भी था।

१-पार्श्वनाथचरित सर्ग १० श्लोक १४३......।

(१२)

नागवंशजोंका परिचय !

'पातालाधिपति प्रिया प्रणयिनी चिंतामणि प्राणिनां ।
श्रीमत्पार्श्वजिनेशशासनसुरी पद्मावती देवता ॥२२॥'

—बृहत्पद्मावती स्तोत्र

भगवान पार्श्वनाथके शासनरक्षक यक्ष-यक्षिणी* धरणेन्द्र और पद्मावती देवयोनिके थे, यह हम प्रगट कर चुके हैं। साथ ही देख चुके हैं कि कोई नागवंशी राजा अलग अवश्य ही भगवान पार्श्वनाथका भक्त था और भगवान पार्श्वनाथसे उस नागवंशी राजाका सम्बन्ध था किन्तु प्रश्न यह है कि यह नागवंशी राजा कौन थे ? क्या यह भारतीय थे ? अथवा इनका निवासस्थान भारतके बाहिर था ? सौभाग्यसे इन प्रश्नोंका समाधान भी सुगमतासे होजाता है और यह ज्ञात होता है कि यद्यपि नागवंशी मूलमें तो भारतके ही निवासी थे, परतु उपरांत वह भारतमें बाहरसे ही आकर बस गये थे। जैन पद्मपुराणसे हमको पता चला है कि जिस समय भगवान ऋषभदेवने दीक्षा धारण करली थी, उससमय उनके निकट कच्छ-सुकच्छके पुत्र नमि-विनमि आये और अन्योंकी भांति राज्य देनेकी याचना उनसे करनें लगे थे। इस मुनि अव-

* पार्श्वनाथ चरितमें श्री वादिराजसूरिने इन्हें यक्ष बताया है, यह हम देख चुके हैं। श्री सकलकीर्ति आचार्यने भी धरणेन्द्रका उल्लेख 'यक्षराज' रूपमें अपने 'पार्श्वनाथ चरित'में (सर्ग १७ श्लो० १०४-१०५) में किया है। बरजेस (Burgess) सा० ने दिगम्बर मान्यताके अनुसार ऐसा ही प्रगट किया है। (Ind Anti, XXXII, 459-464)

स्थामे ऋषभदेवजी पर यह एक तरहका उपसर्ग ही था। सो उनके पुण्य प्रभावसे वहां धरणेन्द्र आ उपस्थित हुआ और उसने नमि-विनमिको लेजाकर विजयार्ध पर्वतकी दोनो श्रेणियोका राजा बना दिया और इनका वश विद्याधरके नामसे प्रख्यात हुआ।[१] विद्याधर वंशमें अनेको राजा होगये। उपरान्त इनमें रत्नपुर अथवा रथनूपुर नगरके राजा सहस्रारका पुत्र इन्द्र नामक राजा हुआ। यह श्री मुनिसुव्रतनाथजीके तीर्थकालमें हुआ था। इन्द्रने जितने भी विद्याधर राजा उस समय चहुओर फैल गये थे, उन सबको वश किया और स्वर्गलोकके इन्द्रकी तरह वह वहा राज्य करने लगा था। इसी इन्द्रने अपनेको बिल्कुल ही देवेन्द्रवत माना और उसकी तरह ही अपना साम्राज्य फैलाया। जिसप्रकार देवेन्द्रके नौ भेद सामानिक, पारिषद आदि होते हैं; वैसे ही इसने नियत किये थे तथा जितने और देव थे उनकी भी कल्पना इसने विद्याधर लोगोंमें क्षेत्र आदि अपेक्षा की और उनके स्थानोंके नाम भी वैसे ही रक्खे।[२] पूर्वदिशामें जोतिपुर नगरमे राजा मकरध्वज और रानी अदितिका पुत्र सोम लोकपाल नियत किया। राजा मेघरथ और रानी वरुणाके पुत्र वरुणको मेघपुरमें पश्चिमदिशाका लोकपाल बनाया। काचनपुरमे किहकंधसूर्य और कनकाके पुत्र पाश आयुध-वाले कुबेरको उत्तरदिशाका लोकपाल निर्दिष्ट किया एवं किहकंध-पुरमे राजा बालाग्नि और रानी श्रीप्रभाका पुत्र यम दक्षिणदिशाका लोकपाल स्थापित किया। इसी तरह असुरनगरके विद्याधर असुर, यक्षकीर्तिनगरके यक्ष, किन्नरनगरके किन्नर इत्यादि रूपमें देवोके

१–श्री पद्मपुराण पृ० ४६। २–पूर्वग्रन्थ पृ० १०६–१०९।

भेदोंके समान ही कहाये। इसी तरह नागलोक अथवा पातालके निवासी विद्याधर नाग, सुपर्ण, गरुड़, विद्युत आदि नामसे प्रख्यात हुये।[1] इसप्रकार इस मनुष्य लोकमें ही देवलोककी नकल की गई थी। विद्याधर लोग हम आप जैसे मनुष्य ही थे और आर्यवंशज क्षत्री थे।[2] अस्तु, इस उल्लेखसे नागवंशियोंका आर्यवंशज मनुष्य होना प्रमाणित है और यह प्रकट है कि देवलोककी तरह नागदेश और वंश यहां भी मौजूद थे। अत जैन कथाओंमेंके नागलोक मनुष्य भी होसक्ते हैं जैसे कि हम पूर्व परिच्छेदमें देख चुके हैं।

विजयार्ध पर्वत भरतक्षेत्रके बीचोंबीचमें बतलाया गया है। इस पर्वत और गंगा–सिंधु नदियोंसे भरतक्षेत्रके छह खण्ड होगये हैं· जिनमेंसे बीचका एक खण्ड आर्यखण्ड है और शेष सब म्लेच्छ खण्ड है।[3] भरतक्षेत्रका विस्तार ५२६$\frac{6}{19}$ योजन कहा गया है और एक योजन २००० कोसका माना गया है।[4] अतएव कुल भरतक्षेत्र आजकलकी उपलब्ध दुनियासे बहुत विस्तृत ज्ञात होता है। इस अवस्थामें उपलब्ध पृथ्वीका समावेश भरतक्षेत्रके आर्य खण्डमें ही होजाना संभव है और इसमें विजयार्ध पर्वतका मिलना कठिन है। श्रीयुत प० वृन्दावनजीने भी इस विषयमें यही कहा था कि–"भरतक्षेत्रकी पृथ्वीका क्षेत्र तो बहुत बड़ा है। हिमवत कुलाचलतैं लगाय जंबूद्वीपकी कोट ताईं, बीचि कछू अधिक दश लाख कोश चौड़ा है। तामें यह आर्यखण्ड भी बहुत बड़ा है। यामें बीचि यह खाडी समुद्र है, ताकूं उपसमुद्र कहिये है। .. अर अबार

१–पूर्वग्रन्थ पृ० ११३। २–पूर्वग्रन्थ पृ० ६८। ३–संक्षिप्त जैन इतिहास पृ० २। ४–तत्वार्थाधिगम सूत्र (S. B. J.) पृ० ९१।

आयु काय निपट छोटी है। ताका गमन भी थोरे ही क्षेत्र होय है।"[1]
श्रीमान् स्व० पूज्य प० गोपालदासजी बरैया भी वर्तनकी उपलब्ध दुनियाको आर्यखडके अन्तर्गत स्वीकार करते हुये प्रतीत होते हैं। (देखो जैनहितैषी भाग ७ अक ६) तथापि श्री श्रवणबेलगोलाके मठाधीश स्व० पडिताचार्यजी भी इस मतको मान्यता देते थे। उनने आर्यखण्डको ५६ देशोमें विभक्त बताया था, जिनमें अरब और चीन भी सम्मिलित थे। (देखो एशियाटिक रिसर्चेज भाग ९ पृ० २८२) तिसपर मध्य एशिया, अफरीका आदि देशोका 'आर्यन' अथवा 'आर्यवीज'[2] आदि रूपमें जो उल्लेख हुआ मिलता है वह भी जैनशास्त्रकी इस मान्यताका समर्थक है कि यह सब प्रदेश जो आज उपलब्ध है प्राय. आर्यखण्डके ही विविध देश हैं। अगाड़ी पातालका स्थान नियत करते हुये इसका और भी अधिक स्पष्टीकरण हो जयगा। यहापर विजयार्ध पर्वतकी लम्बाई-चौड़ाईपर भी जरा गौर कर लेना जरूरी है। शास्त्रोमें कहा है कि विजयार्ध २५ योजन ऊचा और भूमिपर ५० योजन चौडा है। भूमिसे १० योजनकी ऊचाईपर इसकी दक्षिणीय और उत्तरीय दो श्रेणिया है जिनपर विद्याधर बसते है और जैन मदिर हैं।[3] यह पूर्व-पश्चिम समुद्रसे समुद्र तक विस्तृत है और चांदीके समान सफेद है।[4] इस तरह विजयार्ध पर्वत ५० हजार कोश ऊचा प्रमाणित होता है; किन्तु आजकल ऊचेसे ऊचा पहाड तीस हजार

१—वृन्दावनविलास पृ० १३०। २—ऐशियाटिक रिसचेज भाग ३ पृ० ८८ आर विश्वकोष भाग २ पृ० ६७१–६७४। ३—पद्मपुराण पृ० ५८–५९। ४—हरिवशपुराण पृ० ५४।

फीटसे ज्यादा ऊंचा नहीं है । आजकलके हिमालयकी ऐवरेस्ट नामक चोटी ही दुनियामें सबसे ऊंची समझी जाती है और यह २९००२ फीट ऊंचाईमें है।[1] हिमालयके बारेमें यह भी कहा जाता है कि वह पूर्व–पश्चिम समुद्रसे समुद्र तक विस्तृत है.[2] परन्तु इस सादृश्यताके साथ उसका और वर्णन विजयार्धसे नहीं मिलता तथापि उसका इतना विस्तार अर्वाचीन है, क्योंकि यह कहा गया है कि एक जमानेमें हिमालयका अधिकांश भाग जलमग्न था ।[3] नेपाल प्रदेश एक जलकुंड अथवा हृद था, यह नेपालवासियोंका भी विश्वास है ।[4] अतएव यह स्पष्ट है कि उपलब्ध दुनियामें विजयार्धका पता लगाना कठिन है और इस हालतमें उपलब्ध प्रदेश आर्यखंड ही प्रकट होता है ।

हिन्दू पौराणिकोने इन्द्रकी राजधानी और उसके उद्यान आदि उत्तरीय ध्रुवमें स्थित बतलाये हैं। स्वर्गादिकी कल्पना भी उन्होंने वहीं की है[5] । यह इन्द्र और स्वर्ग आदि देवलोकके होना अशक्य है; क्योंकि हिन्दू शास्त्रोंमें भी इनको अपर (ऊर्ध्व) लोकमें बतलाया है। अतएव यह इन्द्र और उसके स्वर्ग आदि जैनशास्त्रोंके इन्द्र, विद्याधर और उसके स्थापित किए हुए नकली स्वर्गादि ही प्रकट होते हैं। इस अवस्थामें विजयार्ध उत्तरध्रुवमे कहींपर अवस्थित होना चाहिये। उत्तरध्रुवकी अभी तक जो खोज हुई है उससे यह तो प्रकट होगया है कि वहांपर भी किसी जमानेमें बड़े सभ्य

१–दी रायल वर्ल्ड ऐटलस पृ० ७ । २–एशियाटिक रिसर्चेज भाग ३ पृ० ६८ । ३–प्री–हिस्टॉरिक इन्डिया पृ० ४२–४५ । ४–हिस्ट्री ऑफ नेपाल पृ० ७७ । ५–एशियाटिक रिसर्चेज भाग ३ पृ० ५२ ।

मनुष्य रहते थे; क्योकि वहांपर उजड़े हुये नगरोंके खण्डहर और शिल्पनिपुणताकी अनूठी मूर्तियां भी मिलीं हैं। कालदोषसे वहांके निवासियोका पता आजकल अभीतक नहीं चला है; किन्तु हिन्दू पुराणोके वर्णनसे यह प्रकट होता है कि वहांके निवासी वर्फकी अधिकतासे एक समयमें नीचेकी ओर यूरोप और मध्य एशिया आदिकी ओर हटते आये थे[1]। पदार्थ विज्ञानके इतिहाससे भी यह पता चलता है कि एक जमानेमें वर्फकी अधिक प्रधानता होगई थी और उस 'शीतकाल'में संसारके निवासियोंमें हलचल मची थी।[2] इस तरह जैनशास्त्रोके कथनकी एक तरहसे पुष्टि ही होती है; क्योंकि वे मूलमें विद्याधरोका राज्य विजयार्ध पर बतलाते हैं और उपरान्तमें उनको तमाम यूरोप, अफरीका और मध्य एशियामें फैल गया निर्दिष्ट करते हैं,[3] जैसे कि हम जरा अगाड़ी देखेंगे। मध्यएशिया, तुर्किस्तान, और तातार देशके निवासी अपनेको जो एक काश्यप नामक पुरुषका वंशज वतलाते है;[4] वह भी जैन मान्यताका समर्थन करता है, क्योकि भगवान ऋषभदेवका गोत्र काश्यप था और उनसे याचना करनेपर ही विद्याधर वंशके आदि पुरुष नमि-विनमिको राज्य मिला था। इन देशोंके निवासी असुर, दैत्य, नाग आदि विद्याधर वंशज थे, यह हम ऊपर देख ही आये हैं, जिनका अस्तित्व वैदिककालसे लेकर पौराणिक समय तक बराबर मिलता है।[5]

यहां तकके कथनसे यद्यपि विजयार्ध और आर्यखंडके संबंधमें

१-'वीर' भाग २ अंक १०-११। २-प्री-हिस्टॅारिक इन्डिया पृ० ४३। ३-पद्मपुराण पृ० ५२-१२५। ४-इन्डियन हिस्टारीकल क्वारटर्ली भाग २ पृ० २८। ५-पूर्वभाग १ पृ० १३२।

कुछ मालूम हो गया है, पर अभीतक नागोके निवासस्थान पाताल लोकके विषयमें कुछ भी ज्ञात नहीं हुआ है। आधुनिक विद्वानोने दैत्य, दानव, असुर, नाग, गरुड आदिका निवास स्थान हूण जातियोका मूलगृह मध्यऐशिया और तुर्किस्तान बतलाया है।[१] उनके अनुसार नाग, गरुड आदि सब ही हूण अथवा शक जातियोंके ही भेद है। इसको उन्होंने सप्रमाण सिद्ध भी किया है। उनका यह कथन जैन शास्त्रोंसे भी ठीक ही प्रतिभाषित होता है, यह हम यहापर पातालके विषयमें विचार करते हुए निर्दिष्ट करेंगे।

इस स्पष्टीकरणके लिये हमे मुख्यत' श्री पद्मपुराणजीका आधार लेना पड़ेगा। इस पुराणमें श्री रामचन्द्रजी व रावणका चरित्र वर्णित है। सक्षेपमे उसपर एक नजर डाल लेना हमारे लिये परमावश्यक है। अस्तु, इसमें लिखा है कि सम्राट् सगर-चक्रवर्तीके समयमें विजयार्धकी दक्षिण श्रेणिमें एक चक्रवाल नगर-का राजा पूर्णघन था। विहायस्तिलक नगरके राजा सहस्रनयनने सम्राट् सगरकी सहायतासे इसे तलवारकी घाट उतार दिया। इसका पुत्र मेघवाहन भागकर भगवान अजितनाथजीके समवशरणमें पहुंचा। वहापर राक्षसदेवोके इन्द्र भीम और सुभीम उससे प्रसन्न हुये और उसे लवण समुद्रमेंके अनेक अन्तर द्वीपोंमेंसे एक राक्षस द्वीपका अधिपति बना दिया। यह राक्षसद्वीप सातसौ योजन लम्बा और चौडा बताया गया है और इसके मध्यमें त्रिकूटाचल पर्वत बतलाया है। यहा योजनका परिमाण फीयोजन चार कोश समझना उचित है। यह त्रिकूटाचल पर्वत रत्नजटित था। इसी पर्वतके

१–पूर्वभाग १ पृ० १३४।

तले ३० योजन प्रमाण लंका नामक नगरी थी, जिसके अनेक उद्यान और कमलोसे मंडित सरोवर थे। यहां जिनेन्द्र भगवानके अनुपम चैत्यालय भी थे। यह दक्षिण दिशाका तिलकरूप नगर था। मेघवाहन आनन्दसे यहा रहने लगे थे। इसके साथ ही उनको पाताल लॅका भी मिली थी। यह धरतीके बीचमे थी और इसका मुख्य नगर अलकारोदयपुर ६ योजन औडा और १३१॥ योजन चौड़ा था। मेघवाहनने लंका तो अपनी राजधानी बनाई और पाताल—लका भय निवारणका स्थान नियत किया। जिस समय मेघवाहन विमानमे बैठकर लकाको चले थे तो उनको बीचमे श्यामवर्णका लवण समुद्र पड़ा था।

मेघवाहन महारक्षको राज्यदे मुनि हुए। महारक्षके अमररक्ष उदधिरक्ष, भानुरक्ष ये तीन पुत्र हुए। महारक्ष भी दीक्षा ले गए, सो अमररक्षक राजा हुये और युवराज पदपर भानुरक्ष नियत हुये। अमररक्षका विवाह किन्नरनाद नगरके श्रीधर विद्याधर राजाकी पुत्री अरिजयासे हुआ था। गधर्वगीत नगरके सुरसन्निभ राजाकी गधर्वा पुत्री भानुरक्षने परणी थी। बड़े भाईके दशपुत्र और छह पुत्री थी इतने ही संतान छोटे भाईके थे। पुत्रोने अपने २ नामके नगर बसाये सो कुल इसप्रकार थे.—

१ सन्ध्याकार, २ सुदेव, ३ मनोह्लाद, ४ मनोहर, ५ हसद्वीप, ६ हरि, ७ जोध, ८ समुद्र, ९ काचन १० अर्धस्वर्ग, ११ आवर्त, १२ विघट, १३ अम्मोद, १४ उत्कट, १५ स्फुट, १६ रतुगृह, १७ तद्य, १८ तोय, १९ आवली और २० रत्नद्वीप।

अमररक्ष और भानुरक्ष भी मुनि होगए। उपरान्त बहुत

राजाओंमें एक रक्ष, जिसका पुत्र राक्षस हुआ। इन्हींके नामसे इस वंशके राजा 'राक्षस' कहलाने लगे। राक्षसके दो पुत्र आदित्य गति और कीर्तिधवल हुये। विजयार्ध दक्षिण श्रेणीके मेघपुरके राजा अतीन्द्रके पुत्र श्रीकंठने अपनी मनोहरदेवी कन्या कीर्तिधवलको दे दी; पर रत्नपुरके पुष्पोतर राजा उसे अपने पुत्र पद्मोत्तरके लिये चाहते थे। श्रीकंठने सुमेरु यात्रा करते हुए पद्मोत्तरकी बहिन पद्माभाको देखा सो वह उसे उठा लाया। इसपर लड़ाई हुई, पर पद्माभाके कहनेसे संधि होगई। कीर्तिधवलके आधीन निम्नदेश थेः—

सन्ध्याकार, सुवेल, कांचन, हरिपुर, जोधन, जलधिध्यान, हंसद्वीप, भरक्षम, अर्धखर्ग, कूटावर्त, विघट, रोधन, अमलकांत, स्फुटतट, रत्नद्वीप, तोथावली, सर, अलंघन, नभोभा, क्षेम इत्यादि।

श्रीकंठ उपरोक्त संधिमें अपना राज्य खो बैठा था, सो कीर्तिधवलने इसे लंकासे उत्तर भाग तीनसौ योजन समुद्रके मध्य बानरद्वीप, जिसके मध्य किहुकुदा पर्वत था, वह दिया। इस द्वीपमें वानर मनुष्य समान क्रीड़ा करते थे। श्रीकंठने उन्हें पाला और किहुकंद पर्वतपर किहुकंद नगर बसाया। इसके उत्तराधिकारियोंमें एक अमरप्रभ राजा हुआ, जिसने लंकाके राजाकी पुत्री गुणवतीसे विवाह किया था। इसीने अपनी ध्वजामें 'वानर' चिन्ह रखना आरम्भ किया, जिससे इसके वंशज बानरवशी कहलाने लगे थे। इसने विजयार्धके सारे राजाओंको जीता था। उपरांत अनेक राजाओंके बाद इस वशमें एक राजा महोदधि नामक श्रीमुनि सुव्रतनाथजी (२०वें तीर्थंकर)के समयमें हुआ था। इनके समयमें लंकाका राजा इनका मित्र विद्युतकेश था। फिर एक किहकंध नामक राजा

हुआ। इसे लाल मुखवाला विद्याधर लिखा है।* इसे विद्याधरोंने हराया था, सो यह वानरद्वीप छोड़ पाताल-लंकामें आया था। राक्षसवंशी भी वहीं पहुंचे। निर्घात लंकाका राजा हुआ। बहुत दिन पाताल-लंकामें रहते किहुकंधका जी ऊब उठा। उसने दक्षिण समुद्रके तटपर करनतट वनके पहाड़पर किहुकंधपुर नगर बसाया। कर्णपर्वतपर इसके जमाईने वर्णकुण्डल नगर बसाया। पाताललंकाके स्वामी सुकेशके तीन पुत्र थे माली, सुमाली और माल्यवान। निर्घात्के कुटुम्बी दैत्य कहलाते थे, सो इनसे उक्त तीन पुत्रोंने लंका वापस जीत ली। यज्ञपुरके विश्रव कौशिकीके पुत्र वैश्रवणको वहां का राजा बनाया। पाताललंकामें सुमालीका रत्नश्रवा रहा। इसने पुष्पकवनमें विद्या साधी। वहां केसकी नामक राजपुत्री इसकी सेवामें रही। विद्या सिद्ध होनेपर इसने वहीं पुष्पातक नगर बसाया। इन्हींके यहां रावणका जन्म हुआ। बालपनेमें रावणने उस हारको उठा लिया था जिसकी रक्षा एक हजार नागकुमार करते थे। उपरांत इसने भीम नामक वनमें एक स्वयंप्रभ नामक नगर बसाया था। रावणका विवाह विजयार्धपर्वतकी दक्षिण श्रेणीके नगर असुरसंगतिके राजा मयकी पुत्री मंदोदरीसे हुआ था। राजा मय विद्याधर ही था, परंतु दैत्य कहलाता था। लंकाके राजा वैश्रवणके वंशज यक्ष कहलाते थे। वैश्रवण और रावणमें युद्ध हुआ था, जिसमें वैश्रवणकी पराजय हुई थी। लोग उसे रणभूमिसे उठाकर यक्षपुर लेगए थे। वहां उसने दिगम्बरी दीक्षा धारण कर ली थी।

* लाल मुखवाले 'रेड इन्डियन्स' आज उत्तरीय अमेरिकामें मिलते हैं। संभव है वानरवंशी राजाओंका राज्य यहीं रहा हो।

पुष्पकके मध्य एक महा कमलवन है सो वहासे विमानमें बैठकर रावण दक्षिण समुद्रकी ओर लकाको चला और त्रिकूटाचल पर्वत पर पद्मरागमणिमई चैत्यालय देखे । इधर सूर्यरज और रक्षरज वानरवंशियोंने भी पाताल लंकाके अलकनगरसे निकलकर किहकूपुर वानरद्वीपमें जा घेरा । राजा इद्रके दिकूपाल यमने उनसे युद्ध किया, जिसमें वानरवशी कैदी हुए । मेघलवनमे नरक नामक बदीगृहमें यह कैद रक्खे गए । इसपर रावणने यमको आ घेरा । यम भागकर राजा इंद्रके पास रथनूपुर जा पहुंचा । रावण लौटकर त्रिकूटाचल पर्वतको चला गया, जहांसे समुद्र दिखाई पड़ता था । उपरांत किहकधपुरमें वानरवंशी सूर्यरजके पुत्र वाली और सुग्रीव हुए । पाताल लंकामें खरदूषण रावणका बहनोई राज्याधिकारी हुआ । पाताल-लंकामें मणिकांत पर्वत था । वाली वैराग्य पा मुनि होगये, रावण दिग्विजयको निकले सो सुग्रीवने उससे मैत्री कर ली । पहले उनने अंतरद्वीप वश किये फिर संध्याकार, सुवेल, हेमा, पूर्ण, सुयोधन, हसद्वीप. वारिहव्यादि देशोंके विद्याधर राजाओंसे उनने भेंट ली । उपरान्त रथनूपुरके राजा इंद्रको वश करने रावण चला सो पहले अपने खरदूषण बहनोईके पास पाताल लंकामें डेरा डाले । हिडम्ब, हैहिडिम्ब, विकट, त्रिजट, हयमाकोट, सुजट, टंक, सुग्रीव, त्रिपुर, मलय, हेमपाल, कोल, वसुंदर इत्यादि राजा उसके साथ थे । खरदूषण कुंभ, निकुम्भ, आदि राजाओंके साथ इनके साथ होलिये । यहांसे निकलकर रावणको सूर्यास्त विंध्याचल पर्वतके समीप हुआ । नर्मदाके तट रावण ठहर गये । वहां माहिष्मतीके राजा सहस्त्ररश्मिकी केलि-क्रीडासे रावणकी पूजामें

विघ्न हुआ सो उनमें युद्ध छिड गया। भूमिगोचरी सहस्ररश्मि पकड़ा गया। शतबाहु मुनिके कहनेसे रावणने उसे छोड दिया। परंतु उसने पुत्रको राज्य दे मुनिदीक्षा ग्रहण कर ली। फिर रावणने उत्तरदिशाके सब राजा वश किये। राजपुरनगरका मरुत यज्ञ कर रहा था, नारदके समझानेपर भी वह नही माना था। रावणने उसको भी वश किया। इतनेमें वर्षाऋतु आई; सो रावणने गंगातट पर ठहरकर बिताई। यही उसने अपनी पुत्री कृतचित्रा मथुराके राजा मधुको विवाह दी थी। यहासे ही उसने सम्मेदशिखरकी वंदना की थी और फिर अगाडी चलकर वह कैलाशके समीप पहुंचा था। यहांपर इंद्रका दिग्पाल दुलंघिपुरका स्वामी नलकूबर रावणका सामना करनेको आया। उसने इंद्रको भी खबर भेज दी। इंद्र उस समय पांडुवनके चैत्यालयोकी वदना कर रहा था। उसने आनेकी तैयारी की, इतनेमें नलकूवर परास्त होगया। रास्ता साफ पा रावण अगाड़ी वैताढ्य पर्वतपर पहुंचे। इंद्रने भी रावणको नजदीक आया जानकर सिरपर टोप रखकर रणभेरी बजवा दी। संग्राम छिड़ गया। रावणके योद्धा बज्रवेग, हस्त, प्रहस्त, मारीचि, उद्भव, बज्र, वक्र, शुक्र, सारन, महाजय आदि थे। इन्द्रके मेघमाली, तडसंग, ज्वलिताक्ष, अरि, खेचर, पाचकसिंहन आदि थे। इंद्रकी ही पराजय हुई। रावण लौटकर लंका जाने लगा। रास्तेमें गंधमान पर्वत देखा। इधर इन्द्र मुनि होकर अन्ततः मोक्षको गए।

इसतरह रावण आनन्दसे पातालपुरके समीप तिष्ठता राज्य कर रहा था कि पातालनगरके राजा वरुणसे रावणका युद्ध हुआ

था। इसी समय अपने मामाके यहां हनुरुहद्वीपमें जन्म पाकर बड़े हुये हनूमान भी लङ्का आये थे। वीची पर्वत इनको मार्गमें पड़ा था। उपरान्त वह समुद्रको भेदकर वरुणके नगरपर पहुंचे थे। युद्धमें वरुण पकडा गया था। वहाके भवनोन्माद वनमें रावणने डेरा दिये थे और उसकी सत्यवती कन्याको परणा था। हनूमानको रावणने अपनी धेवती विवाही थी और उसे कर्णकुण्डलपुरका राज्य दिया था। लंकामें लौटकर शांतिनाथजीके चैत्यालयकी वंदना कर रावण आनन्दसे रहता था।

उपरांत सुकौशल देशकी राजधानी अयोध्यामें इक्ष्वाकवंशी राजा दशरथ राज्य करते थे। इन्हीके समयमें अर्ध बरबर देशके म्लेच्छोंने भारतवर्षपर आक्रमण किया था। अर्धबरबरदेश वैताढ्यके दक्षिण भागमें और कैलासके उत्तरमें अवस्थित अनेक अन्तर देशोंमें एक था। यहां मयूरमाला नगरका राजा म्लेच्छ अन्तर्गत नामक था। कालिंद्रीभागा नदीकी ओर यह विषम म्लेच्छ थे। इनके साथ किरात, भील आदि थे। इन म्लेच्छोमें श्याम, कर्दम, ताम्र आदि वर्णके लोग थे तथा कई एक वृक्षोंके वल्कल पहिने हुए थे। दशरथ जनक, राम और लक्ष्मणने इनको हराया और यह विन्ध्याचल आदि गहन स्थानोमें वस गए। राम जब वनवासके दिन काटते हुए दक्षिण भारतमें पहुंचे, तो वहां इन्होको उनने परास्त किया था। उपरांत दंडकवनसे रावण सीताको हर लेगया था। इधर खरदूषणका पुत्र अज्ञात लक्ष्मणके हाथसे मारा गया था; सो खरदूषण इनपर चढ़ आया था। आखिर इस युद्धमें वही काम आया था। चन्द्रोदयके पुत्र विराधित विद्याधरके कहनेसे राम—लक्ष्मण पाताल

लंका पहुंचे थे । उधर वहांसे आकर किहकंधापुरके राजा सुग्रीवकी सहायता राम-लक्ष्मणने की, सो सब वानरवंशी इनके सहायक हो गये थे । इसी समय क्रौंचपुरके राजा यक्ष और रानी राजिलताका पुत्र यक्षदत्त था । वह एक स्त्रीपर मोहित था । ऐनमुनिके समझानेसे वह मान गया था । उपरांत किहकंधापुरसे हनूमान सीताका पता लगाने चला था, सो पहले उसने महेन्द्रपुरमें अपने मामाको बश किया था । उनको रामचंद्रजीके पास भेजकर फिर वह अगाड़ी बढ़ा था और उसे दधिमुखद्वीप पड़ा था जिसमे दधिमुख नगर था । वहां निकट आग लगे वनमें दो मुनिराज व तीन कन्यायें हनूमानजीने देखी थी । उनका उपसर्ग उन्होने दूर किया था । दधिमुख नगरके राजा यक्षकी वे तीन कन्यायें थीं । आखिर उनको रामचंद्रने परणा था । फिर हनूमान लंका पहुच गए थे । प्रमदवनमें उसने सीताको देखा था । हनूमान सीताकी खबर ले जब लौट आए तब राम-लक्ष्मणने लंकापर चढ़ाई की थी । वे पहले वेलंधरपुर पहुंचे थे और वहाके समुद्र नामक राजाको परास्त किया था । फिर सुबेल पर्वतपर सुवेल नामक विद्याधरको वश किया था । उपरांत अक्षयवनमें रात्रि पूरी की थी । अगाड़ी चले तो लंका दूरसे दिखाई पडी । हंसद्वीपमे डेरा डाले और वहांके हंसरथ राजाको जीता । हंसद्वीपके अगाडी रणक्षेत्र रच दिया । रावणके सेनापति अरिंजयपुर नगरके राजाके दो पुत्र थे । यह अपने पूर्वभवोमें एकदा कुशस्थल नगरमें निर्धन ब्राह्मण जिनधर्मसे पराङ्मुख थे । जैनी मित्रके संयोगसे जैनी हुये और फिर अन्य भवमें तापस होकर अरिंजयनगरके राजाके पुत्र हुये थे । रावणसे युद्ध हुआ । सुग्रीव और भामण्डल

शक्तिहीन हुये सो गरुडेन्द्रको रामचन्द्रने याद किया। उसने सिंहवाहन और गरुड वाहन नामक देव भेजे, जिनके प्रतापसे सुग्रीव भामण्डलका नागपाश दूर हुआ। गरुड़के पंखोंकी पवन क्षीरसागरके जलको क्षोभरूप करने लगी सो वह नाग वहासे विलीन होगए। इन्द्र नीलमणिकी प्रभासे युक्त रावण उद्धत रूपसे संग्राम करने लगा, विद्या साधने लगा और फिर आखिर मृत्युको प्राप्त हुआ था। लक्ष्मणने कुबरके राजा बालखिल्यकी पुत्री कल्याणमालासे यहीं विवाह किया था और फिर लवण समुद्र लांघकर अयोध्या पहुचे थे। इस तरह श्रीपद्मपुराणमे यह कथन है। अब इस कथनके आधारसे हमे पातालपुरका पता लगाना सुगम होजाता है।

उपरोक्त कथनसे यह स्पष्ट है कि भारतसे दक्षिण पश्चिमकी ओर लंका थी और लंका पहुचनेके पहले पाताललंका पड़ती थी, क्योंकि पाताल-लंका ही रावणको दिग्विजयके लिए निकलते समय पहले आई थी। फिर पाताल-लंकासे खरदूषणने राम-लक्ष्मणपर जो दंडकवनमें आक्रमण किया था, सो उसकी खबर रावणको नहीं हुई थी; क्योंकि पाताल-लंकासे भारत आते हुये बीचमें लंका नहीं पड़ती थी-वह उससे ऊपर रह जाती थी यह प्रगट होता है। किंतु हनूमानजीको लंका जाते हुये मार्गमें पाताललंका नहीं पड़ी थी, इसका यही कारण हो सक्ता है कि वे दूसरे मार्गसे गये थे। यही बात राम-लक्ष्मणके आक्रमणकी समझना चाहिये। वहा भी पाताल लंकाका उल्लेख नहीं मिलता है, किंतु यहा यह संभव है कि वे पाताल-लंका तक पहुच ही न पाये हों और हंसद्वीपमें रणभूमि रचकर बैठ गए हों, जो पाताल-लंकाके उत्तर भागमें हो। इस विषयमें निश्चयरूपसे जाननेके लिये हमें

देखना चाहिए कि राक्षसद्वीप अथवा लंका और पाताललंका कहांपर थे ? आजकलकी मानी हुई लंका (Ceylon) तो यह हो नहीं सक्ती; क्योंकि भारतसे प्राचीन लंकातक पहुंचनेमें कितने ही द्वीप पड़ते थे। जब रावण सीताको हरकर लिये जारहा था तो बीच समुद्रमें रत्नजटी विद्याधरने उसका मुकाबिला किया था और वह परास्त होकर कम्पूद्वीपमे जा गिरा था।[1] और फिर उसे अनेक अंतर द्वीपोंमेंसे एक बताया गया है। मौजूदा लका एक अतर द्वीप न होकर द्वीप है। तिसपर प्राचीन कथाओमें इसका उल्लेख रत्नद्वीप और सिंहलद्वीपके नामसे हुआ मिलता है[2] और इसमें त्रिकूटाचल पर्वत भी कहीं दिखाई नही पड़ता है। इसलिये यह राक्षस वंशियोके निवास स्थान जो सन्ध्याकार आदि बताये गये हैं, उनमें,का रत्नद्वीप ही होगा, यह उचित प्रतीत होता है। इस अपेक्षासे राक्षसोके इन आसपासके स्थानोंको छोड़कर कही दूर अंतरदेशमें लंका और पाताललंका होना चाहिये।

हिन्दू पुराणोंमें शङ्खद्वीपमें राक्षसों और म्लेच्छोंका निवास बतलाया है[3] और अन्ततः राक्षसोंकी अपेक्षा ही उनने उस स्थानका नाम 'राक्षस स्थान' रख दिया है।[4] हिन्दू शास्त्रोमें यह राक्षस लोग भयानक देव बतलाये गये हैं।[5] परंतु बात वास्तवमें यूं नहीं है। यह मनुष्य विद्याधर ही थे। हिन्दु शास्त्रकारोने इनका उल्लेख भयानक राक्षसों और म्लेच्छोके रूपमें केवल पारस्परिक स्पर्द्धासे ही

१-जैन पद्मपुराण पृ० ५५६। २-कनिंघम, एनशियन्ट जागराफी ऑफ इन्डिया पृ० ६३७-६३८। ३-ऐशियाटिक रिसर्चेज भाग ३ पृ० १००। ४-पूर्व० पृ० १८५। ५-पूर्व० पृ० १००।

किया है, क्योंकि हम जानते है कि यह विद्याधर जैन धर्मानुयायी थे। रामायणमें स्पष्ट स्वीकार किया गया है कि राक्षस—दैत्य आदि यज्ञमे आनकर विघ्न उपस्थित करने लगे थे और ऊपर जैन पद्म-पुराणके वर्णनमें हम देख आये हैं कि राक्षसवशी रावणने यज्ञकार्य बंद कराया ही था। इस अपेक्षा यह स्पष्ट है कि विद्याधर मनुष्योको राक्षस आदि देवयोनिके बतलाना केवल पारस्परिक स्पर्द्धाके ही कारण था। याज्ञवल्क्यने, इसी स्पर्द्धाके कारण गंगाकी तराईमें रहनेवाले मनुष्यों अथवा पूर्वीय आर्योंको जो बहुतायतसे काशी, कौशल, विदेह और मगधमें वेद विरोधी बने रहते थे और जो बहुत करके जैन ही थे 'भृष्ट' सज्ञासे विभूषित किया था।[1] सारांशत. यह स्वीकार किया जासक्ता है कि शङ्खद्वीपमें रहनेवाले राक्षस और म्लेच्छ वास्तवमे आर्य मनुष्य ही थे और प्रायः जैन थे।

अब देखना यह है कि शङ्खद्वीपमेंका यह राक्षसस्थान कहां पर है? एक यूरोपीय प्राच्य विद्याविशारद शङ्खद्वीपको आजकलका मिश्र (Egypt) सिद्ध करते हैं और उसीमें राक्षसस्थान प्रमाणित करते हैं।[2] वह राक्षसस्थान वही प्रदेश बतलाते हैं जिसको यूनानवासियोंने रॉकोटिस (Rhacotis) संज्ञा दी थी अथवा जिसको उन्हींका भूगोलवेत्ता केडरेनस (Cedrenus) 'रॉखास्तेन' (Rhakhasten) नामसे उल्लेखित करता है।[3] यह स्थान मौजूदा अलेक्ज़ांड्रियाके ही स्थलकी ओर था और प्राचीनकालमें अवश्य ही विशेष महत्वका स्थान रहा होगा, क्योंकि भूगोलवेत्ता लिनी

१—संक्षिप्त जैन इतिहास पृ० ११-१२। २—ऐशियाटिक रिसर्चेज भाग ३ पृ० १००। ३—पूर्व० पृ० १८९।

(Pliny) बतलाता है कि मेसफीस (Mesphees) नामक मिश्रके एक प्राचीन राजाने यहांपर दो चौकोने स्तंभ (Obcliks) बनवाये थे और उससे पहलेके राजाओंने यहां अनेक किला आदि बनवाये थे।[1] यह स्थान अन्तरीय कुशद्वीपके किनारेपर[2] अवस्थित 'त्रिशृङ्ग' अर्थात् तीन कूटवाले पर्वतसे हटकर नीचेमें था। जैन शास्त्र राक्षसद्वीपमें तीन कूटवाला त्रिकूटाचल पर्वत बतलाते हैं; उसकी तलीमें लङ्कापुरी कहीं गई है। हिन्दू और जैन शास्त्रकारोंके बताये हुए नामोंसे किञ्चित अन्तर आना स्वाभाविक ही है; किन्तु उपरोक्त सादृश्यताको ध्यानमें रखते हुये राक्षसद्वीप और लंकाका मिश्रमें होना ठीक जंचता है। वैसे भी लोक व्यवहारमें लंका 'सोने' की मानी जाती है और मिश्रके प्राचीन राजाओंकी जो सोनेकी चीजें अभी हालमें भूगर्भसे निकली हैं, वह इस जनश्रुतिको सत्य प्रकट करती हैं।[3] तिसपर जैनशास्त्रमें जो लंकाके पास कमलोंसे मंडित कई उद्यान और वन बतलाये हैं; वह भी यहां मिल जाते हैं। मिश्रका ऊर्ध्वभाग, जिसमेंकि अलेक्जन्ड्रिया आदि अवस्थित हैं इन्हीं वनोंके कारण 'अरण्य' अथवा 'अटवी' के नामसे ज्ञात था।[4] सचमुच पहले नील (Nile) नदीका यह मुहाना गहन वनसे भरा हुआ था और यूनानीलोग उसे अपनी देवीका पवित्रस्थान (Sacred to the Godess Diana) मानते थे।[5] उनका यह मानना एक तरहसे है भी ठीक क्योंकि महासती सीताके निवासस्थानसे यह वन पवित्र होचुके थे।

१-पूर्व० पृ० १८९। २-पूर्व० पृ० १५४। ३-माडर्नरिव्यू Vol XL. ४-ऐशियाटिक रिसर्चेज भाग ३ पृ० ९७। ५-पूर्व० पृ० १६४।

इसतरह लकामें जो पर्वत आदि वताये गये थे, वह सब उक्त प्रकार मिश्रमे मिल जाते है । इसलिये लकाका यहा हो होना ठीक है ।

यदि लका ऊपरी मिश्रमें मानी जावे तो पाताल लकाका उमसे नीचे होना आवश्यक ठहरता है । पाताल-लंकाके निकट, पद्मपुराणके उपरोक्त वर्णनमें पुष्पकवन और उसीमे उपरान्त पुष्पातक नगरका वसाया जाना लिखा है तथापि पुष्पकके मध्य एक महाकमल वन भी था और स्वय पाताल लंकामें एक मणिकात पर्वत वतलाया गया है। इन स्थानोंको ध्यानमें रखनेसे हमें मिश्रके नीचेके स्थान अवेसिनिया (Abyssenia) और इथ्यूपिया (Ethiopia) ही पाताल लका प्रतिभाषित होते हैं । इन्ही दोनो देशोमें पाताल लंकाके उपरोल्लिखित स्थान हमें मिल जाते हैं । अवेसिनियाके निकट इथ्यूपियामें पुष्पवर्ष स्थान वतलाया गया है जहां अवेसिनियाकी नन्दा अथवा नील नदी वृहत् नील (Nile) मे आकर मिलती है ।[1] यहीं इसी नामके पर्वत व वन है । तथा इन्हींके नीचे जो पद्मवन वताया गया है वह महा कमलवन होगा क्योंकि कमल और पद्म पर्यायवाची शब्द हैं और पद्मवनमें कोटिपत्रदलके कमल होते थे,[2] इसलिये उनका पर्यायवाची एवं और भी स्पष्ट नाम महाकमलवन ठीक ही है । पुष्पातक और पुष्पवर्षमें किंचित् ही वाह्य भेद है, वरन् भाव दोनोंहीका एक है । अतएव उनको एक स्थान मानना युक्तियुक्त प्रतीत होता है । अब रहा सिर्फ मणिकांत पर्वत जिसमें अनेक प्रकारकी मणिया लगी हुई थीं । पुष्पातक अथवा पुष्पवर्षसे ऊपर चलकर इथ्यूपियामे जहां शखनागा

१-पूर्व० पृ० ५६ । २-पूर्व० पृ० ६४ ।

(आजकलकी मारेब Mareb) नदी नील (Nile)मे आकर मिलती है, वहांपर समीपवर्ती एक 'द्युतिमान' पर्वत बतलाया गया है।[1] इसमें मणियां धातु आदि मिलते थे, इस कारण मणियोका प्रकाशरूप यह पर्वत 'द्युतिमान' कहलाता था। अतएव द्युतिमान और मणिकांत पर्वत एक ही हों, तो कोई आश्चर्य नहीं। इसप्रकार पाताललंका आजकलके अबेसिनिया और इथ्यूपिया प्रदेश ही होना चाहिये। इथ्यूपियामे जैन मुनियोंका अस्तित्व ग्रीक लोग 'जैम्नोसूफिट्स' के रूपमें बतलाते हैं।[2] जैम्नोसूफिट्स जैन मुनि ही होते हैं यह प्रगट ही है।[3] अस्तु; यहांपर यह संशय भी नही रहती कि अबेसिनिया और इथ्यूपियामें जैनधर्म कहांसे आया? यद्यपि जैनशास्त्र तो तमाम आर्यखण्डमे जिसमें आजकलकी सारी पृथ्वी आजाती है एक समय जैनधर्मको फैला हुआ बतलाते है। पाताललकामे जैन मदिरोका अस्तित्व शास्त्रोमें कहा गया है।

अबेसिनिया और इथ्यूपियाके निवासी बहुत प्राचीन जातिके और उनका धर्म भी प्राचीनतम माना गया है;[4] एव उनकी भाषा और लिपि करीब २ प्राचीन सस्कृत लिपिके समान ही थी।[5] तथापि उनका संबन्ध यादवोंसे भी था, यह बताया गया है। हिन्दू

१–पूर्व० पृ० १०६। २–सर विलियम जोन्स इन जैम्नोसूफिट्सको बौद्ध धर्मानुयायी बताते है (पूर्व० पृ० ६), किन्तु उस प्राचीनकालमें बौद्धोंका अस्तित्व भारतके बाहर मिलना कठिन है, क्योंकि बौद्ध धर्मका विदेशोमें प्रचार सम्राट अशोक द्वारा ही हुआ था। तिसपर सर विलियमके जमानेमें जैन और बौद्ध एक समझे जाते थे। इसलिये यहा बौद्धोंमे मतलब जैन ही समझना चाहिए। ३–इन्साइक्लोपेडिया ब्रेटिनिका भाग ३५। ४–ऐशियाटिक रिसर्चेज भाग ३ पृ० १३९। ५–पूर्व० पृ० ४–५।

शास्त्रोंके अनुसार अवेसिनिया और इथ्यूपिया वहिर कुशद्वीपमें आ जाते हैं।[1] इस कुशद्वीपमें वह एक कुशस्तंभ और दैत्य, दानव, देव, गंधर्व, यक्ष, रक्ष और मनुष्योंका निवास वतलाते हैं।[2] मनुष्योंमें चतुर्वर्ण व्यवस्था भी थी, यह भी वह कहते हैं।[3] इसी कुशद्वीपमें यादवोंका आगमन कृष्णके वाल्यकालमें कंसके भयके कारण वताया गया है। कहा गया है कि वे भारतवर्षसे निकलकर अवेसिनियांके पहाड़ोंपर आकर रहने लगे थे। उनके नेता यादवेन्द्र कहलाते थे। सो उन्हींकी अपेक्षा यह पर्वत भी इसी नामसे प्रसिद्ध हुये थे।[4] प्राचीन इथ्यूपियन निवासियोंके स्वभाव आदि इन यादवों जैसे ही थे और ग्रीक भूगोलवेत्ता भी उनका आगमन वहां भारतवर्षसे हुआ वतलाते हैं।[5] जैन हरिवंशपुराणके कथनसे भी इस व्याख्याकी पुष्टि होती है। यद्यपि वहां कृष्णसे वहुत पहले उनका आगमन यहां वतलाया गया है। वहां कहा गया है कि २१ वें तीर्थंकर श्री नमिनाथजीके तीर्थमें यदुवंशी राजा शूर थे। इन्होंने अपना मथुराका राज्य तो अपने छोटे भाई सुवीरको दे दिया था और स्वयंने कुशद्य देशमें परमरमणीय एक शौर्यपुर नामक नगर वसाया था।[6] आजकल शौर्यपुर मथुराके पास ही माना जाता है: परंतु यह ठीक नहीं है क्योंकि मथुराके आसपासका देश 'कुशद्य' नामसे कभी प्रख्यात् नहीं था। भारतमें कुशस्थल देशको कौशल किन्हीं शास्त्रोंमें वताया हुआ मिलता है,[7] किन्तु वहांभी शौर्यपुर

१-पूर्व पृ० ५५। २-३-विष्णुपुराण २-४ ३५-४४। ४-५-ऐशियाटिक रिसर्चेज भाग ३ पृ० ८७। ६-हरिवंशपुराण पृ० २०४। ७-भावदेवसूरि, पार्श्वनाथचरित्र सर्ग ५ में कुशस्थलके राजा प्रसेन-

नहीं होसक्ता; क्योंकि शौर्यपुरके निकट उद्यानमें एक गंधमादन पर्वत वतलाया है; जहांपर सुप्रतिष्ठ नामक मुनिराजको केवलज्ञानकी प्राप्ति हुई थी।[1] गंधमादन पर्वत हिमालयका पश्चिमी भाग माना जाता है;[2] परंतु उसका कोई निकटवर्ती प्रदेश भी कुशद्यदेश नहीं कहलाता है। इसके अतिरिक्त गंधमादन पर्वतका उल्लेख द्वारिकाके निकट रूपमें भी हुआ है; परंतु वहां जैनाचार्य बरड़ो पर्वत श्रेणीको ही गंधमादन मानकर वह उल्लेख करते हैं।[3] हिन्दू शास्त्र द्वारिकाको कुशस्थलीमें बतलाते हैं;[4] परतु यहा भी वही आपत्ति अगाड़ी आती है कि द्वारिकाके निकट उद्यानमें गंधमादन पर्वत नहीं था। अतएव यह कुशद्यदेश उपरोक्त कुशद्वीप अर्थात् अवेसिनिया ही होना चाहिये; जहांपर यादवोंका आना प्रमाणित है। हिन्दुओंके माने हुए कुशद्वीपमें गंधमादन पर्वतका उल्लेख भी मिलता है।[5] इसलिये अवेसिनियाको ही कुशद्यदेश समझना ठीक जंचता है। इस अवस्थामें पाताल–लका और कुशद्यदेश एक ही स्थानपर परिचित होते हैं। इसका अर्थ यह होसक्ता है कि पाताल–लंका भी उपरान्त कुशद्यदेशके नामसे प्रसिद्ध होगई थी जैसे कि हिन्दूशास्त्र पाताल-लंकाका उल्लेख कहीं करते ही नहीं है और अवेसिनिया इथ्यूपिया एवं न्यूबियाके सारे प्रदेशको कुशद्वीपमें गर्भित करते हैं; परंतु रावणके समयमें जैन ग्रन्थकार अवेसिनिया और इथ्यूपियाको पाताल-लंकाके

जित वतलाये है, पर यह राजा कौशलके थे। इसलिए यहा कुशस्यलसे भाव काशलके ही प्रगट होते हैं।

१–हरिवंशपुराण पृ० २०५। २–दी इण्डियन हिस्टॉरिकल क्वार्टरली भा० १ पृ० १३५। ३–नेमिनिर्वाणकाव्य ५३–६१। ४–महाभारत सभा० १३ अ०। ५–ऐशियाटिक रिसर्चेज भाग ३ पृ० १६७.

नामसे और न्यूबियाको कुशस्थलकी सज्ञासे उल्लेख करते प्रतीत होते है। यह भी सभव है कि जैन शास्त्रकारोके निकट अबेसिनिया कुशद्वीप रहा हो और इथ्यूपिया पाताल लंका क्योकि इथ्यूपियामें ही पाताल-लंकाके पर्वत व वन आदि मिलते हैं। अस्तु,

उस समय कुशस्थलमे वैदिक धर्मके क्रियाकाण्ड यज्ञादिका प्रचार था, यह भी पद्मपुराणमे स्वीकार किया गया है।[1] अतएव यह स्पष्ट है कि अबेसिनियामे यादव लोग भी पहुंचे थे: जिनमेंसे उपरात भगवान नेमिनाथका जन्म हुआ था और जो जैनशास्त्रोंमें जैनधर्मानुयायी बताये गए है। अबेसिनिया ही कुशद्यदेश है, इसका समर्थन यादवेन्द्र शूरसेनके पौत्र वसुदेवके वर्णनसे भी होता है। जब वसुदेव कुशद्यदेशके शौर्यपुरसे निकलकर अंगदेशके चम्पा नगरमें जाकर विद्याधरके विमानसे गिरे थे, तब उन्होंने अचंभेमें पडकर लोगोसे पूछा था कि यह कौनसा देश है? यदि मथुराके पास ही शौर्यपुर होता तो अंगदेश और चम्पाका परिचय वसुदेवको जरूर होना चाहिये था और वहापर पहुंचनेपर उन्हें विस्मित होना आवश्यक न था। साथ ही शौर्यपुरके गंधमादन पर्वतपर जो जैन मुनिको केवलज्ञान होना बतलाया गया है, वह भी ठीक है, क्योकि अबेसिनियामें जैन मुनि पहले विचरते थे, यह बात ग्रीक लोग बतलाते हैं। इस दशामें अबेसिनियाको ही पाताल-लंका मानना ठीक जंचता है। उसके शब्दार्थ भी इसी व्याख्याका समर्थन करते हैं; क्योंकि लका (मिश्र) से नीचे (अधो=पाताल)की ओर ही अबेसिनिया थी।

यदि लका मिश्र और पाताल-लंका अबेसिनिया एवं

1-पद्मपुराण पृ० ६४२।

इथ्यूपियामें थे, तो हनूमान और रामचंद्रजीको जो वहां जाते हुये मार्गमें देश पड़े थे, वह भी यथावत आज मिश्र जाते हुये मिल जाना चाहिये। पाताल लंकामे रावणके बहनोई खरदूषणको मारकर रामचन्द्र वहां विद्याधर त्रिराधितके कहने और राक्षसवशके मित्र किष्किधापुरके वानरवंशियों—सुग्रीव आदिके भयसे चले गये थे, परंतु वह वहां ज्यादा दिन नही ठहरे थे और वापिस किष्किन्धापुर सुग्रीवकी सहायता करने चले आये थे। उनका वहां अधिक दिन ठहरना भी उचित नही था; क्योकि आखिर वहां रावणका भय अधिक था और जबकि रावणको राम—लक्ष्मणके पाताल लंकामें होनेका पता चल गया था, तब उनका पाताल—लंकाकी ओरसे आक्रमण करना उचित नहीं था। सुतरां मालूम तो यह पडता है कि रामचंद्रजीके किष्किन्धा चले आनेके अन्तरालमें रावणने अपने सन्ध्याकार आदि देशोके राक्षसवंशियोंपर संदेशा भिजवा दिया था। इसकारण वे हसद्वीपसे अगाडी बढने ही नहीं पाये थे। हतभाग्यसे हमारे पास ऐसा कोई साधन नहीं है, जिससे इन देशोका पता चला सकें जिनमें राक्षसवंशज रहते थे। हां, इनमेसे रत्नद्वीपका पता अवश्य ही चलता है और यह आजकलकी लका ही है, यह हम देख चुके हैं। यह हो सक्ता है कि यह सन्ध्याकार आदि प्रदेश उस पृथ्वीपर अवस्थित हो जो अब समुद्रमें डूब गई है, क्योकि यह तो विदित ही है कि अफ्रिकासे भारतके उत्तर—पश्चिमीय तट-तक एक समय पृथ्वी ही थी।[१] अस्तु; अब यहांपर पहले हनूमा-नजीके लंका आनेके मार्गपर एक दृष्टि डाल लेना उचित है।

१. ऐशियाटिक रिसर्चेज़ भाग ३ पृ० ५२।

हनूमानजीको किष्किन्धासे चलनेपर पहले पर्वतपर अवस्थित राजा महेन्द्रका नगर मिला था। महेन्द्रपुर और पर्वत दक्षिण भारतमें ही होना चाहिये, क्योंकि हनूमान दक्षिणकी ओर चले आये थे। आजकल भी दक्षिण भारतके बिल्कुल छोरपर महेन्द्र पर्वतका अस्तित्व हमें मिलता है।[1] इस अवस्थामें महेन्द्रपुर इसी पर्वतपर अवस्थित होना चाहिये। राजा महेन्द्र अपने नगरकी अपेक्षा ही महेन्द्र कहलाता होगा। महेन्द्रपुरसे राजा महेन्द्रको किष्किन्धापुर पहुंचाकर विमानपर बैठकर अगाड़ी चलनेपर उनको दधिमुख नामक द्वीप मिला था: जिसमें दधिमुख नगर था। वहांके वनमें उन्होंने दो चारण मुनियोंको अग्निमें जलते हुए बचाया था। दधिमुख एक प्रसिद्ध शाक्य (Scythic) जाति प्रमाणित हुई है और यह 'दहय' (Dahae) कहलाती एवं जक्षत्रस नदी (Jaxatres) के उत्तरी भागके किनारोंपर रहती थी।[2] इन्हींकी अपेक्षा तमाम मध्य एशिया 'दहय-देश' के नामसे विख्यात हुआ था। इस अवस्थामें दधिमुखद्वीप समस्त मध्य एशिया होसक्ती है और उसमें दधिमुख नगर दहयजातिका निवास स्थान होसक्ता है। यहांका राजा गन्धर्व पद्मपुराणमें बताया गया है और यह नाम जाति अपेक्षा प्रकट होता है। मध्य एशिया अथवा रसातलमें गन्धर्व जाति भी रहती थी, यह प्रगट ही है।[4] अतएव दधिमुख नगर और उसका राजा आजकलके ईरान (Persia) की सरहदपर कहीं होना चाहिये। दधिमुखद्वीपके अगाडी हनूमान लंकाकी सीमापर पहुंच गये थे।

---

१. इन्डियन हिस्टॉरिकल क्वार्टर्ली भाग २ पृ० ३४९। २-३ पूर्व० भाग १ पृ० ४६०. ४. पूर्व० भाग २ पृ० २४६.

वहांपर कोटरक्षक वज्रमुखकी कन्याको परास्त करके इनने उसके साथ विवाह किया था। यहांपर जो कन्यासे युद्ध करनेका उल्लेख है, वह शायद 'स्त्रीराज्य' की स्त्री शासकोंका बोधक हो; क्योंकि मिश्र, न्यूबिया आदिके किनारेपर ही इस स्त्री-राज्यको अवस्थित खयाल किया गया है और फिर हनूमान लंकामें पहुंच जाते हैं। यहां हम पहले हनूमानको दक्षिण भारतके छोरसे समरकन्द बगदाद आदिकी ओर चलकर मध्य ऐशियाको लांघकर लंका पहुंचते अर्थात् मिश्रमें दाखिल होते पाते हैं और यह है भी ठीक। इस रास्तेमें मध्य-ऐशियाका आना जरूरी है। इस तरह भी लंकाका मिश्रमें होना ठीक जंचता है।

अब रामचंद्रजीकी लंकापर चढ़ाई ले लीजिये। पहले ही उन्हें वेलंधरपुर पहुंचा बतलाया गया है। पद्मपुराणमें देशोंके नामको हम नगरोंके रूपमें प्रायः व्यवहृत हुआ पाते हैं। उदाहरणके तौरपर रत्नद्वीप एक नगर बताया है, परन्तु वह वास्तवमें एक देश था क्योंकि वह आजकलकी लंका ही है. यह हम देख चुके हैं। इसलिये वेलंधरपुर यदि कोई देश हो तो आश्चर्य नहीं! मध्य-ऐशियामें हिन्दू शास्त्रोंका वितल प्रदेश 'आव-तेले' रूपमें बतलाया गया है।[1] और आब-नेलेका भाव उन हूण लोगोंसे है जो ऑक्सस (Oxus) नदीके किनारोंपर वसते थे[2]। वेलंधरपुर आवतेलेके हूणोंका निवासस्थान ही होसक्ता है क्योंकि वेलंधरपुरके शब्दार्थ यह होसक्ते हैं कि वेल (=आब-वेले-जाति)को

१. पूर्व० भाग १ पृ० १२५. २ दी इंडियन हिस्टोरीकल क्वारटर्ली भाग १ पृ० १३५

धारण करनेवाला पुर। तिसपर वहांके राजाका नाम जो समुद्र बताया है, वह भी इसी बातका द्योतक है। नदीके किनारेपर बसनेवालोंका राजा समुद्ररूपमें उल्लेखित किया गया प्रतीत होता है। इस अपेक्षा वेलंधरपुर मध्यऐशियामें वृहद् पामीर (Great Pamir) पर्वतके निकट अवस्थित प्रतीत होता है[1]। इस हालतमें रामचन्द्रजी बेहद उत्तरमें चले गये मालूम होते हैं किन्तु उनका इस तरह घूमकर जाना राजनीतिकी दृष्टिसे ठीक ही था: क्योंकि दक्षिणभारतके अगाडी रत्नद्वीपसे तो रावणके वंशज ही रहते थे। इसलिये घूमकर ठीक लंकापर जा निकलनेसे उनको बीचमें युद्धमें अटका रहना नहीं पड़ा था। उधरसे जानेमें एक और बात यह थी कि इन प्रदेशोंकी योद्धा जातियोंको भी वे अपना सहायक बना सके थे। तिसपर गरुडेन्द्र उनका सहायक मित्र बतलाया गया है और उपरान्त उसने उनकी सहायताको रणक्षेत्रमे सिंहवाहन और गरुडवाहन देव भेजे थे। इन गरुडके पखोंकी पवन क्षीरसागरके जलको क्षोभरूप करनेवाली और रावणके सहायक सर्पोंको भगानेवाले बताई गई है[2]। इस अवस्थामें यह गरुडवाहन कैसपियन समुद्रके निकट बसनेवाले शाक्य (Scythian) जातिके योद्धा होना चाहिये, क्योंकि इसी समुद्रको क्षीरसागर भी पहले कहते थे।[3] यद्यपि जैन शास्त्रमें गरुडेन्द्र देवयोनिका माना गया है अतएव रामचंद्रजीका इधर होकर जाना बहुत ही सूझका काम था। वेलंधरपुरसे आगे वह सुवेल पर्वतपरके सुवेलनगरमें आये कहे गये

१ प्रा० जै० १ पृ० ११८ २ पद्मपुराण पृ० ६५१. ३ दी इंडि० हिस्ट्रा० क्वार्टर्ली भाग २ पृ० ३५.

हैं। यह प्रदेश हिन्दू शास्त्रोंका सु-तल होसक्ता है, यह सु जातियों (Kidaiites or Sutribes) का निवासस्थान होनेके रूपमें इस नामसे विख्यात था[1]। इसमें आजकलका बलख भी था। यहां सुवेल विद्याधरको जीतनेका उल्लेख पद्मपुराण करता ही है। अतएव सुवेलका सु-तल होना ही ठीक जंचता है। उपरात रामचन्द्रजीने अक्षयवनमें डेरा डाले थे और वहां रात पूरी करके हंसद्वीपमें हंसपुरके राजा हंसरथको जीता था। यहीं अगाडी रणक्षेत्र माड़कर वह डट गये थे। अक्षयवन संभवतः जक्षत्रस (Jaxatres) नदीके आसपासका वन हो और इसके पास ही सुपर्ण आदि पक्षियोका निवासस्थान था[2], यह विदित ही है; यद्यपि पक्षीका भाव यहां जातियोंसे ही है। अस्तु, हंस भी एक पक्षीका नाम है, इसलिये हंसद्वीप और हंसरथसे भाव पक्षियोकी जातिसे होसक्ता है। इसके अगाड़ी जो लंकाकी सीमा आगई ख्याल की गई है वह भी ठीक है, क्योंकि राक्षसवंशजोंका एक देश हरि भी जैन पद्मपुराणमें बताया गया है[3]। आर्यवीज अथवा आर्यना (Aeriana) प्रदेश बाइबिलमें 'हर' नामसे परिचित हुआ है।[4] तथापि यहांपर हूण अथवा तातार जातिया भी रहतीं थीं, जिनमें ही राक्षसवंशी भी आजकल माने गये हैं।[5] इस हालतमें हंसद्वीपके अगाड़ी राक्षसोंका हर प्रदेश आजाता था। इसलिये रामचन्द्रजीका विरोध वहींसे होने लगा होगा, जिसके कारण वह वहींपर रणक्षेत्र रचकर डट गये थे। अतएव इस तरह भी लंकाका मिश्रमें होना ही ठीक जंचता है।

---

१ पूर्व० भाग १ पृ० ४५६. २ पूर्व० भाग २ पृ० २४३. ३ पद्मपुराण पृ० ९८ और ७७ ४ दी इडि० हिस्ट्री० क्वारटर्ली भाग १ पृ० १२१ ५ पूर्व० भाग १ पृ० ४६२.

जैन पद्मपुराणमे कैलाश और वैताढ्य पर्वतमें स्थित अर्धवरबर-देशके म्लेच्छोंका भारतपर आक्रमण करना लिखा है तथापि श्यामसुख, कर्दम, ताम्र आदि वर्णके लोगोंको कालिन्द्रीनामा नदीके किनारे वसा वतलाया है। यह अर्धवरवर प्रदेश ऐशियाटिक रसियाका बीचका भाग होसक्ता है। इसके राजाकी अध्यक्षतामें श्यामसुख आदि यहां आए थे। यह ज्ञात है कि श्यामसुखोंका एक अलग प्रदेश काली अर्थात् नील (Nile) नदीके किनारेपर ही था[1]। इसी तरह कर्दमवर्णके लोगोका कर्दमस्थान[2] और ताम्रवर्णके लोगोंका तमस-स्थान भी वहीं वतलाये गये है,[3] तथापि रावणने जो अपने आसपासके राजाओंके साथ दिग्विजयके लिये पयान किया था तो उस समय उसके साथ हिडम्ब, हैहिडिम्ब, विकट, त्रिजट, हयमाकोट, सुजट, टंक आदि लोग थे। इनमेंके हिडम्व और हैहिडिम्व संभवत. हैहय (Haihayas) होंगे, जिन्होने उत्तर कुशद्वीपके राजाओंके साथ गौतमऋषिकी सहायता करके जमदग्निको मारा था।[4] यह हैहय ईरानी (Persian) अनुमान किये गये है।[5] त्रिजट सुजट और विकट शंखद्वीप (मिश्र) के जटापर्ट और कुटितकेशँ नामक जातियोंके राजा होसक्ते है। हयमाकोट हेमकूट पर्वत जो शंखद्वीपमें था उसके निकटवासी मनुष्योंके राजा प्रतीत होते हैं और टंक टक्कका अपभ्रश मालूम होता है जो तक्षकनागके वंशज थे।[9] इसलिए टंक नाग जातिके

१ एशियाटिक रिसर्चेज भाग ३ पृ० ५३ २ पूर्व० पृ० ९३ ३ पूर्व० पृ० ९२ ४–५ एशियाटिक रिसर्चेज भाग ३ पृ० ११६. ६–पूर्व पृ० ११५. ७–पूर्व पृ० ५३. ८–पूर्व० पृ० ५३. ९–राजपूतानेका इतिहास प्रथम भाग पृ० ७३.

हूण लोग होसक्ते हैं; और जैन पद्मपुराणमें रावणके पक्षमें नागोंका होना स्वीकार किया गया है जो गरुडवाहनके आनेसे भाग गये लिखे हैं। खरदूषणके साथ त्रिपुर, मलय, हेमपाल, कोल आदि राजा थे और यह भी रावणके साथ दिग्विजयको गये थे। रावण पाताललंका होता हुआ इन राजाओंको साथ लेकर नर्मदा तटपर पहुंचा था। यह राजा मलयद्वीप (Maldiva) जो पहले बहुत विस्तृत था और भारतसे लगा हुआ था,[1] वहींके विविध देशोंके राजा माल्रूम देते हैं। वहांके त्रिकूट पर्वतके निकटवाले देशके राजा त्रिपुर, सोनेकी कानोंवाले देशके अधिपनि हेमपाल और मलयदेशके राजा मलय एवं कोल जातिके नृप कोल कहे जासक्ते हैं। नर्मदाके तटपर माहिष्मती नगरीके राजा सहस्ररश्मिसे जो वहांपर युद्ध हुआ था, यह आज भी मध्यप्रांतमें जनश्रुतिरूपसे प्रचलित है।[2] इसतरह इस विवरणसे भी रावणका निवासस्थान राक्षसद्वीप और लंका मिश्रमे प्रमाणित होते है। यह पृथ्वीरेखा (Equator) के निकट भी थे, जैसा कि अन्य शास्त्रोंमें कहा गया है।[3]

किन्हीं विद्वानोंका अनुमान है कि मध्य भारतमें अमरकण्टक पहाड़की एक चोटीपर ही रावणकी लंका थी, अन्योका कहना है कि आजकलकी लंका ही लंका है और डा० जैकोबी उसे आसाममे ख्याल करते हैं।[4] हालमें एक अन्य विद्वान्ने लकाको मलयद्वीप (Maldiva Islands) में बताया है।[5] उपरोक्त

१-दी० इन्डि० हिस्टॉ० क्वार्टली भाग २ पृ० ३४८. २-मध्यप्रातके प्राचीन जैन स्मार्क, भूमिका पृ० ६. ३-भुवनकोष १७. ४-५-इन्डि० हिस्टॉ० क्वार० भाग २ पृ० ३४५

वर्णनको देखते हुये इन व्याख्यायोंपर सहसा विश्वास नहीं किया जासक्ता ? मध्य भारत और आसाममें लंकाका अस्तित्व मानना बिल्कुल भूल भरा है। आज कलकी लंका भी रावणकी लंका नहीं है, यह हम पहले देख आये हैं। तथापि हिन्दूशास्त्रोंसे भी इस लंकाका सिंहलद्वीप होना और इसके अतिरिक्त एक दूसरी लंका होना सिद्ध है।[1] अब केवल मलयद्वीपको राक्षसद्वीप और लंका बतलाना विचारणीय है। मलयद्वीपमें भी त्रिकूट पर्वत और सोनेकी कानें होनेके कारण उसको रावणकी लंका ख्याल किया गया है, किन्तु यदि वही राक्षसद्वीप था तो फिर उसका नाम हिन्दूशास्त्रोंमें मलयद्वीप क्यों रक्खा गया ? तिसपर स्वयं हिन्दूशास्त्रोंसे उसका लंका होना बाधित है। रामायणमें कहा गया है कि रावण वरुणके देशसे बालीको छुड़ाने आया था।[2] वरुणका देश पश्चिममें यूरोपके नीचे कैस्पियन समुद्रके निकट था और बाली मध्य ऐशियामें बलिखनगरमें कैद रक्खे गये माने जाते हैं।[4] इस अवस्थामें रावणकी लंका मिश्रमें होना ही ठीक है। हिन्दू पुराणोंमें शंखद्वीपमें म्लेच्छोंके साथ राक्षसोंको रहते बताया गया है और कहा गया है कि वहां कोई भी ब्राह्मण नहीं था इस कारण प्रमोदके राजाके अनुग्रहसे पोधिऋषिने वहां वैदिक धर्मका प्रचार किया था। ब्रह्माण्ड और स्कन्दपुराणमें जो कथा राक्षसस्थानकी उत्पत्तिमें दी हुई है, वह भी उसे मिश्रके बरबरदेशके निकट बतलाती है[6] और

१–पूर्व० पृ० ३४६–३४७ २–रामायण उत्तरकांड २३–२४ ३–इन्डि० हिस्टॉ० क्वार० भाग २ पृ० २४० ४–पूर्व० भाग १ पृ० ४५६ ५–ऐशियाटिक रिसर्चेज भाग ३ पृ० १०० ६–पूर्व० पृ० १८२–१८५

इसका समर्थन ग्रीक भूगोलवेत्ता भी करते हैं, यह हम पहले देख चुके हैं। तथापि गणितशास्त्र 'गोलाध्याय' के कर्त्ता भास्कराचार्य (सन् १११५ ई०) का निम्न श्लोक भी[1] हमारे ही कथनका समर्थन करता हैः—

'लङ्काकुमध्ये यमकोटिरस्याः प्राक् पश्चिमे रोमकपट्टनं च ।
अधस्ततः सिद्धपुरं सुमेरुः सौम्येऽथ याम्ये वड़वानलश्च ॥'

यहां लङ्काके मध्य पूर्वमें यमकोटिस्थान और पश्चिममे रोमकपट्टन बतलाये हैं। इनसे अधःभागमें सिद्धपुर–सुमेरु बतलाया और दक्षिणमे बड़वानलका होना लिखा है। अब यदि हम मिश्रमें ही लंका मान लेते हैं तो यमकोटि, जो सभवतः यमका स्थान ही है, वह लकाके मध्यपूर्वमें मिल जाता है। हिंदुओंके पद्म और भागवतपुराणमें जो कृष्णके गुरु काश्यपकी स्त्रीकी खोजमें कृष्णके जानेकी कथा है उसमें कृष्णके वराहद्वीप (यूरोप) की ओर जानेपर वरुणके कहनेसे वह वहांसे नीचे उतरकर यमपुरीमें पहुंचे थे।[2] कृष्ण भारतसे उधर गये थे; इसलिये मध्य एशिया आदि प्रदेश तो वह लांघ गए थे और इस अवस्थामें यूरोपकी सीमासे उनका नीचेको आगमन अफ्रीकामें ही होसक्ता है। इसलिए यमपुरी लंका (वरबर स्थान–मिश्र) के मध्यपूर्वमें होसक्ती है। आगे रोमकपट्टन जो पश्चिममें बतलाई गई है वह भी ठीक है। यह रोमकपट्टन आजकलका रोम (Rome) है और यह उत्तर पश्चिममें स्थित वराहद्वीप (यूरोप) में था।[3] इसलिये यह भी ठीक मिल जाता है। अधो-

---

१–भुवनकोष १७ २–ऐशियाटिक रिसर्चेज भाग ३ पृ० १७९
३–पूर्व० पृ० २३१

भागमें सिद्धपुर और सुमेरुपर्वत बतलाये गये हैं। हिन्दुओंका यह सुमेरुपर्वत आजकलका हिंदूकुश पहाड़ है[1] और इसके पास शायद कहीं सिद्धपुर होगा और यह मिश्रसे नीचेको उतरकर ही है। इसलिये यह भी भास्कराचार्यके कथनानुसार ठीक मिलते है। अब रहा सिर्फ बड़वानल अर्थात् पृथ्वीकी मध्य रेखा (Equator) सो मिश्रसे दक्षिणकी ओर अफ्रीकामें होकर यह निकाला ही है। इस दशामें भास्कराचार्यके अनुसार भी मिश्र ही लंका प्रमाणित होती है।

इन बातोंको देखते हुये लंकाको मलयद्वीपमें बतलाना ठीक नहीं है। कमसे कम जैनशास्त्रोंके अनुसार तो उसका अस्तित्व मिश्रदेशमे ही प्रमाणित होता है। मलयद्वीप तो उससे अलग था, यह हमारे उपरोक्त वर्णनसे प्रकट है। अस्तु:

प्राचीनकालमें मिश्रमें जैनधर्मका अस्तित्व होना भी प्रमाणित है। एक महाशयने वहांके एक राजाको जैनधर्मानुयायी लिखा भी था।[2] वहांके प्राचीन धर्मका जो थोड़ा बहुत ज्ञान हमें मिलता है उससे भी सिद्ध होता है कि यहां पहले जैनधर्म अवश्य रहा होगा। सबसे मुख्य बातें जो मतमतान्तरोंमें प्रचलित है वह आत्मा और परमात्माके स्वरूप सम्बन्धमें हैं। सौभाग्यसे इन विषयोंमें मिश्रवासियोंका प्राचीन विश्वास करीब २ जैनधर्मके समान था। प्राचीन मिश्रवासी जैनियोंके समान ही परमात्माको सृष्टिका कर्त्ता हर्ता नहीं मानते थे।[3] उसे वे संपूर्णतः पूर्ण और सुखी (Infinitely perfect and happy) मानते थे और वह

१—एन्टि० हि० क्वार्टर्ली भाग १ पृ० १२५ २—अग्रवाल इतिहास पृ० ३—मिस्ट्रीज ऑफ श्री० मेसनरी पृ० २७१

केवल एक ही स्वतंत्र व्यक्ति नहीं था अर्थात उनके निकट अनेक परमात्मा थे।[१] मिश्रवासी आत्माका अस्तित्व भी स्वीकार करते थे और उसका पशुयोनिमें होना भी मानते थे।[२] उसके अमरपनेमें भी विश्वास रखते थे। यह सब मान्यतायें बिलकुल जैनधर्मके समान हैं। भगवान मुनिसुव्रतनाथ और फिर भगवान नमिनाथके तीर्थोंके अन्तरालमें यहां जैनधर्मका विशेष प्रचार था, यह जैन-शास्त्रोसे प्रकट है। तथापि यूनानवासियोकी साक्षीसे मिश्रके निकटवर्ती अवेसिनिया और इथ्यूपिया प्रदेशोमें जैन मुनियोका अस्तित्व आजसे करीब तीन हजार वर्ष पहिले भी सिद्ध होता है।[३] इस दशामे उक्त सादृश्यताओको ध्यानमे रखते हुये यदि यह कहा जावे कि मूलमें तो मिश्रवासियोंका धर्म जैनधर्म ही था, परन्तु उपरांत अलंकारवादके जमानेकी लहरमें उसका रूप विकृत होगया था तो कोई अत्युक्ति नहीं है। यह विदित ही है कि मिश्र, मध्य एशिया आदि देशोमें अलंकृत भाषा और गुप्तवाद (Allegory)का प्रचार होगया था और धर्मकी शिक्षा इसी गुप्तवादमे दी जाती थी।[४] मिश्रवासियोकी अलकृत भाषा और उनकी गुप्त बातें (Mystries) बहु प्राचीन हैं।[५] इन गुप्त बातोको जाननेके अधिकारी मिश्रमें पुरोहित और उनके कृपापात्र ही होते थे।[६] यह पुरोहित बड़े ही सादा मिजाज़ और सयमी होते थे।[७] यह साधारण लोगोंको ऐसी शिक्षा देते थे जिससे उनको अपने परभव और पुण्य-पापका भय

१-मिस्ट्रीज ऑफ फ्री मैसनरी पृ० २७१ २-दी स्टोरी ऑफ मैन पृ० १८७ ३-ऐशियाटिक रिसर्चेज भाग ३ पृ० ६ ४-सपलीमेन्ट टू कान्फल्यून्स ऑफ ऑपोजिट्स पृ० १-६ ५-दी स्टोरी ऑफ मैन पृ० १७३ ६-७-पूर्व० पृ० १५१

इसिस उसकी लाशको ढूंढ निकालती है और ओसिरिसके पुत्र होरसकी सहायतासे उसे पुन. जीवित करके परमात्मपदमें पघरवा देती है, जहां वह अमर जीवनको प्राप्त होता है।[1] इसिस ओसिरिसको ढूंढती हुई अपने पर्यटनमें सब कठिनाइयो आदिका मुकाबिला करती है और इसी लिए उसने गुप्तवादको जन्म दिया है कि उसके चित्रपटको देखकर हरकोई उन कठिनाइयोंको सहन करनेकी शिक्षा ग्रहण कर ले, जो कि उसे आशाकी रेखाके दर्शन करा दे।[2] इसमें शक नहीं कि यह गुप्तवाद एक नवीन सुखमय जीवनको प्राप्त करनेका मार्ग बतानेवाला है। अस्तु· उपरोक्त कथानकमे ससारी आत्माके मोक्षलाभ करनेका ही विवरण है। ओसिरिस शुद्धात्माका द्योतक है, जो पुद्गल (सेठ) के वशीभूत होकर अपने स्वाभाविक जीवनसे हाथ धोकर भवसागरमें (नीलमें) रुलता फिरता है। इस भवसागरमे शुद्धात्माको तपश्चरणकी कठिनाइयां सहन करनेवाले और सर्वथा ध्यान करनेवाले ऋषिगण ही पासक्ते हैं। इसलिए इसिस ऋषिगणका ही रूपान्तर है। ऋषि और भ्रष्ट शुद्धात्मासे ही तीसरा व्यक्ति अर्हत् (Horus=होरस) उत्पन्न होता बतलाया गया है. क्योंकि ऋषिगणके लिये अर्हत्पद ही एक द्वार है जो उसे शुद्ध—बुद्धबनाकर परमात्मपदमें पघरवा देता है। इसलिये ओसिरिस अन्तत सिद्धपरमात्मा ही है! अर्हत् और होरस शब्दकी सादृश्यता भी भुलाई नहीं जासक्ती; यही बात ऋषि और इसिस शब्दमें है। ओसिरिस भी सिद्ध शब्दका रूपान्तर होसक्ता है। यसिरिस (Ysiris) रूपमें उसकी सदृशता

१–कान्नल्यूनस ऑफ ऑपोजिट्म पृ० २४८ २–पूर्व० पृ० २४७

सिद्ध शब्दसे मिल जाती है। इस शब्दका भाव मिश्रवासियोंके निकट परमात्मा (Superme Being) से था, यह हेलानिकस नामक ग्रीक विद्वान् बतलाता है।[1] इसतरह हमारे ख्यालसे मिश्रके तीन देवता सिद्ध, साधु और अरहंत ही हैं। होरस (Horus) की जो एक मूर्ति देखनेमें आई है,[2] वह भी इस व्याख्याका समर्थन करती है। वह बिल्कुल नग्न खड्गासन है; शीशपर सर्पका फण है जैसा कि जैन तीर्थंकर पार्श्व और सुपार्श्वकी मूर्तियोमें मिलता है; किन्तु जैनमूर्तिसे कुछ विलक्षणता है तो सिर्फ यही कि उसके दोनो हाथोंमे दो २ सर्प और एक कुत्ता व एक मेंढा है तथापि वह मगर मच्छके आसनपर खड़ी है। वैसे मूर्तिकी आकृतिसे भयकरता प्रकट नहीं है, प्रत्युत गभीरता और शांति ही टपक रही है। यहापर सर्पो आदिको हाथोंमें लिये रखनेसे गुप्त-संकेत रूपमें (Hieratic Symbols) इन देवताके स्वरूपको स्पष्ट करना ही इष्ट होगा। चार सर्पोसे भाव अनन्तज्ञान, अनन्तदर्शन, अनन्तसुख और अनन्तवीर्यसे होसक्ता है; क्योकि सर्पको मिश्रवासियोंने बुद्धि और स्वास्थ्यका चिन्ह माना था। इसी तरह कुत्ते और मेंढेका कुछ भाव होगा। साराशत होरसकी मूर्ति भी जैन मूर्तिसे सदृशता रखती थी। वह मूलमें नग्न थी, जो मोक्ष प्राप्तिका मुख्य लिङ्ग है। प्राचीन और जैन मूर्तियोंकी आकृति भी मिश्रके मूल निवासियों (Negro) से मिलती हुई अनुमान की गई है।[3] किन्हीका कहना है कि एक कुटिलकेश नामक नीग्रो

१–ऐशियाटिक रिसर्चेज भाग ३ पृ० १४१ २–दी स्टोरी ऑफ मैन पृ० २१० ३–ऐशियाटिक रिसर्चेज भाग ३ पृ० १२२–१२३

जाति पहले भारतमें मौजूद थी और यह जैन मूर्तियां उन्हीं द्वारा निर्मित हुई थी ।[१] किन्तु साथमें यह भी ध्यानमें रखनेकी बात है कि २२वें और २३वें तीर्थंकरोंके शरीरका वर्ण भी जैन शास्त्रोंमें नील बतलाया गया है । मथुरासे जो प्राचीन जैन मूर्तियां आदि निकली है उनकी भी सदृशता मिश्र देशके ढगसे है । खासकर उनमें जो चिन्ह थे वह मिश्रदेश जैसे ही थे ।[२] मिश्रदेशमे जो क्रास (Cross) चिन्ह माना जाता है[३] वह अन्य देशोंसे भिन्न समकोणका होता था (+), यह जैनस्वस्तिकाका अपूर्णरूप है । मिश्रवासी अपनेको ज्योतिषवादके सृष्टा समझते थे और उनके निकट ज्योतिषका महत्व अधिक था,[४] यह खासियत भी जैनधर्मसे सदृशता रखती है। जैनधर्मकी द्वादशाङ्गवाणीके अतरगत इसका विशद विवरण दिया हुआ था, जिसका उल्लेख श्रवणबेलगोलके भद्रबाहु-वाले लेखमें भी है ।[५] बौद्धोंके प्रख्यात् ग्रन्थ 'न्यायविन्दु'में जैन तीर्थंकरो ऋषभ और महावीर वर्द्धमानको ज्योतिषज्ञानमें पारगामी होनेके कारण सर्वज्ञ लिखा है ।[६] साथ ही मिश्रवासियोंका जो स्फटिक चक्र[७] (Zodiacal stone at Denderah) डेन्डेराहमें है वह जैनियोंकि ढ़ाईद्वीपके नकशेसे सदृशता रखता है । मिश्रकी प्रख्याति मेमननकी मूर्ति (Statue of Memnon) की एक विद्वान् 'महिमन' की जिनको हम महावीरजी समझते है, उनकी, बतलाते है ।* अतएव इन सब बातोंसे मिश्रदेशमें किसी समय

१-ऐशियाटिक रिसर्चेज भाग ३ पृ० १२२-१२३ २-'ओरियन्टल', अक्टूबर १८०२, पृ० २३-२४ ३-स्टोरी ऑफ मैन पृ० १७२ ४-पूर्व० पृ० १८७ ५-भद्रबाहु व श्रवणबेलगोल-इन्डियनएन्टीक्वेरी भाग ३ पृ० १५३ ६-न्यायविन्दु अ० ३ ७-स्टोरी आफ मैन पृ० २२६ ऐशियाटिक रिसर्चेज भाग ३ पृ० १९९

जैनधर्मका अस्तित्व होना भी सम्भवित होजाता है। इस अवस्थामें जो हम लंकाको वहां पाते है वह ठीक ही है। स्वयं हिन्दू शास्त्र भी इस बातको अस्पष्टरूपमें स्वीकार करते हैं। वह पहले शंख-द्वीप (मिश्र) मे ब्राह्मणोंका अस्तित्व नही बतलाते हैं और राक्षसों एवं म्लेच्छोंको बसते लिखते हैं,[1] जो जैन ही थे, जैसे कि हम पहले बतला चुके हैं। इसके अतिरिक्त 'वृहद हेम' नामक हिन्दू शास्त्रमें, पांडवोंका शंखद्वीपमें काली तटपर आना लिखा है। वहांपर उन्हें एक त्रिनेत्रवाला मनुष्य राजसी ठाठसे उपदेश देता मिला था, जिसके चारों ओर मनुष्य और पशु बैठे हुए थे। यही उपरांत 'अमानवेश्वर' नामसे ज्ञात हुआ था।[2] यह वर्णन जैन तीर्थंकरकी विभूतिसे मिल जाता है। तीर्थंकर भगवान भूत, भविष्यत् वर्तमानको चराचर देखनेवाले रत्नत्रयकर सयुक्त सम्राटोसे बड़ी चढ़ी विभूतिरूप समवशरणमें मनुष्यों और पशुओ और देवों, सबहीको समानरूप उपदेश देते हैं, यह प्रगट ही है। अतएव हिन्दू शास्त्र यहां परोक्षरूपमें जैनधर्मका ही उल्लेख करता प्रतीत होता है। इस तरह लङ्काका मिश्रमें होना ही उचित जंचता है।

लंकासे पातालपुर समुद्र भेदकर जाया जाता था, यह पद्म-पुराणके उल्लेखसे स्पष्ट है। आजकल पातालपुर सोगडियन देश (Sogdiana) की राजधानी अश्म अथवा अक्षयना (Oxiana) का रूपान्तर बतलाया गया है।[3] परन्तु हिन्दूशास्त्रोंमें पातालपुर एक नगरके रूपमें व्यवहृत है और जैनशास्त्र इसे एक प्रदेश बतलाते हैं;

१-ऐशियाटिक रिसर्चेज भाग ३ पृ० १०० २-पूर्व० पृ० १७५
३-इन्डि० हिस्टॉ० क्वार्टर्ली भाग १ पृ० १३६

जिसकी राजधानी पुण्डरीकणी नगरी थी। हिन्दू पुराणोंमे पाताल इसी भावका द्योतक है और यह वहां 'नि-तल' के पर्यायवाची रूपमें व्यवहृत हुआ है।[१] इसलिये सोगडियनदेश ही पाताल था। श्वेतहूणोंके लिये व्यवहृत 'इफथैलिट्स' (Ephthalites) शब्दसे पातालकी उत्पत्ति हुई बतलाई गई है और इस पातालमें सारी मध्य एशियाका समावेश होता बतलाया गया है।[२] श्वेतहूण अथवा इफथैलिट्स जक्षरतसका (Iaxartes) की उपत्यिकामें बसनेवाली एक बलवान जाति थी, जिसने सिकन्दर आजमके बहुत पहले भारतपर चढ़ाई की थी और वह पंजाब एवं सिंधमें बस गई थी।[३] स्कंधगुप्तके जमानेमें भी उनके वंशजोंने भारतपर आक्रमण किया था।[४] इफथैलिट्सके लिये हिन्दुओंने इलापत्र शब्द व्यवहारमें लिया था। इलापत्रका अपभ्रंश 'अला' और 'पाता' होता है, जिसको पलटकर रखनेसे पाताल शब्द बना हुआ आजकल विद्वान बतलाते हैं।[५] सिंधमें इन्हीं लोगोंके बसनेके कारण यूनानी इतिहासवेत्ताओंने सिंध प्रदेशको पातालेन (Patalene) और उसकी राजधानीको पाताल लिखा है।[६] इस तरह समग्र पाताल अथवा रसातल पूर्वमें बृहद् पामीर (Great Pamir) पश्चिममें बेबीलोनिया, उत्तरमें कैस्पियन समुद्रके किनारेवाले देशों और जक्षरतस नदी एवं दक्षिणमें सम्भवतः भारत महासागरसे सीमित था।[७]

इस विवरणसे पातालपुर कैस्पियन समुद्रके पास अवस्थित प्रमाणित होता है। जिससे वहांतक पहुंचनेमें कैस्पियन समुद्र

१-पूर्व प्रमाण २-पूर्व० पृ० ४५९ ३-४-पूर्व प्रमाण ५-६-पूर्व० ...पृ० ४०७

बीचमें आसक्ता है, इसलिये वहांपर हनूमानका समुद्र भेदकर जाना लिखा है, वह ठीक है। उपरांत वहांपर भवनोन्माद वनमें समुद्रकी शीतल पवनका आना बतलाया है[1] वह भी इस बातका द्योतक है कि पाताल समुद्रके किनारे था, किन्तु वहाके राजा वरुण और राजधानी पुण्डरीकणीके विषयमें हम विशेष कुछ नहीं लिख सक्के हैं। अतएव जैन पद्मपुराणके अनुसार भी पाताल वही प्रमाणित होता है जो आजकल विद्वानोंको मान्य है।

जैन 'उत्तरपुराण'से भी इसी बातका समर्थन होता है। वहां प्रद्युम्नको विजयार्धकी दक्षिण श्रेणीके मेघकूट नगरमें स्थित बतलाया है। वहांसे उसे बराह बिलमें गया लिखा गया है, जहां उसने वराह जैसे देवको वश किया था। अगाड़ी वह काल नामक गुफामें गया जहां महाकाल राक्षसदेवको उसने जीता था। वहांसे चलकर दो वृक्षोंके बीचमें कीलित विद्याधरको उसने मुक्त किया था। फिर वह सहस्रवक्त्र नामके नागकुमारके भवनमें गया था और वहा शंख बजनेसे नाग-नागनी उसके सम्मुख प्रसन्न होकर आए थे। उन्होंने धनुष आदि उसे भेंट किये थे। वहासे चलकर कैथवृक्षपर रहनेवाले देवको उसने बुलाया और उस देवने भी उसको आकाशमें लेजानेवाली दो चरणपादुकायें दीं। अगाड़ी अर्जुनवृक्षके नीचे पाच फणवाले नागपति देवसे उसने कामके पांच बाण प्राप्त किए। वहांसे चलकर वह क्षीरवनमें गया; वहाके मर्कटदेवने भी उसे भेंट दी थी। आखिर वह कंदवकमुखी बावड़ीमें पहुंचा था और वहांके देवसे नागपाश प्राप्त किया था।

१ पद्मपुराण पृ० ३१२...

फिर वह पातालमुखी वावड़ीमे पहुंचा था, वहांपर उसे नारद मिले थे और भारत लिवा ले गये थे।[1] विजयार्ध पर्वतको हम उत्तर ध्रुवमे पहले बता चुके है। अस्तु, वहासे चलकर पहले वराहद्वीप अर्थात् यूरोपका आना ठीक है। वराहविल वराहद्वीपका रूपान्तर ही है। कालगुफामें राक्षसदेव बतलाया है सो यह गुफा अफ्रीका या मिश्रदेशमें होना चाहिये, क्योंकि राक्षसोंका निवास हम वहीं पाते हैं और यूरोपके नीचे यह आता भी है। तिसपर यहांके निवासी त्रिगलोडेट्स (Triglodytes) गुफाओंमें रहते थे।[2] इस कारण इसका गुफारूपमें उल्लेख होना उचित ही था। कालगुफासे विद्याधरको मुक्त करके प्रद्युम्नका नागकुमारके भवनमें जाना लिखा है सो यहांसे उनका नागलोक अथवा पातालमें पहुंचना ही समझ पड़ता है। सहस्रवक्त्र संभवत सु अथवा किडेरिट्स (Kiderites) जातिके लोगोंका परिचायक है, जो नागलोग या पातालके एक सिरेपर बसते थे।[3] और नाग शब्द 'हियङ्ग-नु' (Hiung-nu) शब्दका बिगड़ा रूप बतलाया गया है, जो हूण लोगोंका प्राचीन नाम था। सुजातिकी भी गणना हूणोंमे है।[4] इसलिये इनका उपरोक्त प्रकार नाग बतलाना ठीक है। अगाड़ी वृक्षोंका उल्लेख है सो पातालमें काश्यपसे इनकी उत्पत्ति भी बतलाई गई है।[6] कैथ वृक्ष वाले देवसे भाव शायद कुर्द अथवा कार्डुकी[7] (Carduchi) जातिके अधिपतिसे हो जो वहां निकटमें बसती थी। इसी तरह

१ उत्तरपुराण पृ० ५४५-५४७। २ एशियाटिक रिसर्चेज भाग ३ पृ० ५६। ३. इन्डि० हिस्टॉ० क्वार्टर्ली भाग १ पृ० ४५६। ४. पूर्व० भाग २ पृ० ३६। ५. पूर्व० भाग १ पृ० ४५७-४५८। ६-पूर्व० भाग २ पृ० २४३। ७-पूर्व पृ० ३६।

अर्जुनवृक्षपरका पांच फणवाला नागपति 'अजि' (Azi)[1] जातिके राजाका द्योतक प्रतीत होता है। इसीका अपभ्रंशरूप 'अहि' है, जो नागका पर्यायवाची शब्द है। अगाड़ी क्षीरवनका जो उल्लेख है वह क्षीरसागर अर्थात् कैस्पियन समुद्रके तटवर्ती भूमिका द्योतक है। कैस्पियन समुद्रको पहले 'शिरवनका समुद्र' कहते थे, जो क्षीरवनसे सदृशता रखता है।[2] यहांका मर्कट देव मस्सगटे (Massagatae) जातिका अधिपति होना चाहिये; क्योंकि यह जाति कैस्पियन समुद्रके किनारे पूर्वकी ओर वसती थी।[3] तथापि मर्कट और मस्सगटै नाममें सदृशता भी है। साथ ही यह भी दृष्टव्य है कि प्रद्युम्न पाताल लोकमें चल रहा है और कालगुफासे अगाडी उसका सात प्रदेशोंको लांघकर भारत पहुंचना लिखा है। अतएव यह सात प्रदेश पातालके सात भागोंका ही द्योतक है। इसलिये यहांकी बसनेवाली उक्त जातियोंके लोग ही उसे मिले होंगे। इनको देव योनिका मानना उचित नहीं है, यह पद्मपुराणके कथनसे स्पष्ट है। अस्तु, मर्कटसे मिलकर अगाड़ी प्रद्युम्न कंदवकमुखी बावड़ीमें पहुंचे थे वहांका देव नाग शायद कास्पी जातिका हो। कापोतसर (Lake Urumiah)[4] सभवतः कंदवक वावड़ी हो। यह कास्पी लोग बड़े वलवान थे। इनमें सत्तर वर्षसे अधिक वयके वृद्धोको जंगलमें छोड़कर भूखो मारनेके नियमका उल्लेख स्ट्रैबो करता है।[5] जैनशास्त्रोंमें मनुष्यके लिये ब्रह्मचर्य, गृहस्थ और वानप्रस्थ आश्रमोंसे गुजरकर सन्यास आश्रममें पहुंचना आवश्यक वतलाया है।

१-पूर्व० पृ० ३७। २-पूर्व० पृ० २३८। ३-पूर्व० भाग १ पृ० ४६१। ४पूर्व० भाग २ पृ० २४५। ५-इन्डि० हिस्टा० क्वारटर्ली भाग २ पृ० ३३-३४।

जैनशास्त्र ऐसे उदाहरणोंसे भरे पड़े हैं जिनमें वृद्धावस्थाके आते ही लोगोने सन्यासको धारण किया है। सन्यासमें शरीरसे ममत्व रहता ही नहीं है और अन्ततः सल्लेखना द्वारा समाधिमरण करना आवश्यक होता है। काश्पी लोगोंमें ऐसा ही रिवाज प्रचलित होगा। इसी कारण स्ट्रेबो उसका उल्लेख विकृतरूपमें कर रहा है। आजकल भी अनेक विद्वान् जैन सल्लेखनाका भाव भूखों मरना समझते हैं; किन्तु वास्तवमें उसका भाव आत्मघात करनेका नहीं है। कंदवक वावड़ीसे प्रद्युम्न पातालमुखी वावड़ीमें पहुंचे थे। इसका नाम अन्तमें लिया गया है, इसलिये संभव है कि यह रसातल अथवा रसा-तेले (Rasa-tele) होगा जो रसा अर्थात् अक्षरतस नदीकी उपत्यिका थी[1] और यहासे भारतकी सरहद भी बहुत दूर नहीं रह जाती थी, क्योंकि अफगानिस्तान यहासे दूर नहीं है, जो पहले भारतमें सम्मिलित और उसका उत्तर पश्चिमीय सीमा प्रान्त था।[2] इसप्रकार उत्तरपुराणके कथनसे भी पाताल अथवा नागलोकका मध्य एशियामें होना प्रमाणित होजाता है; जैसा कि आजकल विद्वान् प्रमाणित करते हैं, किन्तु इतना ध्यान रहे कि जैन दृष्टिसे यह पाताल लोक देव योनिका पाताल नहीं है बल्कि विद्याधरके वंशजोंका निवास स्थान है।

आजकलके विद्वान मध्यएशियामें बसनेवाली उपरोक्त जातियोंको अनार्य समझते हैं।[3] परन्तु जैनदृष्टिसे वह अनार्य नहीं हैं; क्योंकि पहले तो वह आर्यखण्डमें वसते थे इसलिए क्षेत्र अपेक्षा वे आर्य थे और फिर यह लोग अपनेको काश्यपका वंशज बत-

१-प्रं० भाग १ पृ० ८७६। २-कनिंघम, ए० जाग० इन्डिया, पृ० १००-१०३ और नोट पृ० ६७९। ३-इन्डि० हिस्टो० क्वार्टर्ली भाग २-पृ० २४०।

लाते हैं। काश्यप जैन तीर्थंकरोका गोत्र रहा है और भगवान ऋषभदेव काश्यपसे नमि-विनमि राजा राज्याकांक्षा करके विजयार्ध पर्वतीय देशोके अधिकारी हुये थे और वही क्रमशः इन सब प्रदेशोंमें फैल गए, यह हम पहले बतला चुके हैं। अतएव इस दृष्टिसे उनका कुछ अपेक्षा भी आर्य होना सिद्ध है। जैन तीर्थंकरोंकी अपेक्षा ही कैस्पिया आदि नाम पडना आधुनिक विद्वान् भी स्वीकार करते हैं।[१] स्वय जेरूसालमके एक द्वारका नाम वहांपर जैनत्वको प्रकट करनेवाला था।[२] ओकसियाना (Oxiana), बलख और समरकन्दमें भी जैनधर्म प्रकाशमान रहचुका है। (देखो मेजर जनरल फरलांगकी शार्टस्टडीज पृ० ६७) बेबीलोनियाका 'अररत' नामक पर्वत 'अर्हत्' शब्दकी याद दिलानेवाला है।[३] अर्हन् शब्दको यूनानवासी 'अरनस' (Urna-), रूपमें उल्लेख करते थे।[४] जैनधर्म एक समय सारे एशियामे प्रचलित था, यह वहाके जरदस्त आदि धर्मोंकी जैनधर्मसे एकाग्रता बैठ जानेसे प्रकट है।[५] सुतरां आजकलके पुरातत्व अन्वेषकोने भी इस बातको स्वीकार किया है कि किसी समयमें अवश्य ही जैनधर्म सारे एशियामें फैला हुआ था।[६] उत्तरमें साइबीरियासे दक्षिणको रासकुमारी तक और पश्चिममे कैस्पियन झीलसे लेकर पूर्वमें कमस्करकाकी खाडी तक एक समय जैनधर्मकी विजयवैजयन्ती उड्डायमान थी। तातारलोग 'श्रमण' धर्मके माननेवाले थे, यह प्रकट है। (देखो पीपल्स ऑफ नेशन्स भाग १ पृ० ३४३)

१-रालिन्सन-सेन्ट्रल ऐशिया २४६ और अ० जैनगजट भाग ३ पृ० १३। २-मेजर जनरल फरलागकी "शार्टस्टडीज" पृ० ३३। ३-स्टोरी ऑफ मैन पृ० १४३। ४-एशियाटिक रिसर्चेज भाग ३ पृ० १५७। ५-असहमतसगम देखो। ६-डुबाई, डिस्क्रिपशन आफ दी कैरेक्टर ..आफ पीपुल आफ इन्डियाकी भूमिका।

और श्रमण धर्मके नामसे जैनधर्म भी परिचित है। (कल्पसूत्र पृ० ८३) इसलिये तातार लोगोका मूलमें जैनी होना भी संभव है। तिसपर ईरान और अरब तो तीर्थ रूपमे आज भी लोगोके मुंहसे सुनाई पडते हैं। श्रवणबेलगोलके श्री पंडिताचार्य महाराजका कहना था कि दक्षिण भारतके जैनी मूलमें अरबसे आकर वहां बसे थे। करीब २५०० वर्ष पूर्व वहांके राजाने उनके साथ घोर अत्याचार किया था और इसी कारण वे भारतको चले आये थे। (देखो ऐशियाटिक रिसर्चेज भाग ९ पृ० २८४) किन्तु पडिताचार्यजीने इस राजाका नाम पार्श्वभट्टारक वतलाया एवं उसी द्वारा इस्लाम धर्मकी उत्पत्ति लिखी है वह ठीक नहीं है। 'ज्ञानानंद श्रावकाचार'मे भी मक्कासे मस्करी द्वारा इस्लाम धर्मकी उत्पत्ति लिखी है, वह भी इतिहास वाधित है। किन्तु इन उल्लेखोंसे यह स्पष्ट है कि एक समय अरबमें अवश्य ही जैनधर्म व्यापी होरहा था। इस तरह ईरान, अरब और अफगानिस्तानमें भी जैनधर्मका अस्तित्व था;[1] वल्कि दधिमुख द्वीपमे चारणमुनियोंका उपसर्ग निवारण स्थान तो ईरानमें ही कहींपर था, यह हम पहले देख चुके है। मध्यएशियाके अगाडी मिश्रवासियोंमें तो जातिव्यवस्था भी मौजूद थी, जो प्राय: क्षत्री, ब्राह्मण, वैश्य, शूद्र और चण्डालरूपमें थी।[2] इसलिए इन लोगोको अनार्य कहना जरा कठिन है। हां, पातालवासी उपरोक्त काश्यपवंशी जातियोंके विषयमें यह अवश्य है कि वडे२ युगोंकि अन्तरालमें और अपने मूल देश विजयार्धको छोड़कर चल निकलनेपर द्रव्य, क्षेत्र, काल, भावके प्रभाव अनुसार यह अपने प्राचीन रीतिरिवाजोंको पालन

१-राइस, मालावर क्वार्टर्लीरिव्यू भाग ३ और इन्डियन सैक्ट आफ नोट। २-स्टोरी आफ मैन पृ० १८८।

करनेमें असमर्थ रहे हों। सारांशतः पातालमें बसनेवाले नागवंशी मूलमे आर्य थे और उन्हें जैनधर्ममें प्रतीति थी तथापि भगवान पार्श्वनाथजी पर फणका छत्र लगाकर जिस राजाने अहिच्छत्रमे उनकी विनय की थी वह भी इसी वंशका था। वह धरणेन्द्रके साथ नाम सामान्यताकी अपेक्षा ही भुला गया दिया है। धरणेन्द्रके पर्यायवाची शब्द नागपति, अहिपति, फणीन्द्र आदि रूपमे थे और यह नागवंशी राजाओके लिये भी लागू थे; क्योकि हम जान चुके है कि इन जातियोंमें की ह्युङ्ग-नु जातिसे नाग शब्दकी और अजि जातिसे अहि शब्दकी उत्पत्ति हुई थी। उरग-नागोका[1] अधिपति जो उसे बताया है, वह उनकी 'ऊइगरस' (Uigurs)[2] जातिकी अपेक्षा होगा तथापि फणीन्द्र भी इन्हींमेकी एक जाति फणिक अथवा पणिकके राजाका सूचक है।[3] पणिक या फणिक एक विदेशी जाति थी, यह एक जैन कथासे भी प्रकट है। इस कथामें फणीश्वर शहरके राजा प्रजापालके राज्यमें सेठ सागरदत्त और सेठाणी पणिकाका पुत्र पणिक बतलाया गया है। यह सेठपुत्र पणिक कदाचित् भगवान महावीरके समवशरणमे पहुंच गया और उनके उपदेशको सुनकर यह जैन मुनि होगया। अन्तः गंगाको पार करते हुये नांवपरसे यह मुक्त हुआ था।[4] यहां पर देश, सेठाणी और सेठपुत्रके नाम पणिक-वाची हैं; जो उनका सम्बन्ध पणिक जातिसे होना स्पष्ट कर देते हैं। राजा और सेठके नाम केवल पूर्तिके लिये तद्रूप रख लिये गये प्रतीत होते हैं। पणीश्वर शहर फॅानीशिया (Phoenecia)

१-पार्श्वाभ्युदयके टीकाकार योगिराट् यही लिखते हैं, यथा— 'नागराजन्य साक्षात् नागाना राजानः **उरगेन्द्राः** तेषामपत्यानि नागराजन्याः।' पृ० २६५। २-इन्डि० हिस्टॉ० क्वार्टर्ली भाग १ पृ० ४६०। ३-पूर्व० भाग २ पृ० २३२-२३५। ४-आराधना कथाकोष भाग २ पृ० २४३

देशका रूपान्तर ही है और पणिक एवं पणिका स्पष्टत. पणिक जातिकी अपेक्षा है। पहले कुल और जाति अपेक्षा भी लोगोंके नाम रक्खे जाते थे, यह हम देख चुके हैं। अतएव इस कथाके पणिकमुनि पणिक जातिके ही थे, यह स्पष्ट है। इस कथासे पणिकोंका व्यापारी होना तथा भगवान महावीरस्वामीके समय विदेशसे आना भी प्रगट होता है. क्योंकि यदि वह व्यापारी न होते तो उनका सेठरूपमें लिखना वृथा था और वह यहां अपनी जाति अपेक्षा प्रख्यात हुये, यह उनका विदेशी होनेका द्योतक है। यदि वह यहींके निवासी होते तो उनकी प्रख्याति जाति अपेक्षा न होकर दीक्षित नामके रूपमे होना चाहिये थी। अस्तु; पणिक या फणिक जातिकी अपेक्षा इस जातिके राजा फणीन्द्र भी कहलाते थे और यह मनुष्योंके नागलोकमें रहते थे, इसलिये नागकुमारोंके इन्द्र धरणेन्द्रका उल्लेख सदृशताके कारण फणीन्द्ररूपमे हुआ मिलता है। यहापर यह दृष्टव्य है कि पहले विदेशी लोगोंको जैनधर्म धारण करने और मुनि होकर मुक्तिलाभ करनेका द्वार खुला हुआ था। मूलमें जैनधर्मका रूप इतना संकीर्ण नहीं था कि वह एक नियमित परिधिके मनुष्योंके लिये ही सीमित होता। अस्तु,

इस प्रकार भगवान पार्श्वनाथके शासनरक्षक देवता धरणेन्द्र और पद्मावती एवं उनके अनन्यभक्त अहिच्छत्रके नागवंशी राजाका विशद परिचय प्रगट है और उनका निवासस्थान पाताल कहां था, यह भी स्पष्ट होगया है। अतएव आइए, पाठकगण अब अगाड़ी भगवान पार्श्वनाथजीके शेष पवित्र जीवनके दर्शन करके अपनी आत्माका कल्याण करलें।

(१३)

भगवान्‌का दीक्षाग्रहण और तपश्चरण।

साकेत नगरे सोऽथ जयसेनाख्य भूपतिः।
धर्म्मप्रीत्यान्यदासौ प्राहिणोच्छ्री पार्श्व सन्निधं॥
निःसृष्टार्थं महादूतं कृत्स्न कार्यकरं हितं।
भगलादेशसंजातहयादिप्राभृतैः समं॥

—श्री सकलकीर्त्तिः।

राजकुमार पार्श्वनाथ आनन्दसे कालयापन कर रहे थे। पिताके राजकार्यमें वे उनका हाथ बटाये हुये थे। युवावस्थाको प्राप्त होचुके थे। युवक वयसके ओज पूर्ण रसने उनके शरीरको ऐसा खिला दिया था कि मानों कामदेव भी वहां आते खिज रहा है। भगवान तो जन्मसे ही अतीव सुन्दर और सुदृढ़ शरीरके धारी थे, पर इस समय उनकी शोभा देखे नहीं बनती थी। नीलाकाशमें जैसे शरद–पूनोंका चन्द्रमा अपनी सानी नहीं रखता, वैसे ही भगवानके नीलवर्णके सुन्दर शरीरमें यौवन अन्यत्र उस उपमाको नहीं पाता था। भगवान् जिस ओरसे होकर निकल जाते थे उस ओरके लोग उनके रूप सौन्दर्यपर बावले होजाते थे। स्त्रियोको यह भी पता नहीं रहता था कि हमारा अंचल वक्षःस्थलसे कब स्खलित

होगया है और हमारी लोकलज्जा क्या है ? जैन शास्त्रोंमें भगवा-नके विषयमें ऐसा ही वर्णन मिलता है ।[1]

एक रोज यौवनसम्पन्न राजकुमार पार्श्वको देखकर उनके पिताको पुत्रके विवाह करनेकी सुध आई। सचमुच भारतीय मर्यादाके अनुसार पहले ब्रह्मचर्यआश्रममें पूर्ण दक्षता प्राप्त कर चुकने पर और युवा होजाने पर ही लोग गृहस्थाश्रममें प्रवेश करते थे । आजकलकी तरह नन्हें २ बालकोंके विवाह उस जमानेमें नहीं होते थे अनमेल और वृद्धविवाहोंका भी अस्तित्व उससमय इस धरातलपर नहीं था. क्योंके लोग गृहस्थ आश्रमका उपभोग करके वानप्रस्थ आश्रमका अभ्यास करने लगते थे। इसप्रकारके नियमित और संयमी सामाजिक वातावरणमें ही आर्यसंतान फल फूल रही थी और संसारभरमें वह अपनी समानतामें एक थी। उसी पुरातन आदर्श आर्य जनताके गुणगान आज भी सारा संसार मुक्तकंठसे करता है किन्तु उन्हींकी संतान आजके भारतीयोंको कोई कौड़ी मोल नहीं पूंछता ! आर्यवंशज होने हुये भी वह अपने पूर्वजोंकी मर्यादाको लांछित बना रहे हैं। सचमुच जबतक भारतीय समाजका सामाजिक जीवन प्राचीन आदर्शजीवन नहीं बन जायगा तबतक उसकी उन्नति होना अशक्य है। भगवान पार्श्वनाथके भक्त जैनी भी आज अपने पूर्वजोंके आदर्शजीवनसे कोसों दूर हैं; यही कारण है कि उनके जीवन हीन और संकटापन्न बन रहे हैं। विवाह नियमकी अवहेलना वह बुरीतरह कर रहे हैं। बाल, अनमेल और वृद्धविवाह जैसी कुप्रथाओंका उनमें बहु प्रचार है। जहां

[1] १-पार्श्वनाथचरित पृ० ३६६-३६७ ।

पहले उनके पूर्वज अपने पुत्र-पुत्रियोंको युवावस्था प्राप्त करने तक जैन उपाध्यायोंके सुपुर्द करके धार्मिक और लौकिक ज्ञानमें पारंगत बनाते थे, वहां अब उनको नन्हींसी उमरसे ही गृहस्थीकी झंझटमें फंसादिया जाता है। वे बालक अपरिपक्व शरीर और अधूरे ज्ञानको ही रखकर गृहस्थीका महान् बोझा अपने कोमल कंधोंपर लेकर चलनेको बाध्य किये जाते हैं; जिसका परिणाम यह होता है कि वे गृहस्थ-धर्मका समुचित पालन करनेमें असफल रहते हैं। धर्म, अर्थ और काम पुरुषार्थका वह भली भांति पालन ही नहीं कर सके हैं। वह तो पहले ही नामको पुरुष रह जाते हैं। इस दशामें वृद्धावस्था तक उनकी वही असंयमी दशा बनी रहती है और वानप्रस्थधर्म एवं सन्यासधर्मका पालन करना उनके लिये मुश्किल होजाता है। इसके साथ ही अपने पूर्वजोंके खिलाफ आजके जैनियोंने अपनेको अलग २ टोलियोंमें सीमित कर रक्खा है, जिससे विवाहक्षेत्र संकुचित होगया है और योग्य वर कन्याओंके ठीक सम्बंध नहीं मिलते हैं। इससे भी सामाजिक ह्रास बहुत कुछ होरहा है। किन्तु पूर्वकालके जैनियोंमें यह बात नही थी। उनका विवाहक्षेत्र विशद था और उनके जीवन आदर्शरूप थे। आज उनके पदचिह्नोंपर चलनेमें ही हमारा कल्याण है। अस्तु; उस समयके आदर्श सामाजिक जीवनके अनुसार ही जब भगवान् पार्श्वनाथ पूर्ण युवा होगये तो उनके पिताने उनका विवाह करना आवश्यक समझा था।

राजा विश्वसेनने राजकुमार पार्श्वके समक्ष जब विवाहका प्रस्ताव रक्खा, तो वे सकुचा गये। उन्होंने अपने बल-पराक्रम

और योग्यतापर दृष्टि डाली, कर्तव्याकर्तव्यकी ओर निगाह फेरी। पिताने कहा—वंश बेलको अगाड़ी चलानेके लिये भगवान ऋषभनाथकी तरह तुम भी विवाह करलो परंतु राजकुमार पार्श्वने ऋषभदेवसे जो अपनी तुलना की तो उनको इस प्रस्तावसे सहमत होना कठिन होगया। उन्होंने कहा—'मैं ऋषभदेवके समान नहीं हूं, मात्र सौवर्षकी मेरी आयु है, जिसमेंसे सोलह वर्ष तो व्यतीत होचुके है और तीस वर्षमें सयम धारण करनेका अवसर आजायगा। इसलिए नरराज! अब मुझे इस झंझटमें न फसाइये। देखिये चहुओरका वातावरण कैसा असंयमी बन रहा है। लोग ब्रह्मचर्यके महत्वको ही नहीं समझते हैं। गृहत्यागी लोग तक पुत्रोत्पत्तिकी आशासे विवाह करना अपना धर्म माने हुये है। गृहवास छोड़कर जगलोंमें आकर बसे हुये लोग भी आज इंद्रियनिग्रहसे मुंह मोड़ रहे है। इसलिये हे पिताजी! कर्तव्य मुझे बाध्य कररहा है कि मैं आपके प्रस्तावको अस्वीकार करूं। अलपकाल और अलप सुखके लिये आप ही बताइये मैं क्योंकर इस झंझटमें पड़ूं? इस अलप प्रयोजनके लिये अपने कर्तव्यको कैसे ठुकरा दूं?'

राजकुमार पार्श्वके इस प्रकार सारपूर्ण वक्तव्यको सुनकर राजा विश्वसेन चुप होगये. परन्तु इस घटनाने उन्हें मर्माहत बना दिया। वह मन ही मन बिलखते हुये नेत्रोंमें ही आंसुओंको छुपा ले गये। पुत्रका विवाह करनेकी लालसा किसे नहीं होती है और उस लालसापर कहीं पानी फिर जाय तो अपार दुःखका अनुभव क्यों नहीं होगा? किन्तु राजा विश्वसेन बुद्धिमान् थे। वह कर्तव्य अकर्तव्य और हिताहितको जानते थे। पार्श्वनाथजीके मार्मिक

शब्दोंका उनके पास कोई समुचित उत्तर नही था। उन्होंने समझ लिया कि इनके द्वारा तीनों लोकका कल्याण होनेवाला है; इसलिये इनके परमार्थ भावपर अवलंबित निश्चयमें अडंगा डालना वृथा है। राजकुमार पार्श्व इसके उपरांत श्रावकोंके व्रतोंका पालन करते हुये रहने लगे।

एक दिवसकी बात है कि वह प्रसन्नचित्त राज–सभामें बैठे हुये थे, उसी समय द्वारपालने आकर सूचना दी कि अयोध्याके नरेश राजा जयसेनका दूत उनके लिये प्रेमोपहार लेकर आया है और सेवामें उपस्थित होनेकी प्रार्थना कर रहा है। द्वारपालका यह निवेदन स्वीकृत हुआ और उसने राज अनुमति पाकर दूतको सभामें भेज दिया। दूतने प्रणाम करके जो कुछ भेट राजा जय-सेनने भेजी थी वह राजकुमारको नजर कर दी। इस भेटमें भग-लीदेशके सुन्दर घोड़े आदि अनेक वस्तुयें थीं। भेटकी ओर निगाह फेरते हुये राजकुमार पार्श्वने दूतसे अयोध्या नगरका पूर्व महत्व वर्णन करनेको कहा। दूत तो चतुर था ही, उसने भगवान् ऋष-भदेवसे लगाकर उस समय तकका समस्त वृत्तांत अयोध्याका कह सुनाया। तीर्थंकरोंके अनुपम कल्याणकोंका जिक्र भी उसने किया। राजकुमारने दूतको पुरस्कृत करके विदा किया; परन्तु उसके चले जानेपर भी वह उसके शब्दोंको न भुला सके। अयोध्याके विव-रणको सुनकर उनके हृदयमें वैराग्यकी लहर उमड़ पड़ी। नाचीज दूतके वचन उनके वैराग्यका कारण बन गये।

राजकुमार पार्श्वनाथका चित्त संसारसे विरक्त होगया–उनको संसारकी सब वस्तुएं निःसार जंचने लगीं। उनमें उनको अब जरा

भी ममत्व न रहा! सांसारिक सम्पत्ति और विषयभोग उनको महादु:खदायी भासने लगे। विवेक नेत्रोंके बल वह उनमें दु:ख ही दु:ख भरा देखने लगे! वे ज्ञानवान थे। तीन ज्ञानके धारी जन्मसे थे-वे इंद्रियजनित विषय-सुखोंके इन्द्रायण सरीखे असली रूपको जानते थे! फिर भला उनके लिये यह कैसे सम्भव था कि वह और अधिक समय गृहस्थ अवस्थामें बने रहते! विषसे अनभिज्ञ मनुष्य भले ही विष भक्षण कर ले, परन्तु जो विषको जानता है वह उसको कैसे खा सक्ता है? राजकुमार पार्श्वनाथ जन्मसे ही निर्मल सम्यग्दर्शनके ज्ञाता थे-गृहस्थ दशामें भी वे संयमी जीवन व्यतीत करनेके इच्छुक थे, वे उत्तम मार्गका ही अनुसरण करना जानते थे, इसलिये उन्हें अपने स्वरूप रूप मुक्ति-धाम पानेकी योजना करना प्राकृत आवश्यक थी। वैराग्यका गाढ़ा रंग उनके मनको सरोबोर कर देगा, यह सर्वथा सुसंगत था। अनेक दोषोंके घर स्वरूप और त्याज्य विषयभोगोंसे पीछा छुडा लेना और परमार्थ सिद्धिके मग लग जाना ही बुद्धिमानोंका कार्य है। राजकुमार पार्श्व-नाथने सोचा कि जब स्वर्गोंके सुखोंसे विषयतृष्णाकी तृप्ति न हुई, तो अब मनुष्यपदमें उसकी शांति क्या होगी? एक कवि यही लिखते हैं —

'जो सागरके जलसेती, न बुझी तिसना तिस एती।
सो दाभ-अनीके पानी, पीवत अब कैसे जानी?
ईंधनसों आगि न धापै, नदियों नहिं समापै।
यों भोग विषै अति भारी, तृपते न कभी तन धारी!'

इसी विचार क्रमसे राजकुमार पार्श्वनाथ संसारसे बिल्कुल

विरक्त होगये। वे अनित्य, अशरण आदि बारह भावनाओंका चिंतवन कर रहे थे कि इतनेमें अपने कर्तव्यके प्रेरे हुये लौकान्तिक देव वहांपर आपहुंचे और भगवानके वैराग्यकी सराहना करने लगे। कहने लगे कि 'पुरुषोत्तम! यदि अपने जातीय स्वभावके वशीभूत होकर और इस कार्यको अपना कर्तव्य समझकर हम आपके निकट आये हैं, परंतु नाथ! आपको प्रबुद्ध करनेकी हममें सामर्थ्य कहां है? आप स्वयं वस्तुओंके क्षणभंगुर विनाशीक स्वभावसे परिचित हैं। उनसे आपका स्वयमेव विरक्त होना कोई अचरजभरी बात नहीं है। त्रिलोकीनाथ बननेका उद्यम करना यह आपके लिये पहलेसे ही निर्णीत है। यह तो हमारी उतावली है, मनकी व्यग्रता है जो हम आपको वैराग्यप्राप्तिमें सहायक बननेका दम भरकर यहां आपहुंचे हैं। सचमुच हमारी यह क्रिया सूरजको दीपक दिखानेके समान है! बस, चलिये और महाव्रतोंको धारण कीजिये। आपके इस दिव्य कल्याणकसे ही हमारी आत्माओंको आनन्दका आभास मिलेगा।' इतनी विनयके साथ वे सब ब्रह्मलोकको चले गए।

इधर लौकांतिक देवोंकी इस विनतीको सुनकर भगवान् वैराग्यरसमें मग्न होगये और दिगम्बरी दीक्षा धारण करनेका दृढ़ निश्चय करने लगे। इस परमोच्च भावके उदय होते ही संसारमें फिर एक दफे इतनी प्रबल आनन्द-लहर फैल गई कि वह विद्युत गतिसे भी तेज चलकर संसारके कोने२ मे भगवान्के दीक्षा कल्याणकके समाचार पहुंचा आई! विशिष्ट पुण्य प्रकृतिके प्रभावसे महान् पुरुषोंके निकट दिव्य बातें स्वमेव ही होने लगती हैं। भगवान्के तप धारण करनेके समाचार जानकर देवेन्द्र पुलकित वदन होकर

चट सर्व ही देव देवांगनाओं सहित बनारस नगरमें आया और भगवान्का अनेक प्रकारसे जयगान करने लगा। उपरांत सब देवोंने मिलकर भगवानका अभिषेक किया और उन्हें दिव्य वस्त्राभूषणोंसे अलकृत बनाया· जिनको धारण करके वे ऐसे ही जान पडने लगे कि मानों मोक्षरूपी कन्याको वरनेके लिये साक्षात् दूल्हा ही हों! फिर देवेन्द्रने भगवानसे निम्नप्रकार प्रार्थना की; यही आचार्य कहते हैं—

'अमर्त्यादवतारोऽयं पारार्थैकफलस्तव।
किं पुनस्त्रिदिवादन्यभोगातिशयहेतवः॥
निर्वेदस्तेन देवायं फलेन प्रतिमन्यताम्।
समुन्मील्यास्त्वया चैताः सतामंतारदृष्टयः॥'

'हे भगवन्! देवलोकसे जो आपका अवतार हुआ है, उसका फल परहितका सम्पादन करना है। इसलिये स्वर्गसे अन्य जितने भर भी भोग हैं वे स्वर्गके भोगोंसे अधिक आपको अच्छे नहीं लग सक्ते। दूसरोंका हित सम्पादन करनेवाले आप, विषयभोगोंमें नहीं फंस सक्ते। इसलिये हे भगवन्! आपको जो वैराग्य हुआ है उसे सफल बनाइये, दिगम्बरी दीक्षा धारण कीजिये और केवलज्ञान पाकर उपदेश दे भव्यजीवोंके अन्तरग नेत्रोंको खोल दीजिये।

(श्री पार्श्वनाथचरित्र पृ० ३८१-३८२)

इन्द्रने अपने इस निवेदनको पूर्ण करते हुये भगवानको अपने हाथका सहारा दे दिया। भगवान्ने इन्द्रके हाथको ग्रहण करके चट सिंहासन छोड़ दिया? वहां देर ही किस बातकी थी—वैराग्य तो पहले ही उनको वहासे उठ चलनेको प्रेरणा कर रहा था। भगवान तो इधर तप धारण करनेका साधन करने लगे और इधर

रणवासमें जब यह समाचार पहुंचे तो इनकी माता एकदम विह्वल बन गई! मांकी ममता एक साथ ही उमड़ पड़ी। 'हाय! पुत्र नयनोंके तारे मुझे छोड़कर कहां जाते हो' ऐसे ही अनेक रीतिसे विलाप करने लगी। राजा विश्वसेन भी खिन्नचित्त होगये! परन्तु प्रबुद्ध भगवानने इनको आश्वासन बंधाया, माताको बड़े ही मधुर शब्दोंमें समझाया। उन्हें जगतके विनाशीक पदार्थोंका स्वरूप सुझाया और सांसारिक सम्बन्धोंकी निस्सारता जतलाई! प्रभुके उपदेशको सुनकर—हितमित पूर्ण बचनोंको ग्रहण करके रानी ब्रह्म-दत्ताका हृदय शांत हुआ।[1] वह जान गई कि उनके महाभाग्यवान पुत्रका जन्म ही इसी हेतु हुआ है और वे इस अवस्थामें अपनेको धन्य मानने लगीं।

माता—पिताको समुचित रीतिसे समझा बुझा और ढाढस बंधाकर भगवान् इन्द्रकी लाई हुई विमला नामक पालकीमें बैठकर वनकी ओर प्रस्थान कर गये। पहले नरलोकके भूमिगोचरी और विद्याधर राजाओंने क्रमसे सात२ पैढ़ तक उस पालकीको उठाया और फिर समस्त देवसंघ उसको उठाकर ले चला! इस दिव्य अवसरपर आकाश देवदुंदुभीके बजनेसे घनघोर झंकारसे भर गया, देव कन्यायें अनेक प्रकारसे नृत्य करने लगीं और चारो ओरसे भगवानके ऊपर पुष्पवृष्टि होने लगी। आखिर भगवान् निकटके 'अश्वत्थ' नामक वनमें पहुंचे।[2] यहापर इन्द्रका इशारा पाकर सब ही लोग शांत होगये। भगवान् पालकीसे उतर आये। शत्रु-

१—श्री सकलकीर्ति, पार्श्वचरित सर्ग १६ श्लोक १२०...और पार्श्वपुराण पृ० ११९। २—पार्श्वपुराण पृ० ११९—पार्श्वचरित पृ० ३८८।

मित्र और तृण–कंचन सबमें समभाव रखकर उन्होने अपने सब वस्त्राभूषण उतार डाले। इतनेमें शचीने वहींपर एक वटवृक्षके तले[१] स्थित चन्द्रकांत शिलाको 'स्वस्तिका' से अलंकृत कर दिया। भगवान पूर्वकी ओर मुख करके उसी स्फटिकमणी पाषाण शिलापर विराज गए और हाथ जोडकर 'नमः सिद्धेभ्यः' कहकर उन्होंने सिद्धोंको नमस्कार किया। फिर बाह्याभ्यंतर परिग्रहको तजकर पंचमुष्टि लोंच किया।[३] इस प्रकार दिगम्बर मुद्राको धारण करके वे ध्यानलीन होगये। नरनारी और देवसमूह भी भगवानकी अभिवंदना करके अपने२ स्थानोंको चले गये। उस दिगम्बर मुद्रामें भगवान बड़े ही सुन्दर जंचने लगे। कवि भी यही कहते हैं:—

'सोहै भूषन वसन विन, जातरूप जिनदेह।
इन्द्र नीलमनिकौं किधौं, तेजपुंज शुभ येह॥
पोह प्रथम एकादशी, प्रथम पहर शुभ वार।
पद्मासन श्री पार्सजिन, लियौ महाव्रत भार॥
और तीनसै छत्रपति, प्रभु साहस अविलोय।
राज छांर संयम धरयौ, दुख दावानल-तोय॥
नव सुरेश जिनकेश शुचि, छीरसमुद पहुंचाय।
कर थुति साध नियोग सब, गयौ सुरग सुरराय॥'[४]

भगवान वीतरागमयी ध्यान अवस्थामें लीन होगये। तीन दिन तक वे वहीं उसी ध्यानमग्न दशामें स्थित रहे। उन्होंने तेला–उपवास कर लिया! मुनियोंके अट्ठाईस मूलगुण और चौरा-

१–पार्श्वपुराण पृ० ११०। २–[illegible] पार्श्वचरित अ० १० श्लो० ११३। ३–पार्श्वचरित पृ० २८४। ४–पार्श्वपुराण १२०।

सौलाख उत्तर गुण उन भगवानने धारण कर लिये। वे मौन सहित योगसाधनमे अचल थे। इसी समय उन्हे मनःपर्यय ज्ञानकी प्राप्ति होगई थी। इसके उपरान्त वे निर्ममत्व, शांतिमुद्राके धारक, परम दयावान और परम उदास भगवान् शरीरकी रक्षाके लिये योग निरोध कर खड़े होगये और दीक्षावनसे एक ओरको विधि सहित भूमि शोधते हुये चलने लगे और क्रमकर गुलमखेट नामक नगरमें पहुंच गये। वहांके धर्मोदय अथवा धन्यै नामक राजाने उनको बडी भक्तिसे पड़गाहकर-आमन्त्रित करके शुद्ध और सरल आहार कराया था, जिसके पुण्यप्रभावसे उसके राजमहलमें देवोंने पचाश्चर्य किये थे। तीर्थंकर भगवानके समान त्रिलोक पूज्य परमोत्कृष्ट उत्तम पात्रको निर्विघ्न आहारदान देकर उस राजाने अपनी कीर्ति तीनों कालके लिये तीनों लोकमें फैलादी। इस आहारदानसे स्वय राजा धर्मोदय अपनेको ससारसे पार पहुंचा समझने लगा! वह थोड़ी दूर तक भगवानके साथ गया और फिर भगवानकी आज्ञा पाकर अपने राजमहलको लौट आया। भगवान् वनमें जाकर तपश्चरणमें लीन होगये!

तपोधन् भगवान् पार्श्वनाथ वनमें आकर प्रतिमायोगसे दुर्द्धर तप तपने लगे और धर्मध्यानमें मग्न रहने लगे। उस समय उनकी परम पवित्र शांत मुद्राके जो भी दर्शन कर लेता था, वह अपने दुःख शोक सब ही भूल जाता था, स्वभावतः वह उनके चरणोंमें नतमस्तक होजाता था! परन्तु भगवान तो परमोच्च उद्देश्यकी

१-पूर्ववत् और पार्श्वचरित पृ० ३८५। २-पार्श्वचरित पृ० ३८५। ३-हरिवंशपुराण पृ० ५६९ और चंद्रकीर्ति आचार्य, पार्श्वचरित अ० १२ श्लोक १३।

सिद्धिमें तन्मय थे । उन्हें सिवाय निजपद प्राप्त करनेके और कुछ भी ध्यान नहीं था—एकचित्त हो मौन धारण किये हुये वह उसीको प्राप्त करनेकी चेष्टामें प्रयत्नशील थे । कोई भी बाधा—कैसा भी प्रलोभन उन्हें उनके इष्टमार्गसे विचलित नहीं कर सक्ता था । वे एक व्यवस्थित और नियमित ढंगसे आत्मोन्नतिके मार्गमें पग बढ़ा रहे थे । वस्तु-स्वभावरूप तत्त्वोंका चिन्तवन करके और इन्द्रियनिग्रह एव विविध प्रकारकी तप-क्रियायों द्वारा संयमका पालन करते हुये वेह अपनी आत्माको निर्मल और शुद्धरूप परम-शक्तिवान बना रहे थे । वेह उस समय ऐसे प्रतिभाषित होने थे जैसे कल्लोलोंसे रहित निस्तब्ध नील समुद्र ही हो अथवा अडोल सुमेरुगिरिकी शिखिर पर नीलमणिकी सुंदर प्रतिमा ही विराजमान हों । उनके चहुओर शांतिका साम्राज्य फैल रहा था । सचमुच—

'वरभाव छांड्यौ वन जीव, प्रीत परस्पर करैं अतीव ।
केहरि आदि सतावै नाहिं, निर्विष भये भुजग वनमांहि ॥
सील सनाह सजो सुचिरूप, उत्तरगुन आभरन अनूप ।
तपमय धनुष धर्‌यौ निजपान, तीन रतन ये तीखतवान ॥
समताभाव चढ़े जगशीस, ध्यान कृपान लियौ कर ईस ।
चारितरंगमहीमें धीर, कर्मशत्रु विजयी वरवीर ॥'

इसी अवस्थामें भगवान चार मास तक रहे थे और उपरान्त वे काश के निकट अवस्थित दीक्षावनमें पहुंच गये थे । किन्तु श्वेताम्बर सम्प्रदायके श्री भावदेवसूरि विरचित 'पार्श्वचरितमें' भगवानका अन्य स्थानोंमें पहुंचनेका भी उल्लेख है । वहां भगवानका पारणा स्थान कोपकटक स्थान बताया गया है और धन्यको

उस नगरका एक गृहस्थ (Householder) लिखा है। यह कोप-कटक नगर आज कलका धन्यकटक नगर अनुमान किया गया है।[1] इस नगरसे प्रस्थान करके उपरान्त उनका आगमन कालिगिरिके निकट वाले कादम्बरी वनमें होना लिखा है। वहां वे कुन्द नामक सरोवरके तटपर एक जैन प्रतिमाके निकट विराजमान रहे थे। इसी अवसरपर चम्पाके करकण्डु नामक राजाका यहां आना और भगवानकी विनय करना एवं देवोपनीत प्रतिबिम्बके लिए मंदिर बनवा देनेका उल्लेख है। इस कलिकुण्डसे भगवानको शिवपुरीं पहुचा बतलाया गया है; जहांके 'कौशाम्ब' नामक वनमें वे कायोत्सर्गरूपमें विराजमान हुए थे। यहींपर नागराज धरणेन्द्रने आकर भगवानकी पूजा की थी और तीन दिन तक उनपर वह छत्र लगाये रहा था, जिससे यह स्थान "अहिच्छत्रके नामसे विख्यात हुआ था यह कहा गया है। यहांसे वे राजपुर पहुंचे जहांके राजाको भगवानके दर्शन करते ही अपने पूर्वभव याद आगए थे। उसने भी भगवानकी विनय की थी और जहांपर भगवान विराजमान थे, वहांपर उसने एक चैत्य बनवा दिया था जो कुक्कटेश्वर नामसे प्रसिद्ध हुआ था, यह लिखा है। उपरान्त भगवान अन्यत्र विचरते बताये गए है और इसी अन्तरालमें कमठके जीवका उनपर उपसर्ग होना कहा है और फिर उनको काशीके दीक्षावनमें पहुंचा बतलाया है।[2] दिगम्बर जैन-शास्त्रोंमें यह वर्णन नहीं है और कमठके जीवका दीक्षावनमें उपसर्ग करना लिखा है। अस्तुः इसप्रकार हम भगवानके दीक्षा ग्रहण करनेके अवसर और तपश्चरण करनेका दिग्दर्शन कर लेते हैं।

१—बंगाल, बिहार, ओड़ीसा जैन स्मार्क पृ० ७९। २—भावदेवसूरि पार्श्व०-सर्ग ६ श्लोक १२०—२१४।

(१४)

ज्ञानप्राप्ति और धर्मप्रचार !

'बृहत्फणामण्डलमण्डपेन यं स्फुरत्तडित्पिङ्गरुचोपसर्गिणम् ।
जुगूह नागो धरणो धराधरं विरागसन्ध्यातडिदम्बुदो यथा ॥
स्वयोगनिस्त्रिंशनिशातधारया निशात्य यो दुर्जयमोहविद्विषम् ।
अवापदार्हन्त्यमचिन्त्यमद्भुतं त्रिलोकपूजातिशयास्पदं पदम् ॥

—श्री समन्तभद्राचार्यः ।

बनारसके अश्वत्थ वनमें दिगम्बरमुद्रा धारण किये परम धीर वीर और गम्भीर मुनिराजोंके इन्द्र सुन्दर सुभग नीलवर्णके शरीरको धारण किये हुए कायोत्सर्ग आसनसे विराजमान हैं! न किसी जीवसे राग है और न किसीसे द्वेष है। अपनी शुद्धात्माके ध्यानमें वे लीन हैं। किन्तु यह क्या ? इन मुनींद्रकी शांतिमुद्राका द्रोही कौन बन गया ? किसने यह पर्वतोंका प्रहार करना इनपर शुरू कर दिया ? अरे, यहा तो तूफान ही पर्पा होगया ! प्रचंड आंधी चल पड़ी। बडे२ विशाल पेड़ उखड२ कर इन प्रभुके ऊपर गिरने लगे ! बिजलियां चमकने लगीं—वज्रपात होते दिखाई पडने लगे। न जाने उस शांतमय बातारणमें यह कोलाहल कहांसे खड़ा होगया ? किन्तु जरा देखो तो इस महा भयानक दशामें भी वे मुनिराज पूर्ववत् ध्यानमग्न हैं—वे अपनी योग समाधिसे जरा भी विचलित नहीं हुए हैं। वे ज्योंके त्यो नील इन्द्रमणिकी मनमोहनीय प्रतिमाकी भांति वैसे ही खडे हुये हैं !

पाठक! जरा संभलिये, इधर देखिये, यह विकालरूप धारण किये हुए कौन आरहा है ? क्रोधके आवेशमें इसके नेत्र लाल हो

रहे हैं। मुख क्रूरताको धारण किये हुये हैं और शरीर भयानकताको लिये हुये है। यह दीठ पुरुष मुनिराजके समक्ष आकर गरज रहा है। वह कह रहा है कि रे मुनि! मैंने तुझसे यहासे चले जानेको कहा, पर तू अपने पाखण्डके घमण्डमें कुछ समझता ही नहीं है। पर याद रख मुने! मेरा नाम शंवरदेव नहीं जो मैं तुझे तेरे इस हठाग्रहके लिए अच्छी तरह न छका दूं! न मालूम तुझे मेरे विमानको रोक रखनेमे क्या आनन्द मिलता है। मुने! अब भी मान जाओ और मेरे विमानके मार्गको छोड दो।'

किन्तु इस देवके इन बचनोंका कुछ भी उत्तर उन मुनिराजसे न मिला, वे शब्द उनके कानों तक पहुंचे ही नहीं। उन मुनिराजका उपयोग तो अपने आत्माके निजरूप चिन्तवनमें लग रहा था। उनका इन वाह्य घटनाओंसे सम्बन्ध ही क्या? शंवरदेवका गर्जना कोरा अरण्यरोदन था। उसकी धृष्टता उन शांत मुनिराजका कुछ न बिगाड़ सकी थी। यह देखकर वह बिलकुल ही आगबबूला होगया। उसके नेत्रोंसे अग्निकी ज्वालायें निकलने लगीं और वह बड़ी भयंकरतासे उन मुनिराजपर घोर उपसर्ग करने लगा। अनेक सिंहों और पिशाचोंका रूप बना२ कर वह उन मुनिराजको त्रास देने लगा। कभी गहन जल वरसाने लगा, कभी शस्त्रोंका प्रहार उनपर करने लगा और कभी अग्निको चहुंओर प्रज्वलित करने लगा!

यह शंवरदेव एक पूर्वभवमें कमठ नामक द्विजपुत्र था और मुनिराज भगवान् पार्श्वनाथके अतिरिक्त और कोई नहीं हैं। शंवरके कमठवाले भवमें भगवान उनके भाई थे और तबहीसे इनका

आपसी वैर चला आरहा है, यह पाठकगण भूले न होंगे। उसी पूर्व वैरके वशीभूत होकर जब यह कमठका जीव संवर ज्योतिषीदेव अपने विमानमें बैठा हुआ अश्वत्थ वनमेंसे जारहा था, तब मुनिराजके ऊपर नियमानुसार विमानके रुक जानेसे वह अपना पूर्व वैर चुकानेके लिये उपरोक्त प्रकार भगवानपर घोर उपसर्ग करने लगा था। ईसाकी प्रारंभिक शताब्दियोंमें हुये महान विद्वान् श्री समंतभद्राचार्यजी इस घटनाका उल्लेख इन शब्दोंमें करते हैं कि- "उपसर्ग युक्त जो पार्श्वनाथ हैं उनको धरणेन्द्र नामके सर्पराजने अपने पीली बिजलीकी भांति चमकते हुये कांतिवान् फण समूहसे वेष्टित किया है (अर्थात् उपसर्ग दूर किया है)-जिस प्रकार मानो संध्याकी लालिमा नष्ट हो जानेपर उसमें जो पीत विद्युतसे मिला हुआ पीतमेघ पर्वतको आच्छादित करता है।'

(बृहद् स्वयंभू स्तोत्र पृ० ७१)

पापाचारी दुष्ट संवरकी दुश्चेष्टाका पता जब धरणेन्द्रको लगा तो वह शीघ्र ही अपनी देवी पद्मावती सहित वहां आये। जिनके प्रतापसे वे नाग-नागिनी भवसे देव-देवी हुये, उनको वह कैसे भुला सक्ते थे? वे फौरन ही भगवानकी सेवामें आकर उपस्थित हुये थे। उन्होने भगवान्को नमस्कार किया और मणियोंसे मंडित अपना फण उनके ऊपर फैला दिया। पद्मावतीदेवीने उनपर सफेद छत्र लगाया था। इसीका उल्लेख श्रीसमन्तभद्राचार्यजीने किया है। एक अन्य आचार्य भी धरणेन्द्रके इस सेवाभावके विषयमें कहते हैं कि-

'असमालोचयन्नेव जिनस्त्राजप्यतां परैः।
चक्रे तस्योरगो रक्षामीदृक्षा हि कृतज्ञता॥ ८०॥'

"भगवान जिनेन्द्र अजय्य हैं। दूसरोंसे जीते नहीं जा सकते इस बातका विचार न कर धरणेन्द्र उनकी रक्षाके लिये प्रवृत्त होगया। कृतज्ञता इसीका नाम है।" (पा० च० पृ० ३९४)

दुष्ट संवर उनके आनेपर और भी भयानकतासे उपसर्ग करने लगा, जिससे वनके मृग आदि जंतु भी बुरी तरह व्याकुल होने लगे। पर वह अपने विकट भावको पूरी तरह कार्य रूपमें परिणत करनेमें जरा भी शिथिल न हुआ। पहलेकी तरह उपसर्ग करनेमें वह तुला ही रहा। कवि कहते हैं:—

'किलकिलंत वेताल, काल कज्जल छवि सज्जहि।
भौं कराल विकराल, भाल मदगज जिमि गज्जहि॥
मुंडमाल गल धरहिं, लाल लोयननि डरहिं जन।
मुख फुलिग फुंकरहिं, करहिं निर्दय धुनि हन हन॥
इहि विध अनेक दुर्भेषधारि, कमठजीव उपसर्ग किय।
तिहुंलोकवंद जिनचंद्र प्रति, धूलि डाल निजसीस लिय॥'

सचमुच सवर देवने उन जिनेन्द्रचंद्र भगवान पर उपसर्ग करके चन्द्रमापर मट्टी फेंकनेका ही कार्य किया था! वह उपसर्ग उन भगवानका कुछ भी न बिगाड़ सका; प्रत्युत उनके ध्यानको एकाग्र बनानेमें ही सहायक हुआ; परन्तु उस संवरदेवने अवश्य ही अपने आत्माके लिये काटे बोलिये-वृथा ही पाप सचय कर लिया! भगवान उपसर्ग दशामें और भी दृढ़तापूर्वक समाधिलीन रहे। वास्तवमें मनीषी पुरुष भयानक उपद्रवके होते हुये भी अपने इष्टपथसे विचलित नहीं होते हैं। अनेकों घोर संकट उनके मगमें आड़े पड़े हों, पर वे उनका कुछ भी नहीं बिगाड़ सक्ते हैं। फिर

भला तीर्थङ्कर भगवानका विचलित होना बिल्कुल असंभव था ! प्रत्युत इस परीक्षा समयपर–घोर उपसर्ग दशामें भी अपने ध्यानको इतना प्रबल बनानेमें वे सफल हुये थे कि इसी समय उनको केवलज्ञान–सर्वज्ञताकी प्राप्ति होगई थी ! संवर देवके भयानक संकटमय कृत्य उनके लिये फूलमाल हुये थे । वे त्रिलोक्यपूज्य अर्हत्पद–तीर्थंकर अवस्थाको प्राप्त हुये थे । शुद्ध, बुद्ध–जीवन्मुक्त परमात्मा बन गये थे । श्रीसमंतभद्राचार्यजी कहते हैं कि "भगवान पार्श्वनाथने दुर्जेय मोह शत्रुको परम शुक्ल ध्यानरूप खड्गकी तीक्ष्ण धारसे मारकरके अचिन्तनीय अद्भुत गुणोंयुक्त स्थान२ पर तीन लोककी पूजाका अतिशय आधार, ऐसा जो "आर्हन्त्य" पद है उसको प्राप्त किया। अर्थात् उपसर्ग दूर होनेके पश्चात् अन्तर्मुहूर्तमें ही मोह कर्मको नाशकर केवल्ज्ञान लक्षणरूप अर्हन्त अवस्था उन्हें प्राप्त होगई ।" (वृ० स्वं० स्तोत्र पृ० ७१)

यह चैत्र कृष्ण चतुर्दशीका पवित्र दिन था । समय दोपहरसे कुछ पहलेका था । इसी समय पार्श्वनाथ भगवान तीर्थंकरपदको प्राप्त हुये थे. स्वयं बुद्ध परमात्मा होगये थे । चराचर वस्तु तीनों लोककी उनके ज्ञान नेत्रोंमें स्पष्ट प्रतिभाषित होने लगी थी । अनन्त दर्शन, अनंतज्ञान, अनंतसुख और अनंतवीर्यकी अपूर्व निधि उनको प्राप्त हो गई थी । उनका दिव्य औदारिक शरीर ऐसा चमकने लगा था मानो सहस्र सूर्य–रश्मिका ही प्रकाश हो ! दुःख, शोक, क्षुधा, तृषा, राग, द्वेष आदि सब ही मानवी कमजोरियोंको उन्होंने परास्त कर दिया था । वे अब उनके निकट फटकने भी नहीं पाती थीं । वे सशरीरी जीवित परमात्मा होगये थे

और उनके इस परमपद प्राप्त करनेका उत्सव मनाने इन्द्र व देव देवांगनायें फिर आये थे। आचार्य कहते हैं कि—

ततः प्रघोषं जयकारतूर्यैर्दिवौकसां उल्लसितं समंतात्।
निशम्य निर्मुच्यरूपं तदैव बभूव शत्रुः स च कांदिशीकः॥

अर्थात्–'केवलज्ञानके प्रगट होते ही देवोंका बड़े जोरसे जय जयकार शब्द होने लगा। जिसे सुनते ही भूतानंद (संवर)का क्रोध एकदम शांत होगया और वह एकदम अवाक् रह गया!' और अपनेको अशरण जानकर भगवानकी शरणमें आया! उसे वहीं शांतिका लाभ हुआ। उसे ही क्या, सारे संसारको इस दिव्य अवसर पर आनंदरसका आस्वाद मिल गया था।

'प्रकटी केवलरविकिरन जाम, परिफूल्यो त्रिभुवनकमल ताम।
आकास अमल दीसै अनूप, दिसि-विदिसि भई सब कमलरूप॥'

देवोंने आकर भगवानका केवलज्ञान पूजन किया और बड़े ठाठसे भगवानका समोशरण–सभाभवन रच दिया। मानस्तंभ, पीठिका, आदिकर संयुक्त दिव्यमणियोंका बना हुआ वह समवसरण तीन लोककी संपदाको भी लज्जित कर रहा था। भगवानके इस सुन्दर समोशरणको देखकर पाखंडी लोगोंको यह भय होता था कि यहां कोई इन्द्रजालकी माया फैला रहा है। परंतु भगवानके निकट आनेसे यह सब मिथ्या धारणायें दूर भाग जातीं थीं। समवशरणके ठीक मध्यमें उत्तमोत्तम पदार्थोंसे बनी हुई भगवानकी गंधकुटी थी। इसके बीचो बीचमें 'उदयाचल पर्वतकी शिखिरके समान, सिंहोंसे चिह्नित, मणिमयी सिंहासनपर विराजमान परम तेजस्वी भगवान उस समय नम्रीभूत देवोंको ऐसे जान पड़ते थे मानो ये

साक्षात् सूर्य हैं।' उनपर तीन छत्र लग रहे थे और यक्षेन्द्र चवर ढाल रहे थे। वहां मंद२ पवन चल रहा था और समवशरणके बारह कोठोंमें अलग २ मुनि-आर्यिका, देव-देवांगना, श्रावक-श्राविका, पशु पक्षी आदि भव्यजन बैठे हुये अपूर्व शोभाको प्राप्त हो रहे थे। जिनेन्द्र भगवानके प्रभावसे समवशरणकी भूमि निर्दोष होगई थी। वहा उस समय किसीके परिणामोंमें किसी तरहका भी दोष नहीं था। सब ही जीव साम्यभावसे वहां विराजमान थे। आत्म-बलका प्रत्यक्ष साम्राज्य वहा फैल रहा था। आचार्य कहते हैं कि इसी समय भगवानके प्रमुख शिष्य स्वयमू नामक गणधर भगवान उनके निकट आकर उनका स्तवन बडे भक्तिभावसे करने लगे थे, यथा—

देवस्तदा गणधरः प्रथमं स्वयंभू—
देवाधिदेवमुपढौक्य कृतप्रणामः।
आनम्रमौलिकतया स्थितिमत्सु पश्चा—
दिंद्रेषु वस्तुगणने हितमन्वयुक्तं ॥

अर्थात्—"प्रथम गणधर स्वयंभू देवाधिदेव भगवान् जिनेंद्रके पास आये। भक्तिपूर्वक नमस्कार करके उनके समीपमें बैठ गये तथा अपने पीछे मस्तक नमाकर इन्द्रोंके बैठ जानेपर उन्होने पदार्थोंके विचारमें चित्त लगाया और वे इस प्रकार भगवान् जिनेंद्रकी स्तुति करने लगे।"

इत्याद्यनेकनयवादनिगूढतत्त्वं,
जीवादिवस्तु खलु मात्मदृशामभूमिः।
त्वं विश्वचक्षुरसि देव तव प्रसादात,
सन्निर्णयोस्तु सुलभः स्वयमस्मदाद्यैः ॥

अर्थात्–'अनेक नयवादोसे जिसका स्वरूप छिपा हुआ है ऐसे जीव अजीव आदि पदार्थ आप सरीखे महानुभावोंके ज्ञानके अगोचर नहीं। यथार्थ रूपसे आपको उनके स्वरूपका ज्ञान है। आप विश्वचक्षु सर्वज्ञ हैं। भगवन्! आपकी कृपासे हमें उनका निर्णय सुलभ रीतिसे होसकेगा।' (पा० च० पृ० ४०६–४०७)।

प्रथम गणधर स्वयंभूके इस प्रकार निवेदन करनेपर मेघकी गर्जनाके समान भगवानकी दिव्यध्वनि खिरने लगी। उसमें वस्तु स्वरूपमें अनुपम पदार्थोंका निर्णय होने लगा और सप्तभंगी नयकर परिपूर्ण परमोपादेय उपदेश हुआ। इस दिव्य उपदेशको सब ही जीव अपनी२ भाषामें समझने लगे यह शास्त्रोंमे लिखा हुआ है। जिनेन्द्र भगवानके मुखसे यथावत् तत्वोका स्वरूप जानकर सब ही भव्यजीव आनन्दमग्न होगये। इसी समय भगवानका जिससे अनेक पूर्वभवोसे वैर चला आरहा था वह भूतानंद संवर नामक देव भगवानके निकट हीन गर्व होकर अपने वैरको भुला सका! उसे परम सुखकर सम्यग्दर्शनकी प्राप्ति होगई। धरणेन्द्र और पद्मावती भगवानके शासन रक्षक देवता माने जाने लगे और धरणेन्द्रके सम्बन्धमे भगवानने कहा था कि वह मोक्ष जायगा। इस भविष्य सन्देशको सुनकर उपस्थित प्राणियोंके हृदय प्रफुल्लित होगये थे। वह भी भगवानके निकटसे विनयपूर्वक यथाशक्ति चारित्र नियमोंको गृहण करने लगे थे। आचार्य कहते हैं कि'—

'तथा धर्म्मोपदेशेन सभासर्वा जिनाधिराट्।
पार्श्वः प्रल्हादयामास चंद्रः कैरविणीमिव॥ १९॥
सभासीना जनाः केचित्पीत्वा तद्वचनामृते।

वभूव ग्रंथनिर्मुक्ताः काललब्धा प्रणोदिता ॥ १९ ॥
अनून ललनाः काश्चिद्धर्म्म श्रुत्वा जिनोदितं।
वभूवुश्चार्यिकाधीश सर्वसंगविवर्जिताः ॥ २० ॥
जगृहुः श्रावकाचारं तत्रैकेचिन्नृपादयः।
लोकाः प्रसन्नभावेन पीतार्हद्वाक् सुधारसा ॥२१॥२८॥"

जिनराज पार्श्व भगवानके वचनामृतोंको पीकर सभामध्य स्थित प्राणियोंमेंसे कितने हीने तो सर्व परिग्रहका त्याग करके निर्ग्रंथ मुनिका चारित्र धारण कर लिया, किन्हीं ललनाओंने उस जिन प्रणीत कल्याणकारी धर्मको सुनकर संसारी परिजनका सम्बंध त्याग दिया और वे आर्यिका होगईं और वहुतेरे राजाओंने श्रावकके व्रतोंको गृहण कर लिया[1] तथापि जो किसी प्रकारके भी व्रतोंको धारण करनेमें असमर्थ थे वह भगवान्के वचनोंको प्रसन्नचित्त होकर सुनने लगे। सारांशत. प्रत्येक उपस्थित प्राणीको भगवान्के सदुपदेशसे लाभ हुआ था। वह प्रफुल्ल वदन उनके गुणोंमें लीन था। ब्रह्मचर्य और अहिंसाका भाव भगवान्ने स्वयं अपने चारित्रसे प्रगट कर दिया था, जिसकी उस समय बड़ी भारी आवश्यक्ता थी। इसी कारण उनकी प्रख्याति सर्व लोकमें "जनप्रिय" (Peoples' Favourite) के नामसे होगई थी![2] सचमुच वे भगवान् जनप्रिय ही नहीं थे, वल्कि 'प्राणी मात्रके प्रिय' थे! उन्होंने विश्वात्मक ज्ञानको (Cosmic Consciousness) पालिया था! उनमें विश्वप्रेमके साक्षात् दर्शन होते थे!

१ श्री चन्द्रकीर्त्याचार्य प्रणीत पार्श्वचरित सर्ग २८. २ कल्पसूत्र (S B E) पृ० २७९.

विश्वात्मक ज्ञान और विश्वप्रेमके आगार भगवान् पार्श्वनाथका जब सर्व प्रथम दिव्य उपदेश बनारसके निकट अवस्थित वनमें हुआ तो उनका यश दिगन्तव्यापी होगया। वे भगवान् जो कुछ कहते थे वह प्राकृत रूपमें कहते थे। वहां राग-द्वेषको स्थान प्राप्त नहीं था। उनकी क्रियायें भी प्राकृतरूप निरपेक्ष भावसे होती थीं। इसी अनुरूप सर्व लोकोंका कल्याण करनेके लिये उनका विहार भी आर्यखंडमें हुआ था। एक तीर्थंकरके लिये यत्र-तत्र भ्रमण करके संसारके दुःखोंसे छुट पटाते हुये जीवोंको धर्मका सुखकर पीयूष पिलाना आवश्यक होता है। यह उनकी तीर्थंकर प्रकृतिका प्रकट प्रभाव है। इसी अनुरुप भगवान् पार्श्वनाथका भी पवित्र विहार और धर्मप्रचार समस्त आर्यखंडमें हुआ था। श्री वादिराजसूरि भी यही कहते हैं—

देवस्तु धर्मममृतं वरभव्यशस्यैः,
संग्राहयन् प्रविजहार विधाय जिष्णुः।
स्वाभाविकः खलु रवेः कमलावबोधी,
दिक्षु भ्रमस्स न विचारपथोपसर्पी ॥४४॥

अर्थात्—'जिस प्रकार कमलोंके खिलानेवाला: दिशाओंमें सूर्यका भ्रमण स्वभावसे ही होता है उसके वैसे भ्रमणमें विचार करनेकी जरूरत नहीं पड़ती उसी प्रकार जयशील भगवान् जिनेन्द्रका भी भव्य जीवरूपी धान्योंके लिये धर्मामृत वर्षानेवाला विहार स्वभावसे ही होने लगा। आज यहां तो कल वहां विहार करना चाहिये इस प्रकार इच्छा पूर्वक उनका विहार न था।'

(पा० च० पृ० ४१६)।

इस विहारमें भगवान विना किसी भेद भावके सब ही जीवोंको समान रूपसे धर्मामृतका पान कराते थे । उनका विहार देवोपनीत समवशरणकी विभूति सहित होता था । जहां जहां भगवान पहुंच जाते थे वहां वहां इन्द्रकी आज्ञासे कुवेर समवशरणकी रचना कर देता था । जैन शास्त्रोंका कहना है कि तीर्थंकर भगवानका प्रस्थान साधारण मनुष्योंकी तरह नहीं होता है । उनके निकटसे अशुभ रूप चार घातिया कर्मोंका अभाव होगया था । इसलिये उनका परम औदारिक शरीर इतना पवित्र और हलका होगया था कि वह पृथ्वीसे ऊपर बना रहता था । उसके लिये पृथ्वीका सहारा लेनेकी आवश्यक्ता नहीं रही थी । इसमें आश्चर्य करनेके लिए बहुत कम स्थान है: क्योंकि योगसाधनके बल किंचित् कालके लिये छद्मस्थ मनुष्य भी अधर आकाशमें तिष्ठते बतलाये गये हैं । फिर जो महापुरुष साक्षात् योगरूप होगया है, उसके लिये आकाश ही आसन होजाय तो कुछ भी अचरजकी बात नहीं है । योगशास्त्रोंके पारंगत विद्वान् इस क्रियामें कुछ भी अलौकिकता नहीं पायेंगे । वास्तवमें इसमें कोई अलौकिकता है भी नहीं; यद्यपि यह ठीक है कि आजकल ऐसे योगी पुरुषोंके दर्शन पा लेना असंभव होगया है । यही नहीं योग शास्त्रोंमें बताये हुये सामान्य नियमोंके पालनमें पाण्डित्यप्राप्त मनुष्य ही मुश्किलसे देखनेमें मिलते हैं । इसलिये आजकलके लोग इन बातोंकी गिनती 'करिश्मो' अथवा 'अलौकिक' बातोंमें करने लगते हैं और ऐसी बातें उनके गलेके नीचे सहसा नहीं उतरती हैं ! किन्तु वह भूलते हैं और आत्माकी अनन्तशक्तिमें अपना अविश्वास प्रकट करते हैं । आत्मामें सब कुछ कर

सकनेकी महोघशक्ति विद्यमान है । उसके लिये कोई कार्य कठिन नहीं है । अस्तुः आत्माके स्वाभाविक रूप परमात्मपदको प्राप्त हुये भगवान् पार्श्वनाथके लिये इसमे कुछ भी अलौकिकता नहीं थी कि वह दिव्य देहके धारक थे, पृथ्वीका सहारा लिये विना ही अधर गमन करते थे और सिंहासनपर अंतरीक्ष विराजमान होकर मेघगर्जनकी भांति धर्मोपदेश देते थे, जिसे हरएक प्राणी अपनी २ भाषामें समझ लेता था । यदि इन बातोंको अलौकिक मान लिया जाय और इस कारण स्वय भगवान् पार्श्वनाथ मनुष्योंसे विलग कोई लोकोत्तर व्यक्ति मान लिये जांय, तो उनसे हमारा क्या मतलब सध सक्ता है ? हम मनुष्य हैं । हमारा पथ-प्रदर्शक भी मनुष्य होना चाहिये । जैनी करीब ढाई हजार वर्षोंसे इन पार्श्वनाथ भगवान्‌को अपना मार्ग-दर्शक पूज्यनेता मानते आये हैं और वह इनको एक हम आप जैसा मनुष्य ही बतलाते है । इसलिये उनके विषयमें अलौकिकताका अनुमान करना वृथा है । वह हमारे समान मनुष्य ही थे, परन्तु वह अपने कितने ही पूर्व भवोंसे ऐसे सद्प्रयत्न करते चले आ रहे थे कि उनकी आत्मा विशेषतर अपने निजी गुणोको प्राप्त करनेमें सफल हुई थी और उनके भाग्यमें पुण्य प्रकृतियोंकी ही अधिकता थी । इसी कारण अपने इस तीर्थंकर भवमें वह जन्मसे ही इतर मनुष्योंसे प्राय: अपनी सब ही क्रियायोंमें विलक्षणता रखते थे । महापुरुषोंके लिये सचमुच यह विलक्षणता स्वाभाविक है । वह अपना मार्ग स्वयं निर्मित करते है । साधारण जनताके पीटे हुये रास्तेका सहारा लेना जरूरी नही समझते । इसीलिये यह कहा गया है कि

'होनहार विरवानके होत चीकने पात' और 'महाजना: येन गता: सा पन्था: ।' अस्तु· भगवान् पार्श्वनाथ हमारे लिये पूर्णताके एक अनुकरणीय और अनुपम आदर्श हैं । उन्होंने अपने अमली जीवनसे उस समयकी जनताको अपने धर्मोपदेशकी सार्थकता स्पष्ट कर दी थी । वे ग्राम—ग्राम और खेडे—खेड़ेमें पहुंचकर धर्मका प्राकृत स्वरूप सब ही जीवित प्राणियोंको समझाते थे । उनके निकट कोई खास मनुष्य समुदाय ही केवल धर्म धारण करनेका अधिकारी नहीं था । उन्होंने उस समयकी प्रगतिके विरुद्ध सब ही श्रेणियोंके मनुष्योंको धर्माराधन करनेका अधिकारी बताया था । ऊंच नीचका भेद लोगोंमेंसे हटा दिया था ! प्रत्येक हृदयमें स्वाधीनताकी पवित्र ज्योति जगमगा दी थी ! उन्होंने स्पष्ट कह दिया था कि पराश्रित होकर—दूसरोंके मुहताज बनकर तुमको कुछ नहीं मिल सक्ता ! यदि तुम आत्म—स्वातन्त्र्यको पानेके इच्छुक हो—स्वाधीनताके उत्कट पुजारी हो तो दृढ़ता पूर्वक संयमी बनकर अपने पैरोंपर खड़ा होना सीखो । तुमही अपने प्रयत्नोंसे अपनेको स्वाधीन और सुखी बना सकोगे ! उनका यह प्राकृत उपदेश हर समय और हर परिस्थितिके मनुष्योंके लिये परम हितकर है । यह एक नियमित सूत्र है जो तीन लोक और तीन कालमें समान रूपसे लागू है । भगवान् पार्श्वनाथ अपने इस दिव्यसंदेशको प्राकृतरूपमें दिगन्तव्यापी बनाते हुए समस्त आर्यखंडमें विचरे थे । श्री सकलकीर्ति आचार्य उनके विहारका विवरण इस प्रकार लिखते हैं.—

'जिनभानूदये संचरंति साधु मुनीश्वरा: ।
तदाकुलिंगिनो मंदा नश्यंति तस्करा इव ॥ १७ ॥

कुरुकौशलकाशी सुह्यावंती पुंड्र मालवान्।
अंग वंग कलिंगाख्य पंचालमगधाभिधान !! १८ ॥
विदर्भभद्रदेशाख्य दर्शर्णोदीन बहून्जिनः।
विहारमहाभूत्या सन्मार्ग देशिनोद्यतः ॥ १९ ॥ २३ ॥'

अर्थात्–जिनेन्द्ररूपी भानुके उदय होनेसे साधु मुनीश्वरोंका संचार होगया और कुलिंगी जटिल आदि पाखंड रूप अंधकारका उसी तरह नाश होगया जैसे चोरोंका होजाता है। फिर भगवान्‌का पवित्र विहार कुरु, कौशल, काशी, अवंती, पुंड्र, मालवा, अंग, बंग, कलिंग, पचाल, मगध, विदर्भ, भद्र, दर्शार्ण आदि देशोंमें महाविभूतिके साथ होगया था। यह सारे ही देश आजकल इसी भारतके अन्तर्गत मिल जाते है। इसी तरह एक अन्य आचार्य भगवान्‌के विहारमें आकर पवित्र हुये देशोंका उल्लेख एक दूसरे रूपमें यूं करते हैं:—

'तत्वभेदप्रदानेन श्रीमत्पार्श्वप्रभुर्महान्।
जनान् कौशलदेशीयान् कुशलान् संव्यध्यद्भृश ॥ ७६ ॥
भिंदन् मिथ्यातमोगाढं दिव्यध्वनिप्रदीपकैः।
काशीय देशीयकोकान् स चक्रे संयमतत्परान् ॥७७॥
श्रीमन्मालवदेशीय भव्यलोकसुचातकान्।
देशनारसधाराभिः प्रीणयामास तीर्थराट् ॥७८॥
अवंतीयान् जनान् सर्वान् मिथ्यात्वानलतापितान्।
रयान्निर्वापयामास पार्श्वचंद्रामृतैः ॥ ७९ ॥
गौर्ज्जराणां जनानां हि पार्श्वसम्राट् जितेंद्रियः।
मिथ्यात्वं जर्ज्जरंचक्रे सद्वचः शस्त्रघातनैः ॥ ८० ॥

महाव्रतधरान् काश्चिन्महाराष्ट्रजनान् व्यधान् ।
दीक्षोपदेशदानेन पार्श्वकल्पद्रुमस्तहा ॥ ८१ ॥
पार्श्वभट्टारक श्रीमान पादन्यासेर्विहारतः ।
सर्वान सौराष्ट्र लोकाश्च पवित्रान् चिद्रधेमृशं ॥ ८२ ॥
अंगे वंगे कलिंगेऽथ कर्णाटे कौंकणे तथा ।
मेदपादं तथा लाटे लिंतिगे द्राविडे तथा ॥ ८३ ॥
काश्मीरे मगधे कच्छे विदर्भे च दशाके ।
पंचाले पल्लवे वत्से पराभीरे मनोहरे ॥ ८४ ॥
इसार्यखंड देशेपु व्यक्रीणात्समहाधनी ।
दर्शनज्ञानचारित्ररत्नान्मेवोतयान्यलं ॥ ८५ ॥ १.५ ॥"[1]

भावार्थ—तत्व भेदको प्रदान करनेके लिये महान् प्रभू श्री पार्श्व भगवानने कौशल देशके कुशल पुरुषोमे विहार किया और अपनी दिव्यध्यानिरूप प्रदीपसे गाढ मिथ्यातमकी धिज्जिया उडा दी। फिर संयममें तत्पर काशी देशके मनुष्योंमें धर्मचक्रका प्रभाव फैलाया। श्री मालवदेशके निवासी भव्यलोक रूप चातकोंने भी तीर्थराट्के धर्मामृतका पान किया था। अवतीदेश जो मिथ्यानलसे तप्त था जो पार्श्वरूपी चंद्रके अमृतको पाकर शांत होगया था। गौर्जर देशमें भी जितेन्द्रिय पार्श्वसम्राट्के सद्वचनोके प्रभावसे मिथ्यात्व विल्कुल जर्जरित होगया था। महाराष्ट्र देशवासियोमें अनेकोंने पार्श्व भगवानसे दीक्षा ग्रहणकी थी। सर्व सौराष्ट्र देशमें भी पार्श्वभट्टारकका विहार हुआ था, जिससे वहाके लोग पवित्र होगए थे। अग, वग, कलिंग, कर्नाटक, कौंकन, मेदपाद (मेवाड़)

१—पार्श्वनाथचरित्र सर्ग १०।

लाट, द्राविड़, काश्मीर, मगध, कच्छ, विदर्भ, शाक, पंचाल, पल्लव, वत्स इत्यादि आर्यखंडके देशोंमें भी भगवान्के उपदेशसे सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्र रत्नोंकी अभिवृद्धि हुई थी।

इस वर्णनमें आये हुए देश भी विशेषकर आजकलके भारतमें ही गर्भित हैं किन्तु पूर्वोल्लेखसे इसमें कर्णाटक, कौंकण, मेदपाद, द्राविड, काश्मीर, शाक और पल्लव देशोंकी अधिक गणना की गई है। कर्णाटक और कौंकण, द्राविड और पल्लव देश तो दक्षिण भारतमें आजाते हैं। मेदपाद-मेद अथवा मेड़लोगोंका निवासस्थान आजकलका राजपूताना है।[1] यहांपर बिजौलिया पार्श्वनाथ नामक अतिशय जैनतीर्थ आज भी मेवाड़ रियासतके अंतर्गत विद्यमान है। यह स्थान भगवान पार्श्वनाथके समवशरणके आनेके कारण ही अतिशयक्षेत्रमें परिगणित किया गया है। काश्मीर आजकलका काश्मीर ही हो सक्ता है। यहां भी उस प्राचीन कालमें जैनधर्मका प्रचार हुआ जैनशास्त्रोंसे प्रकट होता है। सिकन्दर आजमके और उपरान्त चीनी यात्रियोंके जमानेमें जब उत्तर पश्चिमीय सीमाप्रान्तमें एवं स्वयं अफगानिस्तानमे विशाल दि० जैन मुनि मिलते थे तो यह बिलकुल संभव है कि काश्मीरमें भी उनकी गति रही हो! प्राकृत यह ठीक नहीं मालूम देता कि सीमाप्रान्त और मद्रदेश (मद्रि=पंजाब) में जैनधर्मका बाहुल्य रहते हुये काश्मीर उससे अछूता बच गया हो। अगाड़ी शाक देशका उल्लेख है। इससे

१–राजपूतानेका इतिहास भाग १ पृ० २। २–जर्नल आफ दी रायल–ऐशियाटिक सोसाइटी, जनवरी सन् १८५५। ३–कनिन्घम, ऐ० जाग० आफ इन्डिया पृ० ६१७।

स्पष्ट नहीं है कि किस शाकदेशका भाव यहांपर इष्ट है? भारतमें म० बुद्धका वंश 'शाक्य' नामसे प्रसिद्ध है और उनका देश भी 'शाक्यभूमि' से परिचित है। संभव है, भगवान पार्श्वका विहार यहींपर हुआ हो। यह प्रदेश नेपालकी तराईमें था और नेपालकी कथानकसे भी ऐसा प्रकट होता है कि भगवान पार्श्वका आगमन वहा हुआ था। उसमें कहा गया है कि काश्यप बुद्ध बनारससे आये थे और स्वयंभू मदिरमे रहकर उनने उपदेश दिया था। फिर वह गौड देश (बगाल) को चले गए थे। वहांके प्रचण्ड देव नामक राजाने उनको पिण्डपात्र दिया था। बुद्धने उनसे स्वयंभूक्षेत्र (नेपाल) जानेको कहा था। सो वह अपना राज्य अपने पुत्र शक्तिदेवको देकर भिक्षु होगया था और शास्त्राध्ययन करने लगा था। उपरांत वह नेपाल गया और शांतिकर नामसे परिचित हुआ।[1] यहां भगवान पार्श्वनाथका उल्लेख गोत्ररूप (काश्यप) में किया गया है। उनका बनारससे आना और बगालको जाना स्पष्ट कर देता है कि सचमुच काश्यप बुद्ध भगवान् पार्श्वनाथ ही होंगे; क्योंकि भगवानने धर्मोपदेश बनारससे ही देना प्रारम्भ किया था और वे बगालमें भी गये थे, यह प्रगट है। आजकलकी खोजसे यह प्रमाणित हुआ है कि श्री पार्श्वनाथजीके धर्म तथा उपदेशका असर अंग-बंग और कलिंगमें फैला हुआ था। भगवान् ताम्रलिप्तसे चलकर कोपकट अथवा कोप कटक पहुंचे थे जो उनके वहा पिण्ड-आहार ग्रहण करनेके कारण उपरांत धन्य कटक कहलाने लगा था और जो आजकलका कोपारी

१-हिस्ट्री आफ नेपाल पृ० ८३-८४।

ग्राम है।[1] इन प्रदेशोंमें भगवान् पार्श्वनाथकी मान्यता और मूर्तियां भी वहु संख्यामें प्राचीन मिलती हैं। कलिंग देशके राजा खारवेल द्वारा निर्मित्त हाथी गुफा आदिमें इन तीर्थंकर भगवान्की सम्पूर्ण जीवनीके चित्र दीवालोंपर अंकित हैं।[2] उन्होंने पौंड्र, ताम्रलिप्त आदिमें विशेष रीतिसे अपना विहार किया था। आज भी राची, मानभूम आदि जिलोमें हजारो मनुष्य केवल भगवान पार्श्वनाथके नामकी उपासना करते हैं, उनको अपना इष्टदेव मानते है—परन्तु उनके धर्मके विषयमें और अधिक आज वे कुछ भी नहीं जानते; यद्यपि वे अब भी सराक (श्रावक) नामसे प्रख्यात् है।[3] इससे स्पष्ट है कि भगवानका विहार वंगालमें भी हुआ था और ऊपर शाक देशमें उनका पहुंचना लिखा ही है, जो नेपालकी तराईका शाक्य प्रदेश ही होसक्ता है। स्वयं शाक्यवंशी राजा शुद्धोदनके गृहमें जैनधर्मकी मान्यता थी, ऐसा वौद्ध ग्रन्थोंके कथनसे प्रमाणित होता है।[4] इस अवस्थामें भगवान् पार्श्वनाथजीका ही नेपालमें धर्म प्रचार करना संभवित होता है, जिसका उल्लेख पूर्वोक्त प्रकार नेपालके इतिहासमें किया गया है। शाक्य भूमिके अतिरिक्त किसी अन्य देशका नाम 'शाक' भारतमें तो देखनेको मिलता नहीं है। हां! इन्डो-ग्रीक राजाओंकी राजधानी शाकल अथवा साकल (आजकलका स्यालकोट) अवश्य शाकसे सादृश्यता रखती है और वहांके प्रख्यात् राजा मिलिन्द (M. nander) अधिकांश यवनोंकि

१—आर्केलॉजिकल सर्वे ऑफ मयूरभंज सन १९११ और वंगाल प्राचीन जैनस्मार्क पृ० ७९। २—वगाल, ओड़ीसा, विहारके प्राचीन जैनस्मार्क पृ० ८९-९०। ३—पूर्व० पृ० ४२ और १४०-१८७ पृ० ४१२। ४—भगवान महावीर और म० बुद्ध पृ० २७।

साथ एक समय जैनधर्मानुयायी थे, यह भी प्रगट है।[1] परन्तु यह साकल और राजा मनेन्द्र अथवा मिलिन्द आदि भगवान् पार्श्वनाथसे एक दीर्घकाल उपरांत भारतीय इतिहासमें स्थान पाते हैं। इसलिये उक्त शास्त्रका शाकदेश साकल नहीं होसक्ता है। इसके अतिरिक्त भारतके बाहर शाकद्वीप (Sythia) में भगवान् पार्श्वनाथका विहार हुआहो, तो कोई आश्चर्य नहीं है, क्योंकि प्राचीनकालमे भारत और शाकद्वीपका विशेष सम्बध था।[2] लोगोंका कहना है कि कृष्णके पुत्र शम्ब शाकद्वीपसे आये थे और वह अपने साथ शाकद्वीपस्थ ब्राह्मणोंको भी लाये थे जो सूर्यकी उपासना करते थे। यही ब्राह्मण आजकलके भोजक है, जो जैन सम्प्रदायमें विशेष परिचित हैं। तिसपर मध्य ऐशिया और यूनान तक जैनधर्मके अस्तित्वके चिन्ह मिलते है। इसलिये यह भी अनुमान किया जासक्ता है कि भगवानका विहार शाकद्वीपमें हुआ हो, जो जैन दृष्टिसे आर्यखण्डमें आ जाता है। अब सिर्फ दक्षिण देशोंके प्रदेश रहे हैं। जैन शास्त्रोंमें यहां भगवान् पार्श्वनाथके बहुत पहलेसे जैनधर्मका अस्तित्व बतलाया गया है; किन्तु आजकलके विद्वानोंको ऐसी धारणा होगई है कि सम्राट् चन्द्रगुप्त मौर्यके जमानेमें श्रुतकेवली भद्रबाहु द्वारा ही सर्व प्रथम वहां जैनधर्मका प्रचार हुआ था। इस धारणामें कुछ अधिक वजन है यह दिखता नहीं, क्योंकि जैनेतर शास्त्रोंसे वहां इस कालके बहुत पहलेसे जैनधर्मका प्रचलित होना प्रतिभाषित होता है। तिसपर स्वयं भद्रबाहुस्वामीकी घटनासे ही यह बात प्रमाणित है।

१—वीर' वर्ष २ पृ० ४१३। २—टॉडका राजस्थान (वेंकटेश्वर प्रेस) भा० १ पृ० २७।

यदि उनके समयके दुष्कालमें दक्षिणमें जैनी न होते तो वह वहांको प्रस्थान कैसे कर जाते? क्योंकि जैन मुनि श्रावकोंके यहां सविधि आहारदान पासक्ते हैं अन्यत्र उसका मिलना कठिन है। इससे यही प्रगट है कि वहांपर जैनधर्म उनके पहलेसे विद्यमान था। 'राजावलीकथे' नामक ग्रन्थमें यही कहा गया है और इस कथनको विद्वान् लोग करीब२ विश्वसनीय बतलाते हैं।[1] तिसपर बौद्धोंके 'महावंश' नामक ग्रन्थमें ईस्वी सन्से पहले ४३७के करीब सिंहल लंका (Ceylon) मे अनुरुद्धपुरके बसाये जानेका वर्णन दिया हुआ है। उसमें वहांपर 'गिरि' नामक एक निगन्थ (जैन) उपासकको स्थान देने एवं वहाके राजा पाडुगाभय द्वारा 'निगन्थ कुम्बन्ध' के लिये एक मंदिर बनवानेके उल्लेख आये है।[2] इस कथनसे स्पष्ट है कि सिंहल–लंकामें ईसासे पूर्व पांचवी शताब्दिमें जैनधर्म मौजूद था। इस दशामें दक्षिण भारतका उस समय उसके प्रचारसे अछूता बच जाना कुछ जीको नही लगता। इसी कारण कतिपय विद्वान् इस बातको माननेके लिये तैयार हुये हैं कि श्री भद्रबाहुस्वामीसे पहले ही जैनधर्मका अस्तित्व दक्षिण भारतमें मौजूद था।[3] यहापर यह शंका करना भी वृथा है कि जैनधर्म समुद्र मार्गद्वारा सीधा सिंहल–लंकाको पहुंच गया होगा, क्योंकि जब वह जहाजोंद्वारा लंका पहुच सक्ता है तो उसी तरह दक्षिण भारतमें भी दाखिल हो सक्ता है। दक्षिण भारतसे भी सामुद्रिक व्यापार तब चलता था। तिसपर जैनशास्त्र स्पष्ट कहते हैं कि वहांपर जैन

१–स्टडीज इन साउथ इन्डियन जैनीज्म पृ० ३२। २–महावंश पृ० ४९। ३–स्टडीज इन साउथ इंडियन जैनीज्म भाग १ पृ० ३३।

धर्मका अस्तित्व बहुत प्राचीन कालसे है। इसलिये इसमें शंका करना वृथा है कि भगवान पार्श्वनाथका विहार दक्षिण भारतमें हुआ था। उनके वहां पहुंचनेके स्पष्ट प्रमाण वहांपरके उनके आगमनके स्मारक स्वरूप अतिशय तीर्थक्षेत्र आज भी मिलते हैं। कलिकुण्डपार्श्वनाथ नामक तीर्थ दक्षिण भारतमें ही है।[1] इसीतरह भगवानका विहार मध्यभारतमें भी हुआ था, यह उपरोक्त शास्त्र उद्धरणोंसे प्रमाणित है। प्राचीन 'निर्वाणकांड' गाथासे भी यही प्रकट है:—

> पासस्स समवरणे सहिया वरदत्त मुणिवरा पंच।
> रिस्सिदेगिरिसिहरे, णिव्वाणगया णमो तेसिं ॥१९॥

यह रेशिंदेगिरि पन्ना राज्यमें है और यहां पहाड़ीपर चालीस दि० जैन मंदिर हैं। इनके अतिरिक्त श्वेताम्बराचार्य भावदेवसूरि भगवान पार्श्वका विहार-वर्णन इस प्रकार करते हैं। वह कहते हैं कि पहले भगवानने गंगा जमनाके किनारेवाले देशोंमें धर्म प्रचार किया[2] और फिर वह पुन्ड्रदेशको विहार कर गये थे[3]। वहांके प्रसिद्ध नगर ताम्रलिप्तिमें उनका विशेष उपदेश हुआ था[4]। उपरांत चारह वर्षके बाद वे भगवान मध्यभारतकी नागपुरीमे पहुचे थे[5] और यहांसे उनका आगमन सम्मेदाचल पर्वतपर हुआ बतलाया गया है[6]। यहांपर श्वेताम्बराचार्यने केवल उन स्थानोंका उल्लेख किया है, जहांपरकी किसी खास घटनाका वर्णन उनको देना इष्ट है। इस

१–दि० जैन डायरेक्टरी देखो। २–पार्श्वचरित सर्ग ६ श्लो० २५८। ३–पूर्व० स० ८ श्लो० १–३। ४–पूर्व० स० ८ श्लो० ५–६। ५–पूर्व० ८–१९९ ६–पूर्व० ८–३३३।

हालतमें उनका अन्य प्रदेशोंको अछूता छोड़ देना ठीक ही है। इसतरह पर जहां२ भगवान पार्श्वनाथका पवित्र विहार हुआ था, वहां वहांका वर्णन जैनशास्त्रोंमें मिलता है। इस पवित्र विहारमें अव्याबाध सुखको दिलानेवाले धर्मका बहु प्रचार हुआ था। भव्य-रूपी चातकोंके लिये दुर्लभ धर्मामृतकी अपूर्व वर्षा हुई थी। जो भी भगवानके समवशरणमें पहुंच गया वह कृतकृत्य होगया। यही नहीं, जिस ओरसे भगवानका विहार होगया उस ओर कोसोंमें सुकाल फैल गया था—ग्रामीण लोग आनन्दमग्न होगए थे। दुर्भिक्षका वहां पता ही नहीं मिलता था। साक्षात् परमात्मा तीर्थंकर भगवानकी पुण्य प्रकृतिसे सबको सब ठौर सुख ही सुख नजर पड़ता था। इस तरह पर भगवानका सर्वत्र सुखकारी धर्मप्रचार और विहार हुआ था।

'बहुदेशन माही प्रभु विहराही भवि जीवन संबोधि दये।
मिथ्यामत भारी तिमिर विदारी जिनमत जारी करत भये॥
कछु इच्छा नारी विनि डगधारी होत विहारी परमगुरू।
जिन प्राणिन केरा तरब सवेरा तितै नाथ मग होत शुरू॥
वामाके प्यारे जग उजियारे मनसों थारे पद परसों।
जिन परसे सारे पातक जारे और सवारे शिव दरसों॥'

(१५)

भगवानका धर्मोपदेश !

'तमोस्तु ममतातीत ममोत्त ममतामृत।
ततामितमते तात मतातीतमृतेमित ॥१००॥'

—श्री समन्तभद्राचार्य.।

'हे पार्श्वनाथ ! आप ममत्व रहित है" ममता-तस्कर आपसे कोसो दूर रहता है, इसीलिये 'आपका आगमरूपी अमृत सर्वोत्कृष्ट है। आपका केवलज्ञान भी अतिशय विशाल और अपरिमित है।' उसके धवल आलोकमे अज्ञानतमसे चुंधियाई हुई आंखें यथार्थ सत्यको देखनेमें समर्थ होती है। उस वैज्ञानिक उपदेशके बल ही लोक इस अगाध संसारसागरके पार पहुचनेका साहस कर पाता है। सचमुच भगवानके वस्तुस्वरूपमय धर्म-पीयूषको पीकर ही महान् संसार-रोगमें ग्रसित मनुष्य उससे मुक्ति पालेते हैं। इसीलिये हे भगवन् ! 'आप सबके बंधु है! जन्मजरा मरण रहित हैं तथा अपरिमित हैं।' आपके ये चरणयुगल मेरा ही क्या सारे संसारका अज्ञानांधकार दूर करदें यही भावना है। आपके परमपावन चरित्रका अवगाहन करते हुये आपके दिव्योपदेशके दर्शन पालेना भी परम उपादेय और आवश्यक है। भगवान पार्श्वनाथके जीवनचरित्रमें यही एक अवसर इतना महत्वशाली है कि इसका प्रभाव उसी क्षण दिगन्तव्यापी हो गया था। तीर्थंकर भगवानका सर्वज्ञपदको प्राप्त होना और फिर प्राकृत धर्मामृतकी वर्षा करना बड़ा ही महत्वपूर्ण और प्रभावशाली कार्य है। जिसतरह भगवान महावीरके जीवनमें उनके इस दिव्य अवसरका प्रभाव म०

बुद्ध और मक्खलिगोशाल जैसे उत्कट प्रचारकोंपर पड़ा था, वैसे ही भगवान पार्श्वनाथके प्रभावसे उनके समयके धार्मिक वातावरणमें एक क्रांति खडी होगई थी, यह हम अगाडी देखेंगे। यहांपर तो यह देखना मात्र इष्ट है कि भगवानने अपने धर्मोपदेशमे कहा क्या था ?

जैन मान्यता है कि तीनकाल और तीनलोकमें जबजब जो जो तीर्थंकर होगे, उनके धर्मोपदेश भी वैसे ही एक समान होंगे। उनमें एक दूसरेसे किञ्चित् भी अन्तर नहीं पड़ सक्ता है। यह एक बड़ा ही अटपटा और अनोखा सा दावा है, परन्तु ध्यान देनेसे इसकी सार्थकता प्रकट होजाती है। बेशक यह जीको नहीं लगता कि हर समयके हर तीर्थंकरका धर्मोपदेश एक ही प्रकारका और एक ही ढगका हो। यदि उनका धर्मोपदेश एक ही प्रकार और एक ही ढगका हरसमय होता मान लिया जाय, तो फिर विविध तीर्थंकरोंका कालान्तरमें अवतीर्ण होना कुछ महत्वशाली रहता भी नजर नहीं पडता, क्योकि समयकी परिस्थिति हर समय एकसी नहीं रहती और एक अमुक प्रकारकी परिस्थितिके अनुकूल कहा गया उपदेश एक अन्य प्रकारकी परिस्थितिके लिये समुचित नहीं रह सक्ता और यह स्पष्ट है कि प्रत्येक क्षेत्र और प्रत्येक कालमें संसारी जीवोंकी दशा कभी भी एक समान नही रहती है। द्रव्य, क्षेत्र, काल, भावके अनुसार उनकी दशा पलटती रहती है। चौथे कालके जीवोंसे आजकलके जीवोकी आयु, काय, बुद्धि, संहनन आदि सब बातें बहुत ही अल्प है और अबसे अगाडीके जीवोकी हालत इससे भी बदतर होगी, यह जैन शास्त्रोंका कथन है। स्वय

चौथे कालमें भी सर्वदा एकसा समय नहीं रहा था। जो आयु, काय, बल आदि शक्तियां भगवान ऋषभदेवकी थीं, वह भगवान पार्श्वनाथकी नहीं थीं, यह पहले जैनशास्त्रके उद्धरणसे प्रकट हो चुका है। अस्तु इस दशामें जैनियोंकी तीर्थंकरोंके एक समान सनातन धर्मोपदेश देनेकी मान्यता कुछ असंगतसी जँचती है और इस दृष्टिसे यह है भी ठीक! परन्तु तीर्थंकर भगवान द्रव्योंका यथावत स्वरूप बतलाते हैं। जो वस्तुका स्वरूप है वही वह निर्दिष्ट करते हैं। वह सर्वज्ञकथित एक वैज्ञानिक भाषण है। इसलिये उसमें अन्तर पड़ना कभी और किसी दशामें भी संभव नहीं है। जो सिद्धान्त और जो तत्व एक तीर्थंकरने बता दिये है, वही सिद्धान्त और वही तत्व दूसरा तीर्थंकर भी बतायगा: क्योंकि सब ही तीर्थंकर सर्वज्ञ होते हैं और उनकी सर्वज्ञतामें कुछ भी अन्तर नहीं होता। इसलिए जो बातें एक सर्वज्ञ तीर्थंकर बतायगा, उसके विरुद्ध दूसरा सर्वज्ञ कुछ कथन कर ही नहीं सक्ता और यह प्रत्यक्ष प्रमाणित है। आज भगवान महावीरके बताये हुये जैनधर्ममें सात तत्व बतलाये हुये मिलते है। अब यह कभी भी संभव नहीं है कि किसी भी तीर्थंकरके धर्मोपदेशमें इन सात तत्वोंकी संख्या घटा बढ़ा दी जाय अथवा इनका क्रम बदल दिया जाय! आज यह वैज्ञानिक ढंगसे निर्णीत हैं—जीव—अजीव मुख्य दो द्रव्य इस लोकमें हैं। उपयोग चेतना लक्षणको धारण करनेवाला जीव है और अजीवमें यह लक्षण नहीं है। जीव अजीव पुद्गलके सम्बन्धसे सांसारिक दु:खसागरमें गोते लगा रहा है। अपने मन, वचन, कायकी भली बुरी क्रियाओंकी कषाय प्रवृत्तिके अनुसार वह

उसी प्रकारकी पौद्गलिक शक्तियां, जिनको कर्मवर्गणायें कहते हैं, अपनेमें खींच लेता है। जब यह सुख दुख देनेवाली कर्म वर्गणायें संसारी जीवसे सम्बद्ध होजाती हैं, तब वहां अपनी प्रबलताके अनुसार नियत स्थितिके लिये ठहर जाती हैं। अस्तु; पहले दो तत्त्व तो जीव-अजीव हुये और उपरांत कर्मोका आगमन रूप आश्रव और उनका जीवमें स्थिर होने रूप बन्ध यह क्रमसे तीसरे और चौथे तत्त्व प्रमाणित होते हैं। यहांतक तो प्राणीके सुख दुख भुगतनेका संबंध स्पष्ट किया गया है, अब अगाड़ी इस उपायका बतलाना ही शेष है कि इस सुख दुखसे कैसे छूटा जाता है? इसके लिये आवश्यक है कि सुख दुख देनेवाली कर्म वर्गणाओंको आने देनेका मार्ग रोक दिया जाय। यही क्रिया पांचवा संवर तत्त्व है। अब जब कि कर्मोका आना तो रुक गया तब यही कार्य शेष रह जाता है कि सिलकमेंके कर्मोको नष्ट कर दिया जाय। यह छठा निर्जरा तत्त्व है। बस जब सब कर्म ही नष्ट होगये तब जीव स्वाधीन और सुखी होजाता है। यह सातवां मोक्ष तत्त्व है। इन सात तत्वोकी यह वैज्ञानिक लडी है और इसमेका एक भी दाना इधरसे उधर सारी लड़ीको तोड़े विना नहीं किया जासक्ता है। इस कारण यह कभी भी सम्भव नही है कि भगवान् महावीरसे पहलेके श्री पार्श्वनाथ अथवा किसी अन्य तीर्थंकरने इनसे किसी अन्य प्रकार और ढगके तत्वोंका निरूपण किया हो! इस अवस्थामें यहांपर एक गोरखधंधासा नेत्रोंके अगाडी आ उपस्थित होता है। समय प्रवाहके अनुसार तीर्थंकरोंके धर्मोपदेशमें किंचित् अन्तर पड़ना आवश्यक ठहरता है और वस्तुस्थिति अथवा वैज्ञानिक रूपमें उसका सदा

सर्वदा एकसा होना जरूरी प्रमाणित होता है। तो फिर यहां क्या बात है? इसके लिये तीर्थंकर भगवानके बताये हुए स्याद्वाद सिद्धांतका आश्रय लेना समुचित प्रतीत होता है। प्रत्येक वस्तुमें अनेक गुण है और परिमित शक्तिको रखनेवाले मनुष्यके लिये यह संभव नहीं है कि वह एक साथ ही उसके सब गुणोंका निरूपण कर सके। वह अपेक्षा करके ही उनका उल्लेख करेगा। यदि कोई कहे कि कुचला प्राण शोषक है, तो उसका यह कथन सर्वथा सत्य नहीं है, क्योंकि कुचलेमें प्राण पोषक तत्व भी मौजूद है। वातरोगमें वह बड़ा ही लाभप्रद है। इसलिये यह नहीं कहा जासक्ता कि कुचला प्राण शोषक ही है। अतएव तीर्थंकर भगवानके धर्मोपदेशके विषयमें भी यही बात है। समय प्रवाहकी अपेक्षा उसके विधायक क्रममें किंचित् अन्तर उसी हद तक होसक्ता है जो उसके मूल भावका नाशक न हो और मूल भाव अथवा सैद्धांतिक तत्व सदा सर्वदा एक समान ही रहेंगे। यही बात दिगम्बर और श्वेताम्बर सम्प्रदायके शास्त्रोंमें निर्दिष्ट की हुई मिलती है।

दिगम्बर सम्प्रदायमें श्री वट्टकेर नामक एक प्राचीन और प्रसिद्ध आचार्य हुये है। उनका 'मूलाचार' नामका एक यत्याचार विषयक ग्रन्थ विशेष प्रामाणीक और बहु प्रचलित है। इस ग्रंथमें श्री वट्टकेराचार्यने सामायिकका वर्णन करते हुये स्पष्ट रीतिसे कहा है कि—

'बावीसं तित्थयरा सामाइयं संजमं उवदिसंति।
छेदोवट्ठावणियं पुण भयवं उसहो य वीरो य ॥७–३२॥

अर्थात्—'अजितसे लेकर पार्श्वनाथ पर्यंत बाईस तीर्थंकरोंने सामायिक संयमका और ऋषभदेव तथा महावीर भगवानने 'छेदो-

पस्थापना' संयमका उपदेश दिया है।' यहां मूल गाथामे दो जगह 'च' (य) शब्द आया है। इसको लक्ष्य करके प्रसिद्ध जैन विद्वान् पं० युगलकिशोरजी लिखते हैं कि 'एक चकारसे परिहार-विशुद्धि आदि चारित्रका भी ग्रहण किया जासक्ता है और तब यह निष्कर्ष निकल सक्ता है कि ऋषभदेव और महावीर भगवान्ने सामायिकादि पांच प्रकारके चारित्रका प्रतिपादन किया है जिसमें छेदोपस्थापनाकी बड़ा प्रधानता है। शेष बाईस तीर्थंकरोने केवल सामायिक चारित्रका प्रतिपादन किया है[1]।' यहांपर यह स्पष्ट है कि यद्यपि वर्तमानकालके २४ तीर्थंकरोके धर्मोपदेशके मूल भावमें कोई विशेष अन्तर नहीं था। परन्तु उनके विधायक क्रममे भेद अवश्य था। और यह क्यो था? इसका उत्तर यही है कि समय प्रभावकी वजहसे यह भेद था। यही बात श्री वट्टकेराचार्य निम्न दो गाथाओमें बतलाते है:—

'आचक्खिदुं विभजिदुं विण्णादुं चावि सुहदरं होदि।
एदेण कारणेण दु महव्वदा पंच पण्णत्ता ॥ ३३ ॥
आदीए दुव्विसोधणे णिहणे तह सुट्ठ दुरणुपालेया।
पुरिमाय पच्छिमा विहु कप्पाकप्पं ण जाणंति ॥ ३४ ॥'

अर्थात्—'पांच महाव्रतो (छेदोपस्थापना)का कथन इस वजहसे किया गया है कि इनके द्वारा सामायिकका दूसरोंको उपदेश देना, स्वय अनुष्ठान करना पृथक्२ रूपसे भावनामें लाना सुगम होजाता है और अंतिम तीर्थमें शिष्य जन कठिनतासे निर्वाह करते हैं, क्योंकि वे अतिशय वक्र—स्वभाव होते हैं। साथ ही

१—जैनहितैषी भाग १२ अंक ७–८ पृ० ३२५–३२६।

इन दोनो समयोंके शिष्य स्पष्ट रूपसे योग्य अयोग्यको नहीं जानते है। इसलिये आदि और अन्तके तीर्थमें इस छेदोपस्थापनाके उप-देशकी जरूरत पैदा हुई है। यहां यह भी दृष्टव्य है कि आचार्यने न० ३३ की गाथामें छेदोपस्थापनाके लिये पंच महाव्रत शब्द व्यवहृत किया है। वास्तवमें छेदोपस्थापनाकी संज्ञा पंचमहाव्रत भी है और इसमें हिंसादिक भेदसे समस्त सावद्य कर्मका त्याग करना पड़ता है। श्रीभट्टाकलंकदेव अपनी ' तत्त्वार्थराजवार्तिक ' में यही लिखते है, यथा—

"सावद्यं कर्म हिंसादिभेदेन विकल्पनिवृत्तिः छेदोपस्थापना।"

तथापि उन्होंने सामायिककी अपेक्षा व्रत एक ही कहा है और छेदोपस्थापनाकी अपेक्षा उसके पाच भेद किये हैं. जैसे—

' सर्वसावद्यनिवृत्तिलक्षणसामायिकापेक्षया एकं व्रतं।
भेदपरतंत्रच्छेदोपस्थापनापेक्षया पंचविधं व्रतम् ॥ '

अस्तु, इस शास्त्रीय उल्लेखसे हमारे पूर्वोक्त वक्तव्यका समर्थन होता है। श्री वट्टकेरस्वामी इन गाथाओंसे कुछ अगाडीवाली गाथाओ द्वारा भी इसी भावको स्पष्ट करते है। वह तीर्थंकरोंका और भी शासन भेद बतलाते हैं। लिखते हैं —

' सपडिक्कमणो धम्मो पुरिसस्सय पच्छिमस्स जिणस्स।
अवराह पडिकम्मणं मज्झिमयाणं जिणवराणं ॥७–१२५॥
जावेदु अप्पणो वा अण्णदरे वा भवे अदीचारो।
तावेदु पडिक्कमणं मज्झिमयाणं जिणवराणं ॥ १२६ ॥
इरिया गोयर सुमिणादि सव्वमाचरदु मा व आचरदु।
पुरिम चरिमादु सव्वे सव्वे णियमा पडिक्कमदि ॥१२७॥'

अर्थात्–'पहले और अंतिम तीर्थंकरका धर्म अपराधके होने और न होनेकी अपेक्षा न करके प्रतिक्रमण सहित प्रवर्त्तता है। पर मध्यके वाईस तीर्थंकरोंका धर्म अपराधके होनेपर ही प्रतिक्रमणका विधान करता है, क्योंकि उनके समयमें अपराधकी वाहुल्यता नही होती। मध्यवर्ती तीर्थंकरोंके समयमें जिस व्रतमें अपने या दूसरोंके अतीचार लगता है उसी व्रत सम्बन्धी अतीचारके विषयमें प्रतिक्रमण किया जाता है। विपरीत इसके आदि और अन्तके तीर्थंकरों (ऋषभ और महावीर) के शिष्य ईर्या, गोचरी और स्वप्नादिसे उत्पन्न हुए समस्त अतीचारोंका आचरण करो या मत करो उन्हें समस्त प्रतिक्रमण दंडकोंका उच्चारण करना होता है। आदि और अन्तके दोनों तीर्थंकरोंके शिष्योंको क्यो समस्त प्रतिक्रमण दंडकोका उच्चारण करना होता है और क्यों मध्यवर्ती तीर्थंकरोंके शिष्य उनका आचरण नहीं करते है? इसके उत्तरमें आचार्य महोदय लिखते हैं:—

"मज्झिमया दिढबुद्धी एयग्गमणा अमोहलक्खाय।
तम्हादु जमाचरंति तं गरहंता विसुज्झंति॥ १२८॥
पुरिम चरिमादु जम्हा चलचित्ता चेव मोहलक्खाय।
तो सव्व पडिक्कमणं अंधलय घोड–दिट्ठंतो॥ १२९॥"

'अर्थात्–मध्यवर्ती तीर्थंकरोके शिष्य विस्मरणशीलतारहित दृढवुद्धि, स्थिरचित्त और मूढतारहित परीक्षापूर्वक कार्य करनेवाले होते हैं। इसलिए प्रगट रूपसे वे जिस दोषका आचरण करते हैं उस दोषसे आत्मनिन्दा करते हुए शुद्ध हो जाते है। पर आदि और अन्तके दोनो तीर्थंकरोंके शिष्य चलचित्त और मूढमना होते है। शास्त्रका बहुत वार प्रतिपादन करनेपर भी उसे नहीं

जानते। उन्हें क्रमशः ऋजु-जड़ और वक्र-जड़ समझना चाहिये। इसलिए उनके समस्त प्रतिक्रमण दण्डकोंके उच्चारणका विधान बतलाया गया है और इस विषयमें अंधे घोड़ेका दृष्टांत दिया गया है।' *

इस शास्त्रीय उद्धरणसे स्पष्ट है कि भगवान महावीर और भगवान पार्श्वनाथने अपने धर्मोपदेशमें चारित्रनिरूपण एक दूसरेसे विभिन्न रीतिपर किया था। भगवान पार्श्वनाथका चारित्रनिरूपण सामायिक संयम और कृत अपराधके प्रतिक्रमणरूप हुआ था और भगवान महावीरने उसका निरूपण प्रथम तीर्थंकरकी भांति छेदोपस्थापना अथवा पंचमहाव्रत और सर्वथा समस्त प्रतिक्रमण दंडकका उच्चारण करनेरूप किया था। यह एक ऐतिहासिक घटना है, जिसका उल्लेख वट्टकेराचार्यने किया है और इसमें समयप्रवाह ही मुख्य कारण है किन्तु इससे मोक्षप्राप्तिके मूल उद्देश्य और सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्ररूप रत्नत्रय मार्गमें कुछ भी अन्तर नहीं पड़ा है। वह ज्योंका त्यों रहा है, इसलिये यह कहा जासक्ता है कि दोनों तीर्थंकरोंके उपदेशक्रममें कुछ भी अन्तर नहीं था। मूल सिद्धांतोंमें कभी भी कोई अन्तर नहीं पड़ सक्ता है। यही कारण है कि अगाध जैन साहित्यमें कहीं भी प्रायः ऐसा उल्लेख नहीं मिलता है जिससे एक तीर्थंकरका उपदेश दूसरेके विरुद्ध प्रमाणित हो। इस अवस्थामें यह स्वीकार किया जासक्ता है कि जिस जैनधर्मका प्रतिपादन भगवान महावीरने किया था और जो आज हमें प्राप्त है वही धर्म पार्श्वनाथकी दिव्यध्वनिमें निरूपित हुआ था। आजकलके

* जैनहितैषी भाग १२ अंक ७-८ पृ० ३२६-३२७

प्राच्यविद्याअन्वेषकोको भी यही व्याख्या यथार्थ प्रतीत हुई है।×
उनमेंसे एकका कथन है कि 'इस ही प्रकारके अथवा इससे मिलते
हुए प्रकारके धर्मके मुख्य विचार महावीरस्वामीके पहले भी
प्रवर्तते थे, ऐसा माननेमे भी कोई बाधा नहीं आती।
मूल तत्वोंमें कोई स्पष्ट फर्क हुआ, ऐसा माननेका कोई कारण
नजर नहीं आता और इसलिये महावीरस्वामीके पहले भी जैनदर्शन
था, ऐसी जैनोकी मान्यता स्वीकार की जासक्ती है। ..इसके लिये
हमारे पास कोई स्पष्ट प्रमाण नही है, परन्तु साथ ही इसके विरुद्ध
भी कोई प्रमाण नहीं है। जैनधर्मका स्वरूप ही इस बातकी पुष्टि
करता है, क्योंकि पुद्गलके अणु आत्मामें कर्मकी उत्पत्ति करते हैं,
यह इसका मुख्य सिद्धान्त है और इस सिद्धान्तकी प्राचीन विशे-
षताके कारण ऐसा अनुमान किया जासक्ता है कि इसका मूल ई०
सन्के पहले ८वी-९वी शताब्दिमे है।" अतएव भगवान पार्श्व
नाथने भी ऐसा ही धर्मोपदेश दिया था, जैसा कि आज जैनधर्ममें
मिलता है, यह मान लेना युक्तियुक्त है।

श्वेताम्बर शास्त्रोंके कथनसे भी हमारे उपरोक्त मन्तव्यमे कुछ
बाधा नही आती है। उनका भी कथन दिगम्बर जैनशास्त्रोके अनु-
सार इस व्याख्याकी पुष्टि करता है कि मूलमें सब तीर्थंकरोंका धर्म
एक समान होता है, परन्तु समयानुसार उनके प्रतिपादन क्रममें
अथवा चारित्र नियमोमें कुछ अन्तर पड सक्ता है, यद्यपि वह मूल

×Glassenapp, Ephemerids Orientales No. 25. P. 13 & Cambridge History of India-Anc. India Vol. I. P. 154. १-जैनजगत वर्ष १।

भावके प्रतिकूल और उसको मेटनेवाला नहीं होता है। श्वेताम्बरोंके 'उत्तराध्ययन सूत्र'में ऐसा ही वर्णन हमें 'केशी और गौतम' के सम्वादरूपमें मिलता है। केशी श्रीपार्श्वनाथजीकी शिष्य परम्पराके एक आचार्य हैं और गौतम भगवान महावीरजीके प्रधान गणधर है। इन दोनों महानुभावोंका संघसहित आकर श्रावस्तीके उद्यानोंमें ठहरना और फिर परस्पर समाधान करना बताया गया है। वहां लिखा है:—

"पुच्छ भन्ते जहिच्छन्ते केसिं गोयममव्ववी।
तओ केसी अणुन्नाए गोयमं इणमब्बवी ॥ २२ ॥
चाउज्जामो य जो धम्मो जो इमो पंचसिक्खिओ।
देसिओ वद्धमाणेण पासेण य महामुणी ॥ २३ ॥
एगकज्जपवन्नाणं विसेसे किं नु कारणं।
धम्मे दुविहे मेहावि कहं विप्पच्चओ न ते ॥ २४ ॥
तओ केसि वुवन्तं तु गोयमो इणमव्ववी।
पन्न समिक्खए धम्मतत्तं तत्तविणिच्छियं ॥ २५ ॥
पुरिमा उज्जुजडा उ वंकजडा य पच्छिमा।
मज्झिमा उज्जुपन्ना उतेण धम्मे दुहा कए ॥ २६ ॥
पुरिमाणां दुव्विसोज्झो उ चरिमाणं दुरणुपालओ।
कप्पो मज्झिमगाणं तु सुविसोज्झो सुपालओ ॥ २७ ॥
साहु गोयम पन्ना ते छिन्नो मे संसओ इमो।"

इसका भाव यही है कि जब केशीने गौतमगणधरसे पूछा था कि यह क्या कारण है जब कि दोनों तीर्थङ्करोंके धर्म एक ही उद्देश्यके लिए हैं तब एकमें चार व्रत और एकमें पांच बताये गये

हैं। भगवान पार्श्वनाथजीने 'चाउज्जाम' धर्म मुख्य बतलाया था और भगवान् महावीर 'पंचमहाव्वय'का प्रतिपादन करते हैं। इस-पर गौतम गणधर यह उत्तर देते बतलाये गये हैं कि 'बुद्धि धर्मके सत्यको और यथार्थ वस्तुओंको पहिचानती है। पहलेके ऋषि सरल थे परन्तु समझके कोता थे और पीछेके ऋषि अस्पष्टवादी और समझके कोता (Slow) थे, किन्तु इन दोनोंके मध्यके सरल और बुद्धिमान् थे। इसलिये धर्मके दो रूप हैं। पहलेके मुश्कि-लसे धर्म व्रतोंको समझने थे और पीछेके मुशकिलसे उनका आच-रण कर सके थे, परन्तु मध्यके उनको सुगमतासे समझते और पालते थे।'[1] यहां भी वही भाव है। समय प्रवाहके प्रभावको व्यक्त किया गया है, यद्यपि धर्मके मूलभावको बुद्धि नहीं भुलाती है यह स्पष्ट कह दिया गया है। दिगम्बराचार्यके उपरोक्त वक्त-व्यके अनुसार यहां भी भगवान् महावीरके चारित्र धर्मका प्रति पादन "पांच महाव्रत" रूप बतलाया गया है। और वह मध्यके २२ तीर्थंकरोंके निरूपण क्रमसे उन्हीं कारणोवश विभिन्न बतलाया है, जिनको दिगम्बराचार्यने प्रकट किया है। यहां-पर यदि अन्तर है तो सिर्फ 'चातुर्यामधर्म'का प्रतिपादन भग-वान पार्श्वनाथ द्वारा बतलानेमें है। दिगम्बराचार्य भगवान पार्श्व-नाथ एवं मध्यके अन्य तीर्थंकरोंका धर्म सामायिक-संयमरूप बत-लाते हैं और श्वेताम्बरसूत्रमें वह चार प्रकारका बतलाया गया है। श्वे० के मूलसूत्रमें इस 'चातुर्याम' शब्दकी कुछ भी व्याख्या नहीं की गई है, परन्तु उपरान्तके श्वेताम्बर टीकाकार उसका भाव

१-जैनसूत्र (S B E) भाग २ पृ० १२२-१२३।

अहिंसा, अचौर्य, सत्य और अपरिग्रह व्रतरूप करते हैं। इस शब्दका भाव मूलमें इसी रूप था, इस बातको प्रकट करनेके लिये कोई प्रमाण उपलब्ध नहीं है। हां, यह अवश्य है कि बौद्धशास्त्रोंमें भी इसी चतुर प्रकारके धर्मका निरूपण जैनसाधुओंके संबंधमें किया हुआ मिलता है परन्तु वहां उसके भाव अहिंसादि चार व्रतोंके रूपमें नहीं बताये गये हैं, बल्कि दिगम्बर संप्रदायके प्रख्यात आचार्य श्रीसमन्तभद्रस्वामीके निम्न श्लोकसे उसका सामञ्जस्य ठीक बैठ जाता हुआ वहां मिलता है:—

'विषयाशावशातीतो निरारम्भोऽपरिग्रहः ।
ज्ञानध्यानतपोरक्तस्तपस्वी स प्रशस्यते ॥ १० ॥'

इस श्लोकमें तपस्वी अथवा मुनि वह बतलाया गया है जो विषयोंकी आशा और आकांक्षासे रहित हो, निरारम्भ हो, अपरिग्रही और ज्ञान ध्यानमय तपको धारण किये हुये तपोरक्त ही हो। यहां निर्ग्रंथ मुनिके चार ही विशेषण गिनाये गये हैं और यह ठीक वैसे ही हैं जैसे कि बौद्धशास्त्रमें बताये गये हैं। बौद्धशास्त्रमें यह उल्लेख साधु अवस्था (सामन्न फल) को विवेच मतोंके अनुसार प्रगट करते हुये आया है।[1] इसलिये यहां र ऋषियोंकी दशाको स्पष्ट करनेका भाव है और इसी भावमें ऋषियोंके चार विशेषण दिगंबर जैनाचार्यने उक्त प्रकार गिनाये हैं। अतएव निग्रंथ धर्ममें चातुर्याम धर्मका भाव उक्त प्रकार था, यह बौद्धशास्त्रके उल्लेखसे स्पष्ट है। इसका विषद विवेचन हमने अन्यत्र प्रगट किया है।[2] अतएव

१–दीघनिकाय (P. T. S) भाग १ पृ० ५७–५८। २–देखो 'भगवान महावीर और म० बुद्ध' का परिशिष्ट।

भगवान् पार्श्वनाथजीके सम्बन्धमें भी इस शब्दका भाव इस रूपमें ही व्यक्त करना विशेष युक्तियुक्त प्रतीत होता है, क्योंकि भगवान् पार्श्वनाथजीके समयमें भी ब्रह्मचर्य धर्मकी आवश्यक्ता बेढब थी, यह हम पहले देख चुके है। जिस प्रकार कहा जाता है कि भगवान् महावीरजीके समयमें साधुओंमें ब्रह्मचर्यकी शिथिलता देखकर उसका अलग निरूपण करना आवश्यक होगया था उसी तरह वह आवश्यक्ता भगवान् पार्श्वनाथजीके समयमें भी कुछ कम नहीं थी। इस दशामें श्वे० सूत्रकी इस घटनाकथाका परिचय ठीक नहीं बैठता है। श्री समतभद्राचार्यके बताये हुये विशेषणरूप चातुर्याम धर्म पार्श्वनाथजी और महावीरजी दोनों ही तीर्थंकरोंके शासनमें मिलता प्रगट होता है। फिर यहां अंतर कुछ भी नहीं रहता है और इस हालतमें उक्त श्वे० कथनका कुछ भी महत्व शेष नहीं रहता! यह सामान्य रीतिसे कुछ अटपटासा माल्लूम होता है; परन्तु श्वे० आगमग्रन्थोके संकलन-क्रमको[1] ध्यानमें रखनेसे इसमें संशय अथवा विस्मय करनेको कोई स्थान शेष नहीं रहता! उन्होंने अपने सैद्धांतिक भेदको स्पष्ट करनेके लिये अनेक पूर्वापर विरोधित उल्लेख किये हैं। खासकर उन्होंने बौद्धोंके साहित्यको अपना आदर्शसा माना है। यही कारण है कि श्वे० सूत्रग्रन्थोंमें बहुत कुछ बौद्ध ग्रन्थोसे लिया हुआ आज मिल जाता है।[2] और इस

१ 'दिगम्बर जैन' वर्ष १९ अक ९ से प्रकट हमारी 'श्वेताम्बर जैनोंके आगमग्रन्थ' शीर्षक लेखमाला तथा दी हिस्ट्री ऑफ प्री० बुद्धिस्टिक इन्डियन फिलासफी पृ० २७५-२७७ २ जार्ल चारपेन्टियर उत्तराध्ययनसूत्रकी भूमिका और नोट।

अवस्थामें यह कोई अनोखी बात नहीं है, यदि श्वेतांबराचार्यने बौद्ध ग्रन्थमें चातुर्याम सिद्धातका उल्लेख देखकर उसको अपने शास्त्रमें स्थान दिया हो। अगाड़ी जो भगवान् पार्श्वनाथजीको वस्त्र धारण करते हुये बतलाया है, उससे यही प्रमाणित होता है कि यहांपर वास्तविक घटनाका उल्लेख नहीं किया जारहा है, क्योंकि यह स्वतत्र साक्षी द्वारा प्रमाणित है कि भगवान् पार्श्वनाथ भी दिगंबर वेषमें रहे थे; जैसे कि हम अगाड़ी देखेंगे। तिसपर उक्त श्वे० सूत्रमें गौतमगणधरको अलग संघसहित एकाकी विचरते प्रगट किया गया है। वहां भगवान् महावीरका कुछ भी उल्लेख नहीं है, किन्तु यह प्रकट है कि भगवान महावीर संघसहित विहार करते थे और उनके प्रधान गणधर गौतमस्वामी सदा ही उनके साथ रहते थे। श्वे०के सूत्रकृताङ्गमें (२।६) गोशालने इसी बातको लक्ष्य करके भगवान महावीरपर आक्षेप किया है। श्वेताम्बरोंके उवासग दसाओंके ग्रन्थसे भी भगवानके संघमें गौतम गणधरका साथ रहना प्रमाणित है। अतएव यह किस तरह पर संभव हो सक्ता है कि गौतमस्वामी अकेले ही केशी ऋषिको श्रावस्तीमें मिले हों? इस दशामें श्वे० सूत्रके उक्त कथनको यथार्थ सत्य स्वीकार करलेना जरा कठिन है; परन्तु इतना तो स्पष्ट ही है कि उसका आधार एक ऐतिहासिक तथ्य है जो भगवान पार्श्वनाथ और भगवान महावीरके धर्ममें एक सामान्य अन्तर प्रगट करता है। अस्तु;

'उत्तराध्ययन सूत्र'में अगाड़ी बहुतसे छोटे मोटे मतभेदोंका उल्लेख किया गया है, जिनमें मुख्य मुनिलिङ्ग विषयक है। शेषमें प्रतिक्रमण संबंधमें वहां कहीं भी कुछ उल्लेख नहीं है। इस मुनिलिङ्ग

विषयक उल्लेखका विवेचन हम अगाड़ी भगवान् महावीरजीका संबंध प्रगट करते हुये करेंगे। किंतु अपने विषयको स्पष्ट करनेके लिये उस उद्धरणको यहीं देदेना हम आवश्यक समझते हैं, जिससे पाठकोंको तीर्थंकरोंके धर्मोपदेश संबंधी हमारी प्रारंभिक व्याख्याकी सार्थकता और भी स्पष्ट हो जावेगी। उत्तराध्ययन सूत्रमें लिखा है:—

"अन्नो वि संसओ मज्झं तं मे कहंसु गोयमा ॥ २८ ॥
अचेलगो य जो धम्मो जो इमो सन्तरुत्तरो।
देसिओ वद्धमाणेण पासेण य महाजसा ॥ २९ ॥
एगकज्जपवन्नाणं विसेसे किं नु कारणं।
लिंगे दुविहे मेहावी कहं विप्पच्चओ न ते ॥ ३० ॥
केसिमेवं बुवाणं तु गोयमो इणमब्बवी।
विन्नाणेण समागम्म धम्मसाहणमिच्छियं ॥ ३१ ॥
पच्चयत्थं च लोगस्स नारभाविह विगप्पणं।
जत्तत्थं गहणत्थं च लोगे लिंगपओयणं ॥ ३२ ॥
अहभवे पइन्ना उ मोक्खसब्भूय साहणा।
नाणं च दंसणं चेव चरित्तं चेव निच्छए ॥ ३३ ॥

यहां केशीश्रमण गौतम गणधरसे यह पूछने बताये गये हैं कि 'वर्द्धमानस्वामीके धर्ममें वस्त्र पहिनना मना है और पार्श्वनाथजीके धर्ममें आभ्यन्तर और बहिर वस्त्र धारण करना उचित है। दोनों ही धर्म एक उद्देश्यको लिये हुये हैं फिर यह अन्तर कैसा?' गौतमगणधर उत्तरमें कहते हैं कि 'अपने उत्कृष्ट ज्ञानसे विषयको निर्धारित करते हुए तीर्थंकरोंने जो उचित समझा सो नियत किया। धार्मिक पुरुषोंके विविध बाह्य चिन्ह उनको वैसा समझनेके लिये

बताये गये हैं। लक्षणमय चिन्होंका उद्देश्य उनकी धार्मिक जीवनमें उपयोगिता है और उनके स्वरूपको प्रकट करना है। अब तीर्थंकरोंका कथन है कि सम्यक्ज्ञान, दर्शन और चारित्र ही मोक्षके कारण हैं (न कि बाह्य चिन्ह)।'[1] केशीश्रमण इस उत्तरसे संतोषित होजाते हैं। इस घटनामे भी ऐतिहासिक सत्यको पाना जरा कठिन है, यद्यपि आजकल इतिहासज्ञ इसी मान्यतासे पार्श्वनाथजीकी शिष्य परम्पराको वस्त्रधारी प्रकट करते हैं, किन्तु हम अगाड़ी देखेंगे कि बात वास्तवमें यूं नहीं है। जैन मुनियोका भेष प्राचीन कालमे भी नग्न ही था। यहापर जिस सरलतासे इस गंभीर मतभेदका समाधान किया गया है, यह द्रष्टव्य है। उस जमानेमें जबकि सैद्धान्तिक वादविवादका संघर्ष चर्मसीमापर था तब इस मतभेदका राजीनामा उस सरल ढंगसे होगया होगा जैसा कि उक्त श्वे० सूत्रमें कहा गया है, यह कुछ जीको नहीं लगता है। फिर भी जो हो, इससे हमारे कथनकी पुष्टि होती है कि समयप्रवाहका प्रभाव सामान्य धार्मिक क्रियायोमे अन्तर लासक्ता है। भगवान् पार्श्वनाथ और भगवान् महावीरजीके धर्मोपदेशके मध्य जो अन्तर था वह हम ऊपर देख चुके हैं और उससे यह स्पष्ट है कि भगवान् पार्श्वनाथ द्वारा प्रतिपादित धर्म भी प्रायः वैसा ही था, जैसा कि आज हमें मिल रहा है। अस्तु,

भगवान पार्श्वनाथजीने अपने धर्मोपदेश द्वारा उस समयके सैद्धान्तिक वातावरणको प्रौढ़ बना दिया था। साधरण जनता लौकिक और पारलौकिक दोनो ही बातोमें पराश्रित हो रही थी। लौकिक

1 जैनसूत्र (S. B. E) भाग २ पृ० १२३

बातोंमें ब्राह्मणवर्ण अपनी प्रधानताका सिक्का जमाये हुये था, यह हम देख चुके हैं। साथ ही यह भी जान चुके हैं कि ईश्वरवादका बोलबाला उस समय होरहा था और जनता पारलौकिक बातोंमें भी पराश्रित बनी हुई थी। लोगोको विश्वास था कि जगतमें जो कुछ क्रिया होरही है वह ईश्वर आज्ञाका फल है तथापि विप्र लोगोंकी सहायतासे यज्ञ आदि रचकर इतना पुण्य कमा लेना इष्ट होता था कि जिससे प्रभु प्रसन्न होकर उन्हें स्वर्गसुखका स्वामी बना दें। इसीमें पारलौकिक धर्मकी इतिश्री साधारण जनताके लिये हो जाती थी और लौकिक धर्ममें येनकेन प्रकारेण पुत्र-मुखके दर्शन कर लेना आवश्यक होरहा था। यहां ब्रह्मचर्य धर्मका प्रायः अभाव ही था, साधारण जनता इस दशासे पूर्ण संतोषित नहीं थी, यह भी हम देख चुके हैं। अस्तु, इस अवस्थामें लोगोंको पराश्रिताके दुःखदाई पंजेसे निकालना आवश्यक था। परावलम्बी होना हरहालतमें बुरा है, भगवान् पार्श्वनाथजीके धर्मोपदेशसे लोगोंको यह बात बिल्कुल हृदयंगम होगई थी।

भगवान् पार्श्वनाथने कहा था कि यह लोक अनादिनिधन है। न कभी इसका प्रारंभ हुआ और न कभी इसका अन्त होगा, यह जैसा है वैसा ही रहेगा। परंतु इसमें परिवर्तन होते रहते हैं। इन परिवर्तनोंमें एक पर्याय—हालतकी उत्पत्ति, उसका अस्तित्व और दूसरीका नाश होता रहता है। इसतरह इस लोकमें कोई भी वस्तु स्थाई नहीं है। सब ही परिवर्तन शील हैं, अस्थिर हैं, पानीके बुदबुदेके समान नष्ट होनेवाली है, इसलिये इस परिवर्तनशील संसारके मोहमें पड़ा रहना ठीक नही है।

जीव नित्य है। वह अनादिकालसे इस संसारके झूंठे मोहमें पड़ा हुआ दुःख भुगत रहा है। परपदार्थ जो पुद्गल है उसके संबन्धमें पड़ा हुआ यह जीव एक भवका अन्त करके दूसरेमें जन्म लेता है। इस तरह यद्यपि संसारमें वह जन्म-मरणरूपी परिभ्रमणमें पड़ा रुलता रहता है, परतु वह मूलमें अपने स्वभावसे च्युत नहीं होता है।[1] वह अपने स्वभावमें अनंतदर्शन, अनंतज्ञान, अनंतसुख और अनंतवीर्य रूप है; किंतु पौद्गलिक सम्बन्धके कारण उसके यह स्वाभाविक गुण जाहिरा प्रगट नहीं रहते हैं। वह उसी तरह छुप रहे हैं जिस तरह गंदले पानीमें उसका निर्मल रूप छुप जाता है। इस तरह जीव और पुद्गल अर्थात् अजीवकी मुख्यतासे ही इस लोकमें विविध अभिनय देखनेको मिल रहे हैं। अजीव पदार्थ पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल रूप हैं। पुद्गल स्पर्श, रूप, रस, गंधमय है और इसका जीवसे कितना घनिष्ट संबध है, यह ऊपरके कथनसे प्रकट है। यह अनंत है और अणुरूप है। धर्म और अधर्म द्रव्योंका भाव पुण्य-पाप नहीं है। यह एक स्वतंत्र प्रकारका पदार्थ है जो जीवको क्रमसे चलने और ठहरनेमें सहायक है। जिस तरह पानी मछलीकी सहायता करता है उसी तरह धर्म द्रव्य जीवकी गतिमें सहायक है और जैसे वृक्षकी छाया

---

१ बौद्धोंके 'ब्रह्मजालसुत्त'में प्राचीन श्रमणोंका ऐसा ही श्रद्धान बतलाया गया है। वहा लिखा है कि श्रमणोंके अनुसार 'जीव नित्य है; लोक किसी नवीन पदार्थको जन्म नहीं देता है। वह पर्वतकी भांति स्थिर है। यद्यपि जीव ससारमें परिभ्रमण करते हैं तो भी वे हमेशा वैसेके वैसे रहते हैं।' यह उल्लेख भगवान पार्श्वनाथके सम्बन्धमें है। इसके लिए देखो भगवान महावीर और म० बुद्ध पृ० २२०।

बटोहीको प्रिय है वैसे ही अधर्म द्रव्य जीवको स्थिर रखनेमें सहायता देती है। आकाश द्रव्य अनंत है और इसका कार्य जीवादि द्रव्योंको अवकाश देना है और कालद्रव्य भी एक स्वतंत्र और अखंड द्रव्य है जो पर्यायोंमें अन्तर लानेमें कारणभूत है। इस प्रकार जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल--ये छह द्रव्य इस लोकको वेष्टित किये बतलाये गये हैं। प्रधानतया जीव और अजीवमे ही ये सब गर्भित हैं। और संसारी आत्माके उल्लेखसे इन दोनों द्रव्योंका बोध एक साथ होता है। अतएव भगवान् पार्श्वनाथने स्वयं जीवको ही पूर्ण स्वाधीन बतलाया था। इस लोकका नियंत्रण किसी अन्य ईश्वर आदिके हाथमें नहीं सौंपा था और न उसके द्वारा इस लोकको सिरजते और नाश होते बतलाया था। स्वयं जीवात्मा ही अपने कर्मोंसे संसार दुःखमें फंसा हुआ है और वही अपने सत्प्रयत्नों द्वारा इस दुःखबन्धनसे मुक्त होसक्ता है। परावलम्बी होनेकी जरूरत नही है। सचमुच इस प्राकृत उपदेशका असर उससमय लोगोंपर खासा पड़ा था। सबहीको अपना अस्तित्व बनाये रखनेके लिये इस प्राकृत संदेशके अनुरूप किंचित् अपने सिद्धान्तोंको बना लेना पडा था और बहुतेरे लोग तो स्वयं भगवान्की शरण आगये थे, यह हम अगाड़ी देखेंगे। भगवानका उपदेश प्राकृत रूपमें यथार्थ सत्य था, वह अगाध था और एक विज्ञान था। यहापर उसके सामान्य अवलोकन द्वारा एक झांकी-भर लगाई जासक्ती है। पूर्ण परिचय और उसका पूर्ण महत्व जाननेके लिये तो अतुल जैनसैद्धान्तिकग्रंथोंका परिशीलन करना उचित है। अस्तु;

भगवान्‌के उस स्वाधीन संदेशका समुचित आदर हुआ। उस समय लोग यह जाननेके लिये उत्सुक हो उठे कि आखिर संसारमोहमें फंसा हुआ यह जीव किसतरह सुख-दुख भुगतता है। इसके भले-बुरे कार्योंका फल सुख दुखरूपमें क्योंकर मिल जाता है ? कोई बाह्यशक्ति तो ऐसी है नहीं जो इसे सुख-दुख पहुंचाती हो और यह सुख-दुखका अनुभव करता ही है। इसका भी कोई कारण होना चाहिये ! भगवान् पार्श्वनाथके निकटसे उनकी इस शंकाका समाधान होगया था। भगवानने बतला दिया था कि इस लोकमें एक ऐसा सूक्ष्म पुद्गल (Matter) मौजूद है, जो संसारी जीवात्माकी मन, वचन, कायरूप क्रियाकी प्रवृत्ति, जिसको कि योग कहते हैं, उसके द्वारा उसकी ओर आकर्षित होकर कषायादिके कारण उससे संबंधित होजाता है। वही उसे सुख और दुखका अनुभव कराता है। जीवात्मा अनादिसे इस पुद्गलके संबंधमें पड़ा हुआ है और इसके मोहमें पड़ा इच्छाका गुलाम बन रहा है। इस इच्छा राक्षसीके फरमानोंके मुताबिक उसे अपने मन, वचन और कायको प्रगतिशील बनाना पड़ता है, जिसके कारण सूक्ष्म पुद्गल-परमाणु उसमें उसी तरह आकर चिपट जाते हैं जिस तरह शरीरमें तेल लगाये हुये मनुष्यकी देहपर मिट्टी स्वयं आकर जकड़ जाती है। जीवात्माकी मन, वचन और कायरूप क्रिया मुख्यत. क्रोध, मान, माया, लोभरूप होती है। बस जितनी ही अधिकता और तीव्रता इन क्रोध, मान, माया, लोभरूप कषायोंके करनेमें होती है उतने ही अधिक और तीव्र रूपसे सूक्ष्म पुद्गल परमाणुओं, जिनको कर्म-वर्गणायें कहते हैं, का आगमन उसमें होता है और उतना ही

अधिक और तीव्र उसका संसार बंधता है। यदि कोई व्यक्ति बहुत ही मन्दकषायी है तो सचमुच ही उसका भविष्य किंचित् सुखमय है और इसके बरअक्स जो व्यक्ति बहुत ही उग्ररूपमें कषायोंमें लीन है तो उसके लिये अगाडी दु:खोंकी जलती भट्टी तैयार है। इसलिये यह जीवात्माके ही आधीन है कि वह चाहे अपने जीवनको सुखरूप बनाले अथवा उसे दु:खोसे तप्तायमान एक ज्वालामुखीमें पलट दे। किन्तु उसे यह भी ध्यान रखना जरूरी है कि इस संसारमें वह पूर्ण सुखी नहीं बन सक्ता है। धन-सम्पत्ति और ऐश्वर्य उसे निराकुल सुखको नहीं दिला सक्ते हैं। स्त्री, पुत्र और बंधुजन उसे सच्चे सुखका अनुभव नही करा सक्ते हैं। लोकमें कोई ऐसा पदार्थ नही है जो उसे स्थाई सुखका रसास्वादन करा सके! जब कभी हम किसी कारणसे आनंदमग्न होजाते हैं, तो यही कहते हैं कि 'आज हमने अपने आपका खूब आनंद लूटा।' (We well enjoyed ourselves) यह उद्गार साफ कह रहा है कि हमारे बाहिर कही भी आनंद अथवा सुख नही है! हम कहते हैं कि बढ़िया मिष्टान्न या सोहनहलुएमें बड़ा आनंद है, उसके खानेसे हमें आनंद मिलता है, परन्तु यह झूठा ख्याल है। न तो सोहनहलुएमें आनन्द है और न उसके मीठा२ स्वाद लेनेमें कुछ सुख है। कितना भी खा लीजिये, पर उससे तृप्ति नही होती कि फिर उसको कभी न खानेके लिये तबियत न चले। फिर सोहनहलुआ सबको अच्छा भी नहीं लगता, कोई २ उसके नामसे चिढ़ते हैं तो फिर भला सोहनहलुएमें आनन्द कहा रहा? यदि उसका गुण आनंदरूप है तो सबको ही उसमें आनंद मिलना

चाहिये, किन्तु सबको समान रीतिसे उसमें आनंद नहीं मिलता।' इसी तरह पान भारतीयोंको बड़ा प्रिय है। उसको खानेसे उनको आनंद मिलता है, परन्तु यूरोपियन लोग उसको एक बहुत बुरी चीज समझते हैं फिर वह आनन्ददायक वस्तु कहां रही ? रोगी मनुष्यको वही मिष्टान्न कडुआ मालूम देता है जिसको वह पहले बड़े चावसे खाता था। इन प्रत्यक्ष उदाहरणोंसे यह स्पष्ट है कि बाह्य पदार्थोंमें सुख अथवा आनन्द नहीं है। साथ ही जरा और विचार करनेसे यह भी विदित होजाता है कि इंद्रियजनित विषयोंकी तृप्ति करनेमें भी सुख नहीं है। लोग कहते है कि मिठाई खानेमें बड़ा आनन्द मिलता है। दूसरे शब्दोंमें रसना इंद्रियकी मजा लूटनेमें आनन्द मिलता खयाल किया जाता है, परन्तु यहां भी भुलावा है। जिस समय हम किसी गहन चितामें व्यस्त होते है तो हमें रसना इन्द्रियका मजा तृप्त नहीं कर सक्ता है। हम उस विचारमग्न दशामें यह नहीं जान पाते हैं कि हमने क्या और कितना खा लिया है। यह क्यों होता है ? यदि रसना इंद्रियमें आनन्द देने या सुखी बनानेकी शक्ति होती तो वह हरसमय आनददायक होना चाहिये थी ? परन्तु प्रत्यक्ष ऐसा नहीं होता है। जबतक जीवात्माका उपयोग उस इंद्रियकी क्रियामें लीन रहता है तब ही तक उसे आनन्द जैसा अनुभव होता है। इसलिये कहना होगा कि इन्द्रियजनित विषयवासनाओंमें भी सुख नहीं है। सुख स्वयं हमारे भीतर है—हममें है—हमारी उपयोगमई आत्मामें है। अतएव सच्चा सुख पानेके लिये हमको सब ही ऐसे सम्बन्धोंको त्याग देना आवश्यक है जो जीवात्माके स्वभावके प्रति-

कूल हैं, और इन परसम्बंधोंको त्याग देना उसी तरह संभव है जिस तरह देहपर चिपटी हुई मिट्टीको अलग कर देना सम्भव है। नाइट्रोजन और हाइड्रोजन गैसें अपने सम्बधितरूपमें अपनी असली हालतको जाहिरा गवा देतीं हैं,परन्तु वह अपनी स्वाभाविक दशामें उसे फिर प्राप्त कर लेती हैं। यही संसारमें रुलते हुये जीवके लिये संभव है, किन्तु यहापर एक प्रश्न अगाडी आता है कि सूक्ष्मपुद्गल कर्मवर्गणायें उसे दुःख और सुख कैसे पहुंचाती हैं ? उनसे एक साथ दो तरहकी हालत कैसे पैदा होजाती है ?

भगवान् पार्श्वनाथके धर्मोपदेशमें इस शङ्काका प्राकृत निरसन किया हुआ मिलता है। उन्होंने बतला दिया है कि कर्मवर्गणाओंके अनेकानेक भेद हैं। जितनी ही हालतें इस ससारमें हो सक्ती हैं उन सबके अनुरूप कर्मवर्गणाएँ मौजूद हैं। शरीरको सिरजनेवाला केवल एक नामकर्मरूपी सूक्ष्म पुद्गल ही है, परन्तु उसके अन्तर-भेद भी कई हैं। हड्डियोंका निर्माणकर्ता एक 'अस्थिकर्म' उसीका भेद है, किन्तु यह समग्र कर्मवर्गणामें मुख्यत. आठ प्रकारकी बताई गई हैं। इन्हींके उत्तरभेद १४८ होजाते हैं और फिर वह अगणितमें भी परिगणित किये जासक्ते है। उसके मुख्य आठ भेद इस प्रकार वताये गए हैं:-

१. ज्ञानावर्णीय कर्म-वह शक्ति है जो जीवात्माके ज्ञान गुणको आच्छादित करती है ।

२. दर्शनावर्णीय कर्म-वह शक्ति है जो जीवात्माके देखनेकी शक्तिमें बाधा डालती है ।

३. अंतराय कर्म-यह आत्माके निज बलपर आच्छादन डालता है ।

४. **मोहनीय कर्म**—इसके द्वारा आत्माका श्रद्धान व चारित्र-गुण विकृत होता है। यहांतक यह चारो कर्म आत्माके निजी स्वभावके विरोधक हैं, इसलिये इन चारोंको 'चार घातिया कर्म' कहते हैं।

५. **वेदनीय कर्म**—वह शक्ति है जिसके द्वारा ससारी जीवको सुख-दु खकी सामिग्री प्राप्त होती है।

६ **नामकर्म**—वह शक्ति है जिसके द्वारा जीवात्मा विविध शरीर धारण करता है।

७. **गोत्रकर्म**—वह शक्ति है जिसके द्वारा जीवात्मा उच्च और नीच कुलमें जन्म लेता है।

८. और **आयु कर्म**—वह शक्ति है जिसके द्वारा जीवात्मा एक नियत कालके लिये मनुष्य, देव, तिर्यंच और नर्कगतिमें निर्वासित रहता है।

इन आठ प्रकारकी कर्मशक्तियोंके कारण ही जीवात्मा संसारमें सुख-दुःख भुगतता रहता है। यह कर्म शक्तियां मनुष्यकी मन, वचन, कायकी बुरी और भली क्रियाके अनुसार ज्यादा और कम जटिल होती रहती हैं, यह ऊपर देखा जाचुका है। जैनशास्त्रोंमें बड़े विस्तारसे इन कर्मशक्तियोंके फल देनेका व्यौरा दिया है। तत्वार्थधिगम सूत्र और गोमट्टसारजीमें इसको इसतरह स्पष्ट कर दिया है कि मनुष्य अपना भविष्य जैसा चाहे वैसा बना सक्ता है। उसे प्राकृत नियमोंका प्रत्यक्ष अनुभव होजाता है, जिसके बल वह अपने आय-व्ययका लेखा बराबर मिलाता रहता है। यह कर्मवर्गनायें हरक्षण जीवात्मामें आती भी रहती हैं और झड़ती भी

जाती हैं क्योंकि जीवात्मा इस संसारमे किसी क्षणके लिये भी प्रतिदिन मन, वचन, कायरूपी संकल्प विकल्पोसे रहित नहीं है। यदि किसी व्यक्तिने चिढ़कर अपने विपक्षीके ज्ञानोपार्जनमे अंतराय डाल दिया, उसकी पुस्तकोंको छुपाकर रख दिया, उसने वहा अपनी असत् क्रियासे अपने आत्माके ज्ञानगुणको और ज्यादा ढक लिया; क्योंकि दूसरेके ज्ञानमे बाधा डालते समय उसके परिणामोमें विकलता और कायकी असत्क्रिया हुई थी, जो तद्रूप सूक्ष्मपुद्गलको अपनी ओर खींचनेमे मुख्य कारण थी। इसी तरह दूसरेके दर्शन करनेमें अंतराय डालना, किसीको लाभ न होने देना आदि ऐसी क्रियायें हैं जो आत्मामें दर्शनावर्णीय अन्तराय आदि कर्ममलको अधिकाधिक बढ़ाती हैं। इनके बरअक्स दूसरोको ज्ञानदान देना, पढाना, शकाकी निवृत्ति करना, छात्रवृत्ति देना, ग्रन्थोका प्रकाश करना आदि ऐसे कृत्य हैं जो ज्ञानको आवरण करनेवाली कर्मवर्गणाको क्षीण बना देते हैं और इस दशामें जीवात्माका ज्ञान अधिकाधिक प्रगट होता है। संसारमें जो कोई अधिक ज्ञानवान और कोई बिलकुल जड़बुद्धि दिखलाई पडता है उसका यही ज्ञानावर्णीय कर्मकी अधिकता अथवा कमताई कारण है। इसी तरह किसीको इष्टदेवके दर्शन करा देना, लाभके मार्गमेंका रोड़ा दूर कर देना, धर्माचरण करना आदि सद्कृत्य ऐसे हैं जो आत्माके निजी गुणोंको प्रगट होने देनेमें सहायक हैं। इस तरह शुभाशुभ कर्मों द्वारा आत्माकी विविध दशाएं होती हुई इस संसारमें देखी जाती हैं।

भगवान्‌ने अपने उपदेश द्वारा प्रत्येक मनुष्यके लिये यह सुगम बना दिया है कि वह अपने प्रयत्नों द्वारा सच्चे सुखको

पाले और अपने दैनिक मीजान रोज लगा ले। षट्लेश्यायें आत्माकी विविध दशाओंका स्पष्ट दिग्दर्शन करा देती हैं। इनके कारण आत्मामें कुछ अन्तर नहीं पड़ता है। आत्मा तो मूलमें दर्शन ज्ञानमई और निरावरण है। यह लेश्यायें उसके सांसारिक दशाकी हीनता और उन्नतावस्थाको वतलानेवाली हैं। यह एक कांटा है, जिसपर मनुष्य जीवनकी अच्छाई और बुराई हमेशा अन्दाजी जासकती है। कुछ लोग इन षट्लेश्योंको मक्खलिगोशालके छह अभिजाति सिद्धान्तके अनुसार समझते है परन्तु यह भ्रम है। गोशाल जीवात्माओंका काय अपेक्षा विभाग करता है और उसकी सादृश्यता भगवानके वताये हुये जीवोंके षट्काय भेदसे किंचित् अवश्य होती है[1] यह षट्लेश्यायें कृष्ण, नील, कापोत, पीत, पद्म और शुक्लरूप वतलाई गई हैं। पहलेकी तीन तो निकृष्ट है और शेष शुभरूप है। इनका भाव समझानेके लिये जैनशास्त्रोंमें छह मनुष्योंका उदाहरण दिया हुआ मिलता है। कहा जाता है कि छह मनुष्य आमोंका मजा चखनेके लिये एक मित्रके वगीचेमें पहुंचे। मित्र साहव बड़े सन्तोषी और शान्तिप्रिय जीव थे। उनने वहांपर स्वतः गिरे हुये जो आम पड़े हुये थे उनको ग्रहण करके अपनी तृप्ति कर ली। इनके एक घनिष्ट मित्र जिनपर इनका प्रभाव किंचित् अधिक पड़ा हुआ था, इनहीके पास खड़े रहकर पेडको हिला२ कर आम लेने लगे। इनसे हटकर एक दूसरे मित्र थे, उनको इतनेसे

1—जै० के शास्त्रोंमें कहा गया है कि भगवान महावीरके पिता नृप सिद्धार्थ षट्कायके जीवोंकी पूर्ण रक्षा करते थे। देखो प्री० वुद्धिस्टिक इन्डियन फिलासफी पृ० ३०३।

तसल्ली नही हुई और वह चटसे पेड़पर चढ़ गये और उसपरसे बीनर कर आमोसे अपनी झोली भरने लगे। इनके साथी इनसे भी एक कदम अगाडी बढ़ गये। उनने गुंचेदार टहनियोको तोड़कर अपनी हाथ भरकी जीभकी लालसा मिटाना चाही। किन्तु इन महाशयके पड़ोसी इनसे भी बडे चढ़े निकले। उन्होंने गुद्दोंको काटकर अपनी हवश पूरी करना चाही। परन्तु उनके भी गुरु इनके हमजोली निकल पड़े। उनने जड़से ही पेड़को काट लेनेकी ठहराई। इसतरह इस उदाहरणमे आये हुए व्यक्तियोंके व्यवहारसे लेश्याओका स्वरूप स्पष्ट होजाता है। पहले मित्र साहबके परिणाम शुक्ललेश्यारूप थे। वह प्राकृत रूपमें संतुष्ट थे। उनके आकांक्षाका प्रायः अभाव था। दूसरे पेड़को हिलानेवाले महाशय पद्म लेश्याकी कोटिमें आ जाते है। इनकी तृष्णा मन्द रूपमें भड़कती कही जासक्ती है। पेड़पर चढ़कर आम तोडनेवाले महानुभावके भाव पीतलेश्या रूप थे। यहातक भी गनीमत है। यह परिणाम भी ज्यादा बुरा नहीं है। इसमें असंतोषकी मात्रा सीमाको उल्लंघन नहीं कर गई है। किन्तु शेषके तीनो मनुष्योंके परिणाम निःकृष्ट है। वह सीमाको उल्लंघ गये है। उनके क्रमसे कापोत, नील और कृष्ण लेश्याका सद्भाव समझना चाहिये। इस प्रकारसे ये लेश्यायें मनुष्यको उसकी दैनिक प्रवृत्तिका स्पष्ट दर्शन करा देती हैं। पीतलेश्यारूप यदि उसका लौकिक व्यवहार है तो भी गनीमत है। वहांतक वह मनुष्य अवश्य रहेगा और अवश्य ही मौका पाकर पद्म और शुक्ललेश्या रूप भी अपनी दैनिकचर्या बना सकेगा। परन्तु जो व्यक्ति कापोत लेश्यामें जा फंसा है, उसके

लिये पीतलेश्यामें आना भी कठिन है। फिर भला नील और कृष्णलेश्यावालोंकी तो बात पूछना ही क्या है? ऊपरकी तीन शुभ लेश्याओंरूप जिसका जीवनव्यवहार होगा, वही अपने निजस्वरूप अर्थात् सच्चे सुखको जल्दी पा सकेगा। इसतरह भगवानका धर्मोपदेश हरतरहसे मनुष्यको स्वाधीन बनानेवाला था। उसको वस्तुका स्वरूप, सच्चे सुखका मार्ग और मार्गको प्रकट बतलानेवाला कुतुबनुमा जैसा यंत्र भी अच्छीतरह समझा दिया गया था। अतएव यह मनुष्यकी इच्छापर निर्भर था कि चाहे वह पराधीन बना रहे और चाहे तो स्वाधीन बनकर सच्चे सुखको पाले।

यह बात उस समयके लोगोंको भगवानके धर्मोपदेशसे बिलकुल स्पष्ट होगई थी कि जीवात्मा स्वयं अपने ही बलसे सच्चे सुखको पासक्ता है। इसलिये वह अपने ही आत्माका आश्रय लेना हर कार्यमें आवश्यक समझने लगे थे। स्वातंत्र्यप्रिय बनकर वह न्यायोचित रीतिसे जीवन यापन करते थे और अपना उद्देश्य सच्चे सुख–मोक्षधामको पानेमें रखते थे। इसके लिए श्रीकुन्दकुन्दाचार्यके शब्दोंमें वे लोग निम्न उपायको काममें लाते थे:—

"जह णाम कोवि पुरिसो रायाणं जाणिऊण सद्दहदि।
तो तं अणुचरदि पुणो अत्थत्थीओ पयत्तेण ॥२०॥
एवं हि जीवराया णादव्वो तहय सद्दहे दव्वो।
अणुचरिदव्वो य पुणो सो चेवदु मोक्खकामेण ॥२१॥"

॥ समयसार ॥

भाव यही है कि जिसप्रकार कोई धनका लालची पुरुष राजाको जानकर उसमें श्रद्धा कर लेता है और उनकी सेवा भक्ति

बड़े प्रयत्नसे करता है उसी तरह मोक्षसुखको चाहनेवाले व्यक्तिको अपने आत्मारूपी राजाकी पहिचान करके उसमें श्रद्धा करनी चाहिये और फिर उसकी आराधना करनेमें लीन होजाना चाहिये। उसको जान लेना चाहिये कि आत्माका स्वभाव रागादिक भावोंसे भिन्न ज्ञान, दर्शन और सुखरूप है। आत्मा अनादि, अनन्त और एक अखण्ड पदार्थ है, वह संकल्प-विकल्पसे रहित शुद्ध बुद्ध है, वह स्पर्श, रस, गन्ध, वर्णसे भी रहित है, साक्षात् सच्चिदानंदरूप है। सच पूछो जो आत्मा है वही परमात्मा है-जो मैं हूं सो वह है। इसलिये अन्यकी शरणमें जाना वृथा है। इसप्रकार आत्माके शुद्धस्वरूपमें श्रद्धान करके, सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञानको पाकरके आत्माके गुणोंमें विचरण करना श्रेष्ठ है। यही सम्यक्चारित्र है। मुक्तिका मार्ग इसी सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्ररूप है; परन्तु साधारण जीवात्माओके लिये सहसा यह संभव नहीं है कि वह एकदम इस उच्च दशाको प्राप्त कर लें। वह संसारके मोहमें फंसे हुये हैं। इस कारण उनके लिये व्यवहार मोक्षमार्गका निरूपण किया गया है, जिसपर चलकर वह निश्चय रत्नत्रय धर्मको पा लेते है। व्यवहारसे जिनेन्द्र भगवान् द्वारा प्रतिपादित सात तत्त्वों और नव पदार्थरूप धर्ममें श्रद्धा रखना सम्यग्दर्शन है। उनका ज्ञान प्राप्त करना सम्यग्ज्ञान है और श्रीजिनेन्द्रदेवकी उपासना करना, सामायिक जाप जपना, हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील, परिग्रह रूप पांच पापोंसे दूर रहना आदि नियम सम्यक्चारित्रमें गर्भित हैं। सामान्य जैनीको मधु-मद्य-मांसका त्याग करके उपरोक्त प्रकार अपना जीवन बनाना आवश्यक होता है। इसप्रकारका आचरण बना

करके वह क्रमशः उन्नति करता जाता है और इस लिहाजसे उसके ग्यारह दर्जे भी नियुक्त हैं: जिनको ग्यारह प्रतिमायें कहते हैं। इनमें चारित्रकी शुद्धता क्रमशः बढ़ती गई है, जो आखिरमें उस मुमुक्षुको सच्चे मोक्षमार्गके द्वारपर पहुंचा देती है। पर्वतकी शिखरपर कोई भी व्यक्ति एक साथ छलांग मारकर नहीं पहुच सक्ता है। यही दशा यहां है—जीवात्मा दु:खोंके गारमें पड़ा हुआ है, वह उनसे तब ही निकल सक्ता है जब अपनेको संभाल कर किनारेकी ओरको पग बढ़ाता हुआ बाहरकी ओरको निकले

यहांतकके कथनसे संभव है कि यह शंकायें भी अगाड़ी आयें कि कभी जीवात्माको संसारमें फंसा हुआ दुःखी बताया गया है, कभी उसीको पूर्ण सुखरूप कहा है—कभी कर्मको उसके दु:खका कारण बतलाया है और कभी उसको पूर्ण स्वाधीन कह दिया है। यह तो एक गोरख धंधेका सा पेच है। लोगोंको भुलावेमें डालना है परन्तु बात दर असल यूं नहीं है। गम्भीर विचारके निकट ऐसी शंकायें काफूर होजाती हैं। जीवात्माको स्वभावमें शुद्ध और सुखरूप कहा गया है परन्तु वह अनादिकालसे संसारमें कर्मोंके आधीन हुआ दु:ख उठा रहा है: इसलिये वह अपने स्वभावको पूर्ण प्रगट करनेमें असमर्थ है। उसकी दशा उस चिड़ियाकी तरह है जिसके पख सीं दिये गये हों और जो उड़ नहीं सक्ती है। परन्तु इस पराधीन अवस्थामें भी उसके उड़नेकी शक्ति मौजूद है। यदि वह प्रयत्न करके अपने बंधनोंको काट डाले तो वह अवश्य उड़ सक्ती है। यही दशा संसारमें फंसे हुये जीवात्माकी है। संसारी अवस्थामें वह स्वाधीन नहीं है। कर्मोंकी जटिलता और शिथिलताके अनु-

सार ही वह कम और अधिक रीतिसे अपनी स्वाधीनताका उपभोग कर सक्ता है; परन्तु इसके माने यह भी नही है कि जैसा कर्म उसे नाच नचायंगे वैसा वह नाचेगा ! वह अपनी किंचित् व्यक्त हुई आत्मशक्तिको मौका पाकर पूर्ण व्यक्त करनेमें प्रयत्नशील होसक्ता है—बराबर प्रयत्न जारी रखनेपर वह जटिलसे जटिल कर्म-बंधनको नष्ट कर सक्ता है, क्योंकि आखिरको वह स्वाधीन और पूर्ण शक्तिवान ही तो है। इसलिये भगवान्‌ने सर्व जीवन घट-नाओंको बिल्कुल परिणामाधीन अथवा कर्माश्रित ही नहीं माना था और इसतरह प्राकृत रूपमें जीवात्माके दो भेद शुद्ध और अशुद्ध अथवा मुक्त और संसारी बताये थे। मुक्तजीव इसलोककी शिखरपर सदा सर्वदा अनन्तकाल तक अपने सुखरूप स्वभावमें लीन रहते हैं और संसारी जीव इस संसारमें अपने भले बुरे कर्मोंके अनुसार उस समय तक रुलते रहते है जबतक कि वह सर्वथा कर्मोंसे अपना पीछा नहीं छुड़ा लेते है। संसारी जीवोंका दश प्राणोंके आधार पर जीवन यापन होता है। वे दश प्राण स्पर्शन, रसना, घ्राण, चक्षु, श्रोत्ररूप पांच इंद्रिया, मन, वचन, कायरूप तीन बल; आयु और श्वासोच्छ्वासरूप हैं। यह दश प्राण भी व्यवहारके लिये हैं वरन् मूलमें निश्चयरूपसे एक चेतना लक्षण ही जीवका प्राण है। इंद्रियोकी अपेक्षा जीव एकेंद्रिय, दो इंद्रिय, तीन इंद्रिय, चार इंद्रिय और पांच इंद्रियरूप हैं। पृथिवीकायिक, जलकायिक, अग्निकायिक, वायुकायिक और वनस्पतिकायिक अनेक प्रकारके स्थावर—एक जगह स्थिर रहने वाले जीव एकेंद्रिय है और शंख, कीडी, भौंरा तथा मनुष्य या पशु पक्षी क्रमसे द्वीन्द्रिय,

त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय और पचेंद्रिय जीव हैं। इनको त्रस और चतुरेन्द्रिय तकको विकलेंद्रिय भी कहते है।

जीवके शुद्ध और अशुद्ध व्यवहारको समझनेके लिये ही भगवानुके धर्मोपदेशमें नयोंका निरूपण किया गया है। नय मुख्यरूपमें निश्चय और व्यवहाररूप ही हैं। निश्चयनय पदार्थोंके असली स्वभावको व्यक्त करता है और व्यवहारनयसे उनकी विकृत दशाओ अर्थात् पर्यायोंका परिचय मिलता है। इसी भेदको और स्पष्ट करनेके लिये स्याद्वाद सिद्धात अथवा सप्तभंगी नयका निरूपण किया हुआ मिलता है।* पदार्थोंमें अनेक गुण है, वह केवल दो दृष्टियोंसे भी पूर्ण व्यक्त नहीं होसक्ते इसीलिये सात नयों रूप स्याद्वादसिद्धान्त उसको स्पष्ट कर देता है। यह स्या-

* स्याद्वादसिद्धात भगवान् महावीरसे बहुत पहलेका है, यह बात हिन्दूशास्त्रोंमें भी प्रकट है। 'अनुजित अध्याय' (Leg S. 2-12) पर टीका करते हुये नीलकंठ कहते हैं-"नवै सशयतिमिति स्याद्वादिनः सप्तभगी नयज्ञा।" (२ श्लो० अ० ४९) महाभारत, शातिपर्व, मोक्षधर्म अ० २३९ श्लो० ६में भी इसका उल्लेख है। स्याद्वाद सिद्धातको सशयात्मक मानना जैनियोंके साथ अन्याय करना है। श्री शकराचार्य उसके महत्वको समझ नहीं सके थे, यह महामहोपाध्याय डॉ० गंगानाथ झा सदृश ब्राह्मण विद्वान् स्पष्ट कह चुके हैं। प्रॉ० ध्रुवके शब्दोंमें "स्याद्वादका सिद्धान्त बहुत सिद्धान्तोंको अवलोकन करके उनके समन्वयके लिये प्रकट हुआ है। यह अनिश्चयसे नहीं उपजा है। यह हमारे सामने एकीकरणका दृष्टिविन्दु उपस्थित करता है। शकराचार्यने जो स्याद्वादपर आक्षेप किया है, वह इसके मूल रहस्यपर बराबर नहीं बैठता।....अनेक दृष्टिविन्दुओंसे देखे बिना एक समग्र वस्तुका स्वरूप नहीं समझा जाना और इसलिए स्याद्वाद उपयोगी तथा सार्थक है।"

द्वाद सिद्धान्त स्यात् अस्ति, स्यात् नास्ति, स्यात् अस्तिनास्ति, स्यात् अवक्तव्य, स्यात् अस्ति अवक्तव्य, स्यात् नास्ति अवक्तव्य और स्यात् अस्तिनास्तिअवक्तव्य रूप है। स्यात् अस्तिनयसे द्रव्य अपने द्रव्य, क्षेत्र, काल, भावरूप सत्तामें प्रगट होता है। स्यात्नास्ति दृष्टिसे द्रव्य अपने विरुद्ध द्रव्यके द्रव्य, क्षेत्र, काल, भावोको न रखनेके कारण नास्तिरूप है। स्यात् अस्ति नास्तिकी अपेक्षा द्रव्य है और नहीं भी है। स्यात् अवक्तव्यरूपसे द्रव्य वक्तव्यके बाहिर है। यदि हम उसको उसके निज औरपर दोनो रूपोंसे एक साथ कहना चाहते हैं। स्यात् अस्ति अवक्तव्य अपेक्षा द्रव्य अपने द्रव्य, क्षेत्र, काल, भावरूप और साथ ही अपने एवं परके संयुक्त द्रव्य, क्षेत्र, काल, भावरूपसे है और अवक्तव्य है। स्यात् नास्ति अवक्तव्य बतलाती है कि द्रव्य पर द्रव्य, क्षेत्र, काल, भावकी अपेक्षा और उसीसमय अपने एव परके द्रव्य, क्षेत्र, काल, भावके सयुक्त रूपसे नास्तिरूप है और अवक्तव्य भी है और स्यात् अस्ति नास्ति अवक्तव्य दृष्टिसे द्रव्य अपने द्रव्य, क्षेत्र, काल, भावसे और साथ ही अपने व परके द्रव्य, क्षेत्र, काल, भावके संयुक्त रूपसे है, नहीं भी है और अवक्तव्य भी है। इस प्रकार स्याद्वाद सिद्धांतका प्रतिपादन भगवान् पार्श्वनाथने भी पदार्थोंको स्पष्ट समझनेके लिए अपने धर्मोपदेशमें किया था। पदार्थोंमें नित्य, अनित्य, एक, अनेक आदि परस्पर विरोधी गुण एक साथ देखनेको मिलते हैं; परन्तु यह एक साथ कहे नहीं जासक्ते। इसीलिये इस स्याद्वाद-सिद्धांतकी आवश्यक्ता है। यह उस पदार्थकी खास अपेक्षासे उसके गुणोको ठीक तरहसे प्रगट कर देता है वरन् एकांत पक्षमें पड़कर

कभी भी पदार्थका निर्णय नहीं होसक्ता है। इस एकांत पक्षके हठमें अन्धोवाली मसल चरितार्थ होजाती है। जिसप्रकार कई अंधोंने हाथीके विविध अगोंपागमेंसे एक२ को देखकर हाथीको वैसा ही माननेकी जिद् की थी, उसी प्रकार एकांत दृष्टिसे हम वस्तुके एक पक्षको ही प्रगट कर सक्ते है और वह पूर्णत सत्य नहीं होसक्ता है। अनेकांत अथवा स्याद्वाद सिद्धातमें यही विशेषता है कि वह वस्तुको सर्वांग रूपमें प्रगट कर देता है और परस्पर विरोधी जच-नेवाली वार्तोको मेट देता है। उक्त उदाहरणके अन्धे पुरुषोंका झगड़ा इस सिद्धांतकी वदौलत सहजमे सुलझ जाता है। अन्धोंका एक पक्षसे हाथीको उसके पैरों जैसा लम्बा या पेट जैसा चौडा आदि मानना ठीक नहीं है। परन्तु उनका वह कथन असत्य भी नहीं है। हाथी अपने पैरोंकी अपेक्षा लम्बा भी है, इसतरह कह-नेसे वह ठीक रास्तेपर आसक्के हे और परस्पर भेदको मेट सक्ते हैं। यही इसका महत्त्व है। एक आचार्य कहते है कि:—

'कर्मद्वैतं फलद्वैतं लोकद्वैतं च नो भवेत् ।
विद्याऽविद्याद्वयं न स्यात् वन्धमोक्षद्वयं तथा ॥२५॥'

भावार्थ—'एकांतकी हठ करनेसे पुण्य–पापका द्वैत, सुख दुःखका द्वैत, लोक परलोकका द्वैत, विद्या अविद्याका द्वैत तथा वंध मोक्षका द्वैत कुछ भी नहीं सिद्ध हो सकेगा।' इसलिये स्याद्वाद सिद्धांत ही सर्वथा पदार्थका सत्यरूप सुझानेमें सफल होसक्ता है। आपसी भेदोंको भी वही मिटा सक्ता है। इसी सिद्धांतको ध्यानमें रखनेसे कोई भी शंकायें अगाड़ी नहीं आसक्तीं हैं। अस्तु !

भगवान् पार्श्वनाथजीके धर्मोपदेशका महत्त्व इतनेसे ही हृदयं-

गम होजाता है। सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्‌चारित्र रूप ही मोक्षका मार्ग है। इस मार्गका अनुसरण करके जीवात्मा अपनेको कर्मोंके फन्देसे छुड़ा लेता है। गत जन्मोंमें किये हुये कर्मोंको वह क्रमकर नष्ट कर देता है और आगामी ध्यान-ज्ञानकी उच्चतम दशामें पहुंच कर उनके आनेका द्वार मूंद देता है। फिर वह अपने रूपको पा लेता है। जो वह है सो ही बन जाता है। जीवात्माकी आत्मोन्नतिके लिहाजसे ही भगवानने उसके लिये चौदह दर्जे बताये हैं, जिनको गुणस्थान कहते हैं। मोहनीय कर्म और मन, बचन, कायकी क्रियारूप योगके निमित्तसे जो आत्मीक भाव उत्पन्न होते हैं, उन्हींको गुणस्थान कहते हैं। जितने२ ही यह भाव आत्माके शुद्ध स्वरूपकी ओर बढ़ते जाते हैं उतने२ ही जीवात्मा आत्मोन्नति करता हुआ गुणस्थानोंमे बढ़ता जाता है। यह चौदह गुणस्थान क्रमकर मिथ्यात्त्व, सासादन, मिश्र, अविरतसम्यक्त्व, देशसंयत, प्रमत्तसंयत, अप्रमत्तसंयत, अपूर्वकरण, अनिवृत्तिकरण, सूक्ष्मसांपराय, उपशांतमोह, क्षीणमोह, सयोगकेवली और अयोगकेवली रूप हैं। इनमेंसे पहलेके पांच गुणस्थानोंको पुरुष, स्त्री, गृहस्थ और श्रावक समान रीतिसे धारण कर सक्ते है। ग्यारहवीं उद्दिष्टत्याग प्रतिमा पर्यंत, जिसमें गृह त्यागी व्यक्तिके पास केवल लंगोटी मात्रका परिग्रह होता है, श्रावक ही संज्ञा है। इस ग्यारहवीं प्रतिमापर्यंत स्त्रियां भी श्रावकके व्रत पाल सक्तीं है। शेषमें छठे गुणस्थानके उपरात सब ही गुणस्थानोंका पालन तिलतुष मात्र परिग्रह तकके त्यागी निर्ग्रंथ मुनि ही कर पाते हैं। इन गुणस्थानोंका स्वरूप संक्षेपमें इस तरह समझना चाहिये—

१–**मिथ्यात्त्व गुणस्थानमें** मिथ्यात्त्वका उदय होनेसे राग द्वेष आदि रहित सच्चे देव, सर्वज्ञ प्रणीत, युक्तिसे सिद्ध, पूर्वापर विरोध रहित, आगम और वस्तुस्थितिके यथार्थरूप तत्वोंमें श्रद्धान नहीं हो पाता है। अनादिकालसे ससारमें घूमते हुये जीव इसी मिथ्यात्वगुणस्थानवर्ती होते है। इस गुणस्थानसे निकलकर जीव एकदम चौथे गुणस्थानमें पहुंच जाता है। उसे क्रमश: जानेकी जरूरत नहीं है।

२. **सासादन गुणस्थान**–में जीवात्माका आत्मपतन होता है। चौथे गुणस्थानमें पहुंचकर जीवके उदयमें जब अनन्तानुवंधी कषायमेंसे एक अर्थात् क्रोधका उदय होता है, तव जीवात्मा पतन करता हुआ इस दूसरे गुणस्थानमें होकर पहले गुणस्थानमें पहुचता है। वस पहले गुणस्थान तक पहुंचनेके अतरालमें जो भाव रहते हैं वह सासादन गुणस्थान है। अर्थात् सम्यक्त्वके छूटनेपर मिथ्यात्वको पाने तक जो भावोंकी दशा हो वही सासादन गुणस्थानवर्ती है।

३. **मिश्रगुणस्थान**–में सच्चे और झूठे देव, शास्त्र और पदार्थका श्रद्धान एक साथ रहता है। चौथे गुणस्थानसे पतन करके ही जीव इसमें आता है। यह जीवकी सत्य और असत्यके बीचमें डांवाडोल अवस्थाका द्योतक है।

४. **अविरतसम्यक्त्व**–में जीवात्माको सच्चे देव, शास्त्र और पदार्थमें श्रद्धान तो होता है, परन्तु वह व्रतोंको धारण नहीं कर सक्ता है। अहिंसा, अचौर्य, ब्रह्मचर्य, सत्य और अपरिग्रह यही एक देशरूपमें पंचव्रत कहेगये है। इनका पालन करनेवाला जीव कभी भी जानबूझकर मन, वचन, कायसे न अपने लिये और न

दूसरेके लिये जीवित प्राणियोंके प्राणोंको अपहरण करता है, न गिरी पड़ी, भूली और पराई वस्तु ग्रहण करता है, न परस्त्रियोंसे संभोग करता है, न झूठ और न दूसरोंके प्राणोंको संकटमें डालनेवाला सत्य ही कहता है एवं तृष्णाको एकदम बढ़ने न देनेके लिये अपनी सांसारिक आवश्यक्ताओंको नियमित कर लेता है। सचमुच ग्रहस्थ अवस्थामें इन व्रतोंका पालन करनेसे एक ग्रहस्थ संतोषी और न्यायप्रिय नागरिक बन सक्ता है। परन्तु इस चौथे गुणस्थानमें वह इन व्रतोंको धारण करनेमें स्वभावतः असमर्थ होता है। उसके मोहनीयकर्मकी इतनी जटिलता है कि वह सहसा व्रतोंको धारण नहीं कर सक्ता है, यद्यपि उसको सच्चे देव, शास्त्र और तत्वका श्रद्धान होता है। इस सच्चे श्रद्धानकी बदौलत ही जीवात्मा उन्नति करके पांचवें गुणस्थानमें पहुंचता है। इसीलिये श्रद्धानका ठीक होना बहुत जरूरी है। सम्यक् श्रद्धान ही सन्मार्गमें लगानेवाला है।

५. देशविरत–गुणस्थानमें जीवात्मा व्रतोंका एक देश पालन कर सक्ता है। वह जानबूझकर हिंसादि पांच पापोंसे दूर रहता है। श्रावककी ग्यारह प्रतिमाओंका समावेश इस गुणस्थान तक होजाता है। इन ग्यारह प्रतिमाओंका स्वरूप इस तरह है–यह संसारमें फंसे हुये गृहस्थको क्रमकर मोक्षके मार्गपर लानेवाली है। इनमें प्रवृत्ति मार्गसे छुड़ाकर निर्वृत्ति मार्गकी ओर उत्तरोत्तर बढ़ानेका ध्यान रक्खा गया है। पहली दर्शन प्रतिमामें एक व्यक्तिको जैन धर्ममें पूर्ण श्रद्धान रखना होता है। उसे उसके सिद्धान्तोंका अच्छा परिचय होना आवश्यक रहता है तथापि वह मांस, मधु, मदि-

राका त्यागी होकर यथाशक्ति पाच अणुव्रतोंको पालन करनेका प्रयत्न करता है। दूसरी व्रतप्रतिमामें उसे अहिसादि पांच अणुव्रतोंका पूर्ण रीतिसे पालन करना होता है। साथ ही ३ गुणव्रत और ४ शिक्षाव्रतोंको भी वह पालता है। दूसरे शब्दोंमें वह प्रति दिवस नियमित रीतिसे अपने आनेजानेके क्षेत्रकी दिशाओं और दूरीका प्रमाण करलेता है, वृथाका बकवाद अथवा पापमय कार्योंका विचार और उनको करनेसे दूर रहता है। शिक्षाव्रतोंमें वह प्रातः, दिवस अपने खानपानके पदार्थोंको नियमित कर लेता है, प्रातः, मध्यान्ह और सायंकालको भगवानकी पूजन करता है, पर्वके दिनोंमें उपवास करता है और आहार, औषधि, विद्या और अभयदान देता है। इसतरह वह इन व्रतोंका पूर्णत· पालन करके अपने त्याग-भावको उत्तरोत्तर बढ़ाता जाता है, और इसतरह उन्नति करते हुये वह अपनेमें समभावोंको अर्थात् सब वस्तुओंमें साम्यभाव रखनेका प्रयत्न करता है। इसके लिये वह नियमित रीतिसे प्रतिदिन सवेरे, दुपहर और शामको होशियारीके साथ ध्यान करनेका अभ्यास करता है। सामायिककी दशामें वह अपने परिणामोंको समतारूप बनाने और अपने आत्मगुणोंके चिन्तवनमें लगाता है। सामायिक पाठका प्रथम चरण ही उसके भावको स्पष्ट करता है। जैसे—

'नित देव ! मेरी आतमा धारण करे इस नेमको,
मैत्री करे सब प्राणियोंसे, गुणिजनोंसे प्रेमको।
उनपर दया करती रहे जो दुःख-ग्राह-ग्रहीत है,
उनसे उदासी ही रहे जो धर्मके विपरीत है ॥

यह तीसरी सामायिक प्रतिमा है। चौथी प्रोषधोपवास

प्रतिमामें उसको प्रतिपक्षकी अष्टमी और चतुर्दशीको होशियारीके साथ उपवास करने पड़ते हैं। पांचवी **सचित्तत्याग** प्रतिमामें वह सचित जिनमें उपजनेकी शक्ति विद्यमान हो, ऐसी शाक भाजी और जल ग्रहण नहीं करता है। छठी **रात्रिभुक्तित्याग** प्रतिमामे वह रात्रिके समय न स्वयं भोजन व जलपान करता और न दूसरोको कराता है। सातवी **ब्रह्मचर्य** प्रतिमामे वह अपनी विवाहिता स्त्री तकसे भी संभोग करना छोड़ देता है और वह पूर्णतः मन-वचन-कायसे ब्रह्मचर्यका पालन करता है। आठवीं **आरम्भत्याग** प्रतिमामें वह अपनी आजीविकाके साधनोंका भी त्याग कर देता है। धन कमाने, भोजन बनाने आदिसे हाथ खींच लेता है। नौवी **परिग्रहत्याग** प्रतिमामें वह सांसारिक पदार्थोंसे अपनी इच्छा–वाञ्छाको बिल्कुल हटा लेता है और अपनी सब धन-सम्पत्तिको त्यागकर केवल गिनतीके थोड़ेसे वस्त्र और बरतन रखलेता है। दशवीं **अनुमतित्याग** प्रतिमामें वह सांसारिक कार्योंके संबन्धमें अपनी राय भी नहीं देता है और ग्यारहवी एवं अन्तिम **उद्दिष्टत्याग** प्रतिमामें वह अपने शरीरको बनाये रखनेके लिये भोजनको भिक्षा-वृत्तिसे ग्रहण करता है; परन्तु वह उन वस्तुओंको ग्रहण नहीं करता है जो खास उसके लिये बनाई गई हों। वह एक चादर और लंगोटीको रखकर ऐलक पदको पा लेता है। ऐलक दशामें वह हाथोंमें ही लेकर भोजन ग्रहण करता है। यह दोनो महानुभाव अपने साथ एक कमण्डलु और मोरपंखकी पीछी रखते है। तथापि क्षुल्लक एक पिण्डपात्र भी रखते हैं। इनकी भिक्षावृत्ति भी स्वाधीनरूप होती है। यह किसीसे याचना नहीं करते है। जो आदरभावसे उनको

नियमितरूपमें भोजनके समय आमंत्रित करके शुद्ध आहार देते हैं उन्हींके यहां वह आहार ग्रहण करते हैं। इन ग्यारह प्रतिमाओंमें क्रमशः त्यागभाव उत्तरोत्तर बढ़ता गया है और आखिरमें उस श्रावकका जीवन एक साधुके समान ही करीब२ होगया है। यहां-तक स्त्रियें भी इस चारित्रको धारण करसक्ती हैं, परन्तु वह अपनी प्राकृत लज्जाके कारण वस्त्रत्यागकर निर्ग्रंथ अवस्थाको धारण नहीं कर पातीं हैं। इस पांचवे गुणस्थान तक जीवात्मा इन ग्यारह प्रति-माओं रूप ही अपना आचरण बनासक्ता है। पूर्ण रीतिसे वह अहिंसादि व्रतोंका पालन नहीं करसक्ता है। निर्ग्रंथ मुनि ही पूर्ण-रीतिसे इन व्रतोंका पालन करते हैं।

६. प्रमत्तसंयतगुणस्थानमें यद्यपि पुरुष दिगंबर मुनि हो जाता है और सर्व प्रकारके परिग्रहको त्याग देता है, परन्तु तो भी उसके परिणाम शरीरकी ममतामें कदाचित् झुक जाते हैं। यह प्रमत्तभाव है अर्थात् ध्यानकी एकाग्रतामें लापरवाई या कोताई है। यहांसे सब गुणस्थान निर्ग्रंथ मुनि अवस्थाके ही हैं।

७–अप्रमत्तविरत–गुणस्थानमें प्रमत्तभावको छोड़कर मुनि पूर्णरूपसे महाव्रतोंको पालन करता है और धर्मध्यानमें लीन रहता है। यहांसे आत्मोन्नतिका मार्ग दो श्रेणियोंमें बँट जाता है–(१) उपशमश्रेणी, जिसमें चारित्र मोहनीय कर्मका उपशम हो जाता है और (२) क्षपकश्रेणी, जिसमें इस कर्मका बिल्कुल नाश होजाता है। यही मोक्षका आवश्यक मार्ग है, चारित्र मोहनीय कर्मके उदयसे जीवात्माके सम्यक्चारित्र प्रगट होनेमें बाधा उपस्थित रहती है। इसका नाश होते ही सम्यक्चारित्रका पूर्णतासे पालन होने लगता

है, आत्मध्यानकी एकाग्रता होजाती है, जिससे स्वस्वरूपकी प्राप्ति होती है। इसीलिये कहा गया है कि:-

'खाना चलना सोवना, मिलना वचन विलास।
ज्यौं ज्यौं पंच घटाइये, त्यौं त्यौं ध्यान प्रकास॥ ६२॥
आगमग्यान सदा व्रतवान, तपै तप जान तिहूं गुन पूरा।
ध्यान महारथ धारन कारन, होय धुरंधर सो नर सूरा॥
ध्यान अभ्यास लहै सिववास, विना भवपास परै दुख भूरा।
कर्म महादिढ़ सैल बडे बहु, ध्यान सु वज्र करै चकचूरा
॥ ६३॥ भाषा द्रव्यसंग्रह द्यानतरायकृत॥

इस गुणस्थानसे ध्यानकी उत्तरोत्तर वृद्धि होना प्रारम्भ हो जाता है।

८. अपूर्वकरण-गुणस्थानमे उस विचार-क्रिया (Thought-activity)को मुनि प्राप्त होता है जिसको अभीतक उनकी आत्माने प्राप्त नहीं किया है। आर्त, रौद्र, धर्म और शुक्ल इन चार ध्यानोमें सर्व अंतिम सर्वोच्च शुक्लध्यानका प्रथम अनुभव इसी गुणस्थानमें होता है। आत्माके शुद्ध रूपका ध्यान शुद्ध रीतिसे यहीं होता है। आर्त और रौद्र ध्यान बुरे ध्यान हैं, यह कषायोंको लिये हुये है। धर्मध्यान इनसे अच्छा शुभरूप है और शुक्लध्यान तो सर्वोच्च आत्मध्यान ही है।

९. अनिवृत्तिकरण-गुणस्थानमें उपरोक्त विचार-क्रिया (करण) और अधिक बढ़ जाती है जिसमें और भी अधिक शुद्ध-ध्यान होता है, जो प्रथम शुक्लध्यानका ही एक दर्जा है।

१०. सूक्ष्मसाम्पराय-गुणस्थानमें बहुत ही मामूली तरी-

कैसे मोह शेष रह जाता है। सब ही कषायवासनाओंका नाश अथवा उपशम होजाता है, केवल सूक्ष्म संज्वलन लोभ–बहुत ही कम नामका लोभ रह जाता है, यहां भी प्रथम शुक्लध्यान है।

११. उपशान्तमोह–गुणस्थानमें मोहका उपशम होजाता है अर्थात् वह दब जाता है, निष्क्रिय होजाता है। यह भाव समस्त चारित्रमोहनीय कर्मोंके उपशमसे होता है, यह भी प्रथम शुक्लध्यानका भेद है। यदि कोई मुनिजन विशेष बलवान न हुये तो वह यहांसे पतन करके चौथे अथवा दसवें गुणस्थानमें पहुंच जाते हैं। वरन् वह दृढ़तापूर्वक आठवें गुणस्थानकी क्षपकश्रेणीमें उन्नति करने लगते हैं।

१२. क्षीणमोह–गुणस्थानमें मोहका अभाव होजाता है। समस्त चारित्रमोहनीय कर्मोंका नाश यहां होजाता है। शुक्लध्यानका दूसरा दर्जा, जो पहलेसे अधिक विशुद्ध है, यहीं प्रगट होता है। मुनि दशवें गुणस्थानसे सीधे इस गुणस्थानमें आते हैं, ग्यारहवें गुणस्थानमें जानेकी जरूरत नहीं है, क्योंकि वह उपशम श्रेणीसे सम्बंधित है।

१३. सयोगकेवली–गुणस्थान चार घातियाकर्म रहित जीवात्माकी शरीरसहित शुद्ध दशा है। यहां ज्ञानावर्णीय, दर्शनावर्णीय, अन्तराय और मोहनीय कर्मोंका सर्वथा नाश होजाता है; जो आत्माके निजगुणोंके प्रगट होनेमें बाधक हैं। बस इनके नष्ट होनेसे आत्मा शुद्ध, बुद्ध, जीवित परमात्मा होजाता है, जिसको अर्हन्त कहते हैं। पूर्ण ज्ञान, पूर्ण दर्शन और पूर्ण सुखका आत्मा यहां अधिकारी हो जाता है। सर्वज्ञदशामें वह धर्मके तत्त्वोंका यथावत् प्रतिपादन करता

है। इस दशामें आत्मामें सकंपपना मौजूद रहता है। किन्तु—

१४–अयोगकेवली गुणस्थानमें यह संकपपना बिलकुल नष्ट होजाता है। यह गुणस्थान सयोगकेवलीके मोक्ष प्राप्त करनेके सिर्फ इतने अन्तराल कालमें प्राप्त होता है कि अ, इ, उ, ऋ, ऌ, इन पाच अक्षरोंका उच्चारण मात्र ही किया जासके। इसके बाद जीवात्मा शरीर छोड़कर निजरूप होकर पूर्ण सुख और शांतिका अधिकारी अनादिकालके लिए होजाता है और सिद्ध कहलाता है। वह इस लोकके शिखरपर निजानन्दमय हुआ अनतकालके लिये तिष्ठा रहता है। दुःख–शोक आदि वहां उसे कुछ भी नहीं सता पाते हैं। वह सच्चिदानन्द रूप होजाता है।

इसप्रकार भगवान् पार्श्वनाथका धर्मोपदेश प्राकृत रूपमें संसार तापसे तपे हुये भयभीत प्राणीको शांतिप्रदान करानेवाला संदेश था। वह रङ्कसे राव बनानेवाला था। पराधीनताके पञ्जेसे छुड़ाकर स्वातंत्र्य सुखको दिलानेवाला था। सांसारिक विषयवासनाओं और वांछा अकांक्षाओसे कमजोर हुई आत्माओंको सिंह समान निर्भीक और बलवान् बना देना, इस धर्मोपदेशका मुख्य कार्य था। निर्ग्रंथ मुनियोंकी चर्या सिंहवृत्तिके समान होती है। जिसतरह प्राकृत रूपमें निशङ्क होकर अरण्य केसरी वन विहार करता है, उसी तरह दिगम्बर भेषको धारण किये हुये मुनिराज भी निडर होकर वन–कंदराओमें विचरते रहते है और सदैव आत्म स्वातंत्र्यका मंत्र जपते हैं। किन्तु सिंहके पास जानेमें इतर प्राणियोको भय मालूम देता है, पर उन आत्म स्वातंत्र्य स्थलीमें सिंह समान विचरनेवाले मुनिराजके निकट हरकोई निर्भय होकर पहुंच सक्ता

और आत्मकल्याण कर सक्ता है। यही मुनिराज अपने प्रखर आत्म-ध्यानके बलसे अन्तमें त्रिलोक्यपूज्य और सच्चिदानन्दरूप साक्षात् परमात्मा होजाते है, यह ऊपर बताया ही जाचुका है।

संसारके इन्द्रायण फलके समान विषयभोगोंमे फंसे हुये जीवोंके लिए यह सुगम नहीं होता है कि वह एकदम अपनी प्रवृत्तिको बदल दें इसीलिये भगवानने एक नियमित ढगसे क्रमकर अपनी प्रवृत्तिको बदलना आवश्यक बतलाया था। शास्वत सुख प्राप्त करनेके लिये सात्विक मनोवृत्तिको उत्पन्न करना प्रारम्भमें जरूरी होता है। इसी अनुरूप भगवानके धर्मोपदेशमें मांस, मधु, मदिरा आदि पदार्थोंको ग्रहण न करनेकी मनाई थी। यह अखाद्य पदार्थ थे। प्राणियोंके प्राणोंकी हिंसा करके यह मिल सक्ते हैं। और कोई भी प्राणी अपने प्राणोंको छोड़ना नहीं चाहता है। सबको ही अपने प्राण प्रिय है। इसलिये मासको ग्रहण करना प्राकृत अयुक्त ठहरता है। इस नियमको ग्रहण करते ही प्राणी साम्यभावके महत्त्वको समझ जाता है। वह जान लेता है कि जिसतरह मुझे अपने प्राण, अपना धन, अपने बंधु प्रिय हैं, वैसे ही दूसरोंको भी वह प्रिय हैं। इस अवस्थामें वह विश्वप्रेमका पाठ स्वत. हृदयंगम कर लेता है और अपना जीवन ऐसा सर्व हितमई बना लेता है कि उसके द्वारा सबकी भलाई होती है। फिर वह उत्तरोत्तर अपने समताभावको बढ़ाता जाता है और सांसारिक वस्तुओसे ममत्व घटाकर अपने आत्माके ध्यानमें लीन होनेका प्रयत्न करता रहता है। इसके लिये वह नियमित त्याग और संयमका पालन करता है। संसारके कोलाहलसे दूर रहकर तपश्चरणका अभ्यास करता है। जिस तरह ग्रह-

स्थदशामें रहकर वह एक आदर्श गृहस्थ होता है, उसी तरह गृह-त्यागकी इस अवस्थामें वह परम तपस्वी होता है। तपका महत्व अकथनीय है, वह हरहालतमें उपादेय है। प्रॉ० जेम्स नामक एक अमेरिकन तत्वज्ञानी इस तपका महत्व इसप्रकार लिखते हैं— 'वैराग्यकी भावना और देहदमन उपयोगी है। जिसतरह बीमा कम्पनीमें थोड़ा२ रुपया जमा करते रहनेसे अन्तमें वह रुपया उपयोगी हुए विना नहीं रहता, उसी प्रकार देहदमनके लिये की हुई तपस्यायें भी आत्मामें ऐसा बल उत्पन्न कर देती हैं कि क्रमक्रमसे वह आत्मा जिनपदको प्राप्त किये विना नहीं रहता।" सचमुच एकदम न उच्चकोटिका संयम और तपका ही पालन किया जासक्ता है और न एकदम ज्ञान या कल्याणकी ही प्राप्ति होसक्ती है। उसमें धीरे२ ही गति होती है और वैसे२ ही ज्ञान और कल्याण भी प्राप्त होता है। शुरूमें यह मार्ग नागवार मालूम होता है; किन्तु जहां तनिक उस मार्गमें गये हुई कि बड़े कठिन जचनेवाले नियम भी बिल्कुल सुगम दृष्टि पड़ने लगते हैं। इस तरह पर पार्श्वनाथजीका धर्मोपदेश था—यह किसी भेदभाव या पक्षपातको लिये हुये नहीं था। प्रत्येक प्राणी हर परिस्थितिमे अपना आत्मकल्याण इसकी आराधनासे कर सक्ता है। भीरु और कमजोर आत्माओको वीर और बलवान बनानेवाला यह मार्ग था। क्षत्रिय शिरोमणि इक्ष्वाकु-कुलकेतु काश्यपप्रभू—महावीर पार्श्वद्वारा प्रतिपादित हुआ यह धर्म सर्वथा वीर आत्माओ द्वारा तो अपनाया ही जाता रहा है; परन्तु नीच और भीरु चोर—डाकू जैसे पापी भी इसकी शरणमें आकर अपना आत्मकल्याण कर सके थे। भगवानके धर्ममार्गका द्वार केवल

मनुष्योंके ही लिये नहीं बल्कि पशुओंतकके लिये खुला हुआ था। वह सबको त्राणदाता था, शांतिसाम्राज्यको सिरजनेवाला था। सचमुच वह थाः—

'आदि अन्त आविरोध यथारथ, जो भाषत सब वस्तु विधानन।
जो अनादि अज्ञान निवारत, जा समान हितहेत न आनन॥
जाको सुजस तिहूं जग व्यापत, इन्द्र अलापत तननननानन
भविकवृन्दको सोभधार है, जो सब निगमागमको आनन॥

---

(१६)

धर्मोपदेशका प्रभाव।

'यमीश्वरं वीक्ष्य विधूतकल्मषं,
तपोधनास्तेऽपि तथा बुभूषवः।
वनौकसः स्वश्रमवन्ध्यबुद्धयः,
शमोपदेशं शरणं प्रपेदिरे॥ १३४॥
श्री समन्तभद्राचार्य.।

गहन गंभीर वनोंमें शीतलजलमयी सरिताओंके किनारे वानप्रस्थ ऋषियोंके बडे बड़े आश्रम थे। प्रतिदिवस बड़े समारोहके साथ वहां अग्निहोत्र विधान होता था। नरमेध, गौमेध आदिके नामसे जीवित प्राणियोंके मूल्यमय प्राण बलिवेदीपर उत्सर्गीकृत किये जाते थे। स्वर्गसुखके लालच और पितृऋणके भयके कारण परावलम्बी बनी हुई जनता इस कार्यको हठात् कर रही थी। उधर स्वयं जटिलादि वानप्रस्थ ऋषिगण अपनी इंद्रियलिप्साको अधिक सीमित नहीं रख सके थे। पुत्रमुखके दर्शन करना उनके निकट भी एक कर्तव्य था, यह सब कुछ हम पहले देख चुके हैं किन्तु भगवान्

पार्श्वनाथजीने ज्योंही सत्यका सिंहनाद प्राकृतरूपमें घोषित किया था त्योंही इन गहनवनोंके भीतरवाले आश्रमोंमें भी हलचल मच गई थी, अग्निहोत्रिकी उच्च ज्वालायें एक क्षणके लिये थम गईं थीं। शिष्यगण एवं साधारण जनता धर्मके नामपर की जानेवाली इस हिंसाके विषयमें सशङ्क हो स्पष्टरूपसे इसका समाधान करनेका आग्रह करने लगे थे। सत्यका वहांपर प्रायः अभाव देखकर वह भगवानकी शरणमें आये थे। यही कारण था कि भगवान पार्श्वनाथका सम्बोधन उस प्राचीनकालमें "सर्वजनप्रिय" (People's Favourite) के नामसे होने लगा था। ईसाकी प्रारंभिक शताब्दियोंमें हुये श्री समन्तभद्राचार्यजी भी यही कहते हैं कि " जिस घातिया कर्मोंके नाश करनेवाले तीनलोकके स्वामी पार्श्वप्रभुको देख वनवासी कुतपस्वी, पञ्चाग्नि आदि साधनोंमें विफल मनोरथ होते हुए, भगवानके सदृश होनेकी इच्छासे, शांतिके उपदेश भगवान् अथवा जिसमें शातिका उपदेश है ऐसा मोक्षमार्ग उसके शरणीभूत हुये अर्थात् सच्चे मार्गमें लगे थे।" शकसंवत् ७३६में हुये श्री जिनसेनाचार्य भी अपने "पार्श्वभ्युदयकाव्य"में यही कहते हैं, यथा—

'इति विदितमहर्द्धि धर्मसाम्राज्यमिन्द्राः,
जिनमवनतिभाजो भेजिरे नाकभाजाम्।
शिथिलितवनवासाः प्राक्तनीं प्रोज्झ्य वृत्ति,
शरणमुपययुस्तं तापसाः भक्तिनम्राः ॥ ६९ ॥'

"टीका—जटिलादयः कुतापसाः निजकायक्लेशे निष्फलत्वं निश्चिन्वन्तः। तपोमहिम्ना प्राप्तोदयं पार्श्वतीर्थंकरं तत्तपोलब्धुकामाः शरणं ययुरिति भावः। योगिराट्।"

भाव यही है कि जटेल आदि कुतापस जो थे वह अपने पञ्चाग्नि आदिरूप कायक्लेश एवं अन्य धार्मिक क्रियायोंको निष्फल होते देखकर भगवान् पार्श्वनाथकी शरणमें आये थे। भगवान्के प्राकृत सदेशमें शांति और सुखका स्पष्ट विधान था। वह युक्तिसे प्रत्यक्ष बुद्धिग्राह्य था, उसको पाकर अपने एकांत पक्षमें विधर्मियोंका विश्वास खो बैठना स्वाभाविक ही था! वहां हठपक्ष तो था नहीं, सरलता थी, सत्यको पानेकी अभिलाषा थी। यही कारण था कि बहुजन भगवानकी शरणमें आये थे। ईसाकी आठवीं शताब्दिके विद्वान् महर्षि श्री गुणभद्राचार्यजी भी अपने "उत्तरपुराण" में कहते है कि.—

'तदा केवलपूजां च सुरेंद्रा निरवर्तयन् ।
संवरोप्यात्तकालादि लब्धिः शममुपागमत् ॥१४५॥
प्रापत्सम्यक्त्वसंशुद्धिं दृष्ट्वा तद्वनवासिनः ।
तापसास्त्यक्तमिथ्यात्वाः शतानां सप्त संयमं ॥१४६॥
गृहीत्वा शुद्धसम्यक्त्वाः पार्श्वनाथं कृतादराः ।
सर्वे प्रदक्षिणीकृत्य प्रणेमुः पादयोर्द्वयोः ॥ १४७ ॥'

अर्थात् जिस समय भगवान् पार्श्वनाथको केवलज्ञानकी प्राप्ति होगई थी तो उसी समय इंद्रादि देवोंने आकर केवलज्ञानकी पूजा की और वह संवर नामका ज्योतिषीदेव भी कालादि लब्धिके प्राप्त होनेसे अत्यन्त शांत होगया। उसने शुद्ध सम्यग्दर्शन धारण किया तथा उसे देखकर उस वनमें रहनेवाले सातसौ तपस्वियोंने मिथ्यात्व छोडकर संयम धारण किया, शुद्ध सम्यग्दर्शन स्वीकार

किया और उन सबने बड़े आदरसे श्री प्रदक्षिणा देकर उन (भगवान्) के दोनों चरणकमलोंको प्रणाम किया।"

(उत्तरपुराण पृ० ५७८)

यही बात उपरान्तके जैनाचार्य भी कहते हैं। सं० १४६४में हुये श्री सकलकीर्तिजी भी लिखते हैं कि 'जिनेन्द्ररूपी भानुके उदयके होते ही साधु, मुनिश्वरोंका संचार होगया था और जटिलादि कुलिंगी तापस जो थे वह तस्करोंके समान विलीन होगये थे।' ('जिनभानूदये संचरंति साधु मुनीश्वराः। तदा कुलिंगिनो मंदा नश्यंति तस्करा इव ॥१७॥२३॥) सं० १६५४में श्रीचंद्रकीर्ति द्वारा रचित पार्श्वचरितमें भी इस बातका समर्थन किया गया है। वहां लिखा है कि 'साधारण जनताने प्रसन्न भावसे भगवानके उपदेशामृतका पान किया था।' (लोका· प्रसन्नभावेन पीतार्हद्वाक्सुधारा।) श्री चंद्रकीर्तिजीके समकालीन श्वेताम्बराचार्य श्री भावदेवसूरिने भी अपने "पार्श्वनाथचरित"में अनेक मनुष्योंका भगवानके धर्मको ग्रहण करना लिखा है। (सर्ग ६, श्लो० २९६–२९७) अन्ततः कविवर श्रीभूधरदासजी भी भगवानके इस दिव्य प्रभावका उल्लेख निम्न प्रकार करते हैं:—

"वचन किरनसौं मोहतम, मिथ्यौ महा दुखदाय।
वैरागे जगजीव बहु, काल लब्धि बल पाय॥
सम्यकदरसन आदर्यो, मुक्ति तरोवर मूल।
संकादिक मल परिहरे, गई जन्मकी सूल॥
तहां सातसै तापसी, करत कष्ट अज्ञान।
देखि जिनेसुर संपदा, जग्यौ जथारथ ग्यान॥

दई तीन परदच्छिना, प्रनमें पारसदेव ।
स्वामि-चरन संयम धर्यो, निंदी पूरव देव ॥
धन्य जिनेसुरके वचन, महामंत्र दुखहंत ।
मिथ्यामत-विषधर-डसे, निर्विष होहि तुरंत ॥"
(पार्श्वपुराण)

सर्वज्ञकथित वाणीका प्रभाव सर्वव्यापी होना स्वाभाविक ही है । उसके समक्ष अल्पमतिवाले एकांत पक्षियोंका अपने मार्गमें रहना कठिन है । भगवान पार्श्वनाथजीके उस समयकी धार्मिक प्रगतिपर यदि दृष्टि डाली जावे तो वहांसे भी इस ही व्याख्याकी पुष्टि होती है । उनके उपरान्तके प्रख्यात मतप्रवर्तकोंमें हम खास तौरपर हिंसा कार्यको दूसरी तरहसे समर्थन करते हुये पाते हैं । वह जीवात्मा और पाप पुण्यको मेटकर अपनी चिरग्रसित जिह्वा-लंपटताकी सिद्धि करते हुये पाये जाते हैं ।[१] इतनेसे ही कार्य नहीं चला था, वल्कि यह खास मतप्रवर्तक अपने मूल वानप्रस्थ धर्मसे अलग होकर नये मतोंका प्रचार करने लगे थे । आजीवक संप्रदायका जन्म इसी समय वानप्रस्थोंमेंसे हुआ था और उन्होंने भगवानके वताये हुए धर्ममेंसे भी मुनिके दिगंवर भेष और पूर्वोमेंसे कुछ अंश ग्रहण कर लिया था ।[२] साधारण रीतिसे यहांपर इन खास मतप्रवर्तकोंकी चर्या पर एक दृष्टि डालकर यह देख लेना सुगम होगा कि सचमुच भगवान पार्श्वनाथके उपदेशका प्रभाव उस समय दिगन्तव्यापी होगया था ।

१-भगवान महावीर और म० बुद्ध पृ० १६-२८। २-भगवान महावीर पृ० १६३ और वीर वर्ष ३ अंक ११-१२।

भगवान् पार्श्वनाथजीके उपरान्त वैदिक धर्ममें हमको पिप्पलाद नामक आचार्यका मुख्यतासे पता चलता है। इनके सिद्धांतोंका विवेचन 'प्रश्नोपनिषद्'में किया गया है। इनके छह समसामयिक ऋषि सुकेशस· भारद्वाज, शैव्य सत्य काम, सौर्यायनिन गार्ग्य, कौशल्य आश्वलाययन, भार्गव वैदर्भी और कवन्धिन कात्यायन थे।[१] पिप्पलादका समय म० बुद्धसे बहुत पहले खयाल नहीं किया जाता है, यद्यपि जैन हरिवंशपुराणमें इनका उल्लेख याज्ञवल्क्यके साथ किया गया है[२] किन्तु बौद्धग्रन्थोंमें म० बुद्धके एक अधिक वय-प्राप्त समकालीन मतप्रवर्तक ककुड कात्यायन (पकुड़ कात्यायन)का उल्लेख मिलता है। यहांपर कात्यायन जो मुख्य नाम है वह पिप्पलादके समसामायिक ऋषि कवन्धिनकात्यायनका भी है और कवन्धिन एव ककुड विशेषण एक ही भावको प्रगट करनेवाले बताये गये हैं।[३] इस कारण पिप्पलाद कात्यायनसे पहले हुये थे, जो म०बुद्धका समकालीन था। दूसरे शब्दोंमें जब पिप्पलादकी अवस्था अच्छी तरह भर चुकी थी तब कात्यायन युवावस्थामें पग बढ़ा रहा था। इस दशामें भगवान् पार्श्वनाथजीके धर्मोपदेशके किञ्चित् बाद ही पिप्पलादकी प्रख्याति हुई स्वीकार की जा सक्ती है। अस्तु, इन ब्राह्मण ऋषि पिप्पलादकी गणना उमास्वाति आचार्यके तत्वार्थसूत्रकी टीकामे अज्ञानवाद (अज्ञानी कुदृष्टिः)में की गई है;[४] यद्यपि प्रश्नोपनिषद्में वह एक मान्य ऋषि स्वीकार किये गये हैं; जो ब्राह्मण दृष्टिसे ठीक ही है। पिप्पलादने ईश्वरवादको जो नया

१–प्रश्नोपनिषद् १।१। २–हरिवंशपुराण पृ० २४९। ३–प्री-बुद्धिस्टिक इण्डियन फिलासफी पृ० २२६–२२७। ४–राजवार्तिकजी (८।१) पृ० २९४।

रूप दिया था, वह उन पर किसी बाह्य प्रभावको पड़ा व्यक्त करती है। उनका कहना था कि सृष्टिका सद्भाव प्रजापतिसे हुआ है जो सार्वभौमिक पुरुष (वैश्वानर पुरुष) अथवा सूर्य है जिसका स्वभाव अग्नि है। सृष्टि रचना करनेकी इच्छा करके प्रजापतिने अपने स्वभावका ध्यान किया और उसके बल अपने शरीरमेंसे एक जोड़ा (मिथुन) पुद्गल (रयि) और प्राणको उत्पन्न किया। इन्हींसे सृष्टि होगई।[१] यही दोनो—रयि और प्राण—साख्यमतके पुरुष और प्रकृतिके समान ही है, जिनकी सदृशता जैनधर्मके जीव और अजीव भेदसे बहुत कुछ है। एकदृष्टिसे पिप्पलादने अपने उक्त मन्तव्यमें भगवान् पार्श्वनाथके उपदेशकी नकल ही करनी चाही है। भगवानने कहा था कि मूलमें जीवात्मा ही अपना संसार आप बनाता है और स्वभाव अपेक्षा सब ही जीव एकसे है। इसलिये वही स्वयं सृष्टिके रचयिता हैं, जिसमें पुद्गल और व्यवहार प्राणोंकी मुख्यता है। यही नहीं, वह यह भी कहता है कि प्राण (=चेतनामई जीव) ही पुद्गलको एक नियमित शरीरका रूप देते हैं और जब वह उससे अलग होता है तब वह शरीर नष्ट होजाता है।[२] भगवान् पार्श्वनाथने पुद्गलमई शरीरसे जीवका अलग होना और उसके अलग होनेपर शरीरका विघटना बतलाया ही था। पिप्पलाद जो इस प्रकार ईश्वरवादको नये ढंगसे जैनधर्मसे सदृशता रखता हुआ, प्रतिपादन कर रहा है, वह भगवान् पार्श्वनाथजीके धर्मप्रभावके कारण ही कहा जा सक्ता है।

पिप्पलादसे कौशलके आश्वलायनने कतिपय प्रश्न किये थे।

१-प्रीबुद्धि० इन्डि० फिला० पृ० २२८। २-पूर्व० पृ० २२९।

उसने पूछा था कि प्राणोंकी उत्पत्ति कहांसे है? वह शरीरमें कैसे आते हैं? शरीरको छोड़ कैसे जाते हैं? इसी सम्बन्धके उसने अनेक प्रश्न किये थे। पिप्पलादने इन प्रश्नोंको बहुत ही कठिन एक 'अतिप्रश्न' बतलाये थे[1] तो भी यथाशक्ति उत्तर देते हुये उसने कहा था कि प्राणोंकी उत्पत्ति आत्मासे अथवा अपने निजी स्वाभाव (Inner essence) से होती है। जीवनमें आत्मा उसी तरह है जिसतरह सूर्यमें परछाई पड़ती है। ('आत्मना एषः प्राणो जायते। यथैव पुरुषे छाया एतस्मिन्नेतद् आततम्। प्रश्नोपनिषद् ३।३।') आत्मा सम्राट्वत् शरीरके मध्य हृदयमें रहता है जिससे शरीरकी १०१ नाडियां निकलती हैं।[2] इन्हींके द्वारा आत्म-सम्राट् अपनी आज्ञाओंकी पूर्ति इतर भागोंसे कराता है। यह आत्मा शरीरको मृत्युसे छोड जाती है। मरण समय और शायद जन्मते समय भी इद्रियजनित ज्ञान (Sense-faculties) मनमें केन्द्रीभूत रहता है। आत्मा इंद्रियजनित ज्ञानसे स्वतंत्र और ज्ञानमय होकर अपने पूर्व संकलित अच्छे, बुरे या मिश्रित लोक (यथासंकल्पितम् लोकम्) को जाता है। अपने ही प्रकाशसे वह मार्ग देखता है और अपने प्राणोंकी शक्तिसे यह लेजाया जाता है।[3] आत्मा अथवा पुरुषको उसने शुद्ध उपयोगमई (विज्ञानात्मा) माना था[4] किन्तु उसने अपने खास शब्दोंको इतना अस्पष्ट कहा है कि उनका अर्थ लगाना भी मुश्किल है। तो भी उसने पुरुषके लिये प्राण, प्रकृतिके लिए रयी, व्यक्तके लिये मूर्त और अव्यक्तके लिए अमूर्त

१-प्री० बुद्धिस्टिक इन्डियन फिलासफी पृ० २३१-२३२। २-पूर्व० पृ० २३२। ३-पूर्व० पृ० २३३। ४-पूर्व० पृ० २३५।

आदि शब्द बिल्कुल नये नये ही व्यवहृत किये थे।[1] इस सबका कारण भगवान् पार्श्वनाथके धर्मोपदेशका दिगन्तव्यापी होना कहा जा सक्ता है क्योंकि भगवान् पार्श्वनाथने बतला दिया था कि निश्चयसे आत्माका निजस्वभाव–चेतना लक्षण ही प्राण है परन्तु व्यवहार अपेक्षा उनने इंद्रियादि दश प्राण बतला दिये थे, जिनका प्रादुर्भाव आत्मापर ही अवलंबित था और इसी भावको पिप्पलाद भी दर्शानेकी कोशिष करता है, परन्तु वह अपनी असमर्थता पहले ही स्वीकार करलेता है। आत्माको जीवनमें परछाईं रूप अर्थात् पूर्ण व्यक्त न मानना भी ठीक है, क्योंकि भगवान् पार्श्वनाथजीने लोगोंको बतला दिया था कि सांसारिक जीवनमे आत्मा अपने असली रूपमें पूर्ण व्यक्त नही रहता है। मृत्यु समय आत्माका शरीरको छोड़कर अपने सकल्पित-निदान किये हुये स्थानपर जन्म लेते बतलाना भी एक तरहसे ठीक है· परन्तु आत्माका शरीरके मध्य हृदयमें विराजमान रहते कहना आदि बातें उसकी निजी कल्पना है। हां, मरणोपरान्त मार्गमें आत्मा अपने ही बलसे जाता है यह ठीक है। उसके प्राणोंकी शक्ति पूर्वसचित कर्मवर्गणाओंकी सदृशता रखती है। वह प्राण, मूर्त, अमूर्त आदि नये शब्द व्यवहारमें लारहा है, वह भी हमारे कथनके समर्थक है; क्योंकि यह शब्द जैनधर्मके खास शब्द (Technical Terms) हैं। अतएव पिप्पलादके इस सैद्धांतिक विवेचनसे यह स्पष्ट है कि उसने पुरातन वैदिक मन्तव्योंको भगवान् पार्श्वनाथके धर्मके सादृश्य बनानेके लिये, उक्त प्रकार प्रयत्न किया था जिसको जैनाचार्य अज्ञानमिथ्यात्वमें

१–पूर्व० पृ० २२२।

परिगणित करते हैं। यह भगवान पार्श्वनाथके प्रभावको स्पष्ट करता है।'

पिप्पलादने स्वप्नकी परमोच्च ध्यानमग्न अवस्थामे पहुंचकर आत्माका 'पर अक्षर आतमा' अर्थात परमात्मा होजाना भी स्वीकार किया है। जिस समय स्वप्नमग्न दशामें सब संकल्प-विकल्प थम जाते हैं और आतमा परमात्म-दशा (Divine State)को प्राप्त होजाता है। इसलिये उसने सबका उद्देश्य एक परमात्मा माना था, जो उसके निकट अशरीरी, अवर्णी और प्रकाशमान् है। वह यह भी कहता है कि जो कोई उस परमात्माको जान लेता है वह सर्वज्ञ होजाता है[1]। यहां विल्कुल ही भगवान् पार्श्वनाथजीके सिद्धान्तकी नकल की गई है। सचमुच शुरूसे आखिर तक पिप्पलाद जीवात्माको अपने ही बलसे परमात्म पद प्राप्त करनेको स्पष्ट करनेके लिए प्रयत्न करता नजर आता है। उसने पुरातन वैदिक धर्मको भगवानके धर्मोपदेशसे सदृशता लानेके लिये जाहिरा प्रयत्न किया था और यह इसीलिये आवश्यक था कि भगवान् पार्श्वनाथजीका धर्मोपदेश उससमय बहु प्रचलित होरहा था!

पिप्पलादके साथ ही दूसरे प्रख्यात् ब्राह्मण ऋषि भारद्वाज हमें मिलते हैं, जिनका सिद्धान्त 'मुण्डकोपनिषद्'में गर्भित है। इनका अस्तित्व भी बौद्ध धर्मकी उत्पत्तिसे पहले[2] अर्थात् भगवान् पार्श्वनाथजीके तीर्थमें एक स्वतंत्र 'मुण्डक' संप्रदायके नेता रूपमें मिलता है। बौद्धोके 'अङ्गुत्तरनिकाय'में इनके मतकी गणना 'मुण्डक-सावक'के नामसे एक अलग संप्रदायमें की गई है[3]। जैन राजवा-

१-पूर्व० पृ० २३६। २-पूर्व० पृ० २३९-२४०। ३-डॉयलॉग्स ऑफ दी बुद्ध, भाग २ पृ० २२०।

र्तिकमें इन्हें क्रियावादी बतलाया गया है[1]। मुण्डकोंने अपनेको ब्राह्मण ऋषियोंसे, जो वनमें रहते, तप तपते और पशु यज्ञ करते थे, एवं गृहस्थाश्रमी विप्रोंसे पृथक् व्यक्त करनेके लिये अपना वह संप्रदाय अलग स्थापित किया था। वे शिर मुड़ाकर भिक्षावृत्तिसे उदरपोषण करते थे।[2] वह जाहिरा जटाधारी ब्राह्मण ऋषियोंसे अलग थे, परन्तु मूलमें वह पूर्णतः वेदविरोधी नहीं थे। उनने इनमेंसे मध्यपुरुषका स्थान ग्रहण किया था। भारद्वाज मुंडे सिर रहनेसे 'मुण्ड' नामसे प्रख्यात हुआ अनुमान किया जाता है और उसके शिष्य 'मुण्ड श्रावक' कहलाते थे।[3] यहांपर इसतरह एक अलग संप्रदाय स्थापित करनेका कोई कारण भी अवश्य होना चाहिये। साधारण कोई कारण दिखाई नहीं पड़ता, सिवाय इसके कि भगवान् पार्श्वनाथजीके धर्मोपदेशका प्रभाव यहां भी कार्यकारी हुआ हो। भगवानके बताये हुये श्रावक मार्गमें सातवीं ब्रह्मचर्य प्रतिमाके धारी श्रावक सिर भी मुंडाते हैं और भिक्षावृत्तिसे ब्रह्मचर्य पूर्वक रहकर जीवन बिताते हैं और आठवीं प्रतिमामें पूर्णतः आरम्भ त्यागी होजाते हैं। उपरोक्त मुण्डक संप्रदायके भिक्षुओंका जीवन भी इसी तरहका था और उनका निकास ब्रह्मचारियोंमेंसे हुआ कहा भी जाता है तथापि जो उनके साथ 'श्रावक' शब्द लगा हुआ है, वह स्पष्ट प्रकट कर देता है कि इस सम्प्रदायकी उत्पत्ति भगवान् पार्श्वनाथके बताये हुये गृहत्यागी श्रावकोंके अनुरूपमें हुई थी। यही कारण है कि एक विद्वानने इसकी

१-राजवार्तिक (८।१) पृ० २९८। २-श्री-बुद्धि० इन्डि० फिला० पृ० २९८। ३-पूर्व० पृ० २९२-२९३।

गणना जैन संप्रदायके अन्तर्गत ही अनुमान की है।[1] साथ ही जब हम इनके सिद्धान्तों र दृष्टि डालते हैं तो वहां भगवान् पार्श्वनाथके धर्मोपदेशका प्रभाव पडा हुआ पाते हैं।

भारद्वाजने पहले ही परमात्मा अर्थात् ब्रह्मको गोत्ररहित और वर्णहीन (अगोत्रः अवर्णः) माना था[2] और इसतरह पर उसने भगवान् पार्श्वनाथजीके अनुसार ही धर्ममें जाति और कुलमदका खुला प्रतिकार किया था। यद्यपि अधिकांश बातोंमें उसका मत याज्ञवल्क्यके समान था, पर उसने बहुतसी ब्राह्मण क्रियायोंका विरोध किया था। उसने कहा था कि "आत्माकी प्राप्ति न केवल वेदोंसे, न केवल बुद्धिसे और न अधिक अध्ययन करनेसे हो सक्ती है, जिसको अपना आपा (Self) चाहता है उसीसे उसकी प्राप्ति हो सक्ती है। और न इसकी प्राप्ति उसको हो सक्ती है जो बलहीन, अविचारी और उचित ध्यानको नही करनेवाला है। यह तब ही सभव है जब एक बुद्धिमान पुरुष बलवान्, विचारवान् और ध्यानमग्न होकर इसके पानेका प्रयास करता है कि वह अपनेको ब्राह्मणकी संगतिमें पाता है।" (मुण्डकोपनिषद् ३।२।३-४ "नायम् आत्मा प्रवचनेन लभ्यो, न मेधया ...नायम् आत्मा बलहीनेन लभ्यो, न च परमादात् तपसो वाप्यलिविगात् एष आत्मा विशाते ब्रह्मधामा") भारद्वाजने विद्या दो तरहकी मानी थी (१) परा और (२) अपरा। दूसरी अपराविद्यामें उसने चार वेदो और छह वैदिक ज्ञानोको गृहण किया था और परा (Higher or Trauscende-

१-डायोलॉग्स ऑफ दी बुद्ध, भाग २ पृ० २२१। २-प्री-बुद्धिस्टिक इन्डि० फिलासफी पृ० २५३।

ntal) विद्यामें केवल उसको माना था जिसमे 'अक्षर' (Undecaying) की प्राप्ति होती है।[1] इसतरह उसने यद्यपि वेदोंको स्वीकार किया था, परन्तु ब्रह्म-धाम–परमात्मपदको पानेके लिये उनको आवश्यक नहीं समझा था और अठारह प्रकारके यज्ञोंको भी सारहीन माना था। ठीक इसी तरहका विरोध भगवान् पार्श्वनाथके प्राकृत धर्मोपदेशसे स्वयं होचुका था। तिसपर भारद्वाज जो यह कहता है कि "जो अपने मनमें इच्छाओंको रखता है वह अपनी इच्छाओंके अनुसार यहा–वहा जन्म धारण करता है, परन्तु जिसकी इच्छायें पूर्ण होचुकी हैं उसे अपने सच्चे 'आपा'की प्राप्ति होचुकी है। इसी जन्ममें इच्छाओंका नाश हो सक्ता है।"[2] इसमें जाहिरा तौरपर वह भगवान् पार्श्वनाथजीके उपदेशको ही दुहरा रहा है और यह भगवान्के दिव्य उपदेशके प्रभावशाली होनेमे प्रकट साक्षी है! जहा पहलेके वैदिक ऋषियोने विवाह कार्य मुख्य माना था, वहां भारद्वाज ब्रह्मचर्यपर जोर देता है। यह इसी कारण कहा जाता है कि भगवान् पार्श्वनाथने केवल अपने धर्मोपदेशसे ही नहीं वल्कि अमली जीवनसे ब्रह्मचर्यका महत्व दिगन्तव्यापी बना दिया था। भारद्वाज एकान्तदृष्टिसे प्रतिवोध द्वारा (प्रतिवोध-विदितं) ही ब्रह्म (परमात्मा) को जान लेना मानता था। योगको ही वह ब्रह्मको पानेके लिये आवश्यक समझता था। इस तरहपर मुण्ड श्रावक संप्रदायका निकास भगवान् पार्श्वनाथके धर्मोपदेशके प्रभाव अनुरूप हुआ प्रकट होता है।

डॉ० हर्टलभी स्वतंत्ररूपसे इसी निष्कर्षपर पहुचे हैं कि

१–पूर्व० पृ० २५४ २–पूर्व० पृ० २५५।

मुण्डकोपनिषद्के ऋषियोंने अपने विचार जैनसिद्धान्तसे लिये थे। वह 'मुण्डकोपनिषद्'के कर्ताका नाम भारद्वाजके स्थानपर अंगरिस बतलाते हैं। संभव है कि अंगरिसका गोत्र भारद्वाज हो और उसी अपेक्षा डॉ० बारुआने उनका उल्लेख उक्तप्रकार किया हो। डॉ० सा० अंगरिसकी मान्यताको जैनधर्मानुसार बताते हैं; जैसे वह लोककी आकृतिको पुरुषाकार मानता था और इस पुरुषरूपी लोकके मध्य भागमें मनुष्यलोक; इसके ऊपरवाले हिस्सेमें ब्रह्म स्वर्गलोक और ब्रह्म स्वर्गलोकसे ऊपर 'परमं साम्यम्' अर्थात् मुक्तिस्थान मानता था। वह कहता था कि जो मनुष्य यहां बहुत अच्छे २ काम करके विशेष पुण्य संचय करता है, वह मनुष्य सूर्य्य होकर ब्रह्मलोकमें जन्म लेता है और वहां उत्तम भोगोपभोग भोगता हुआ शुद्ध आनन्दमें जीवन व्यतीत करता है। किन्तु ब्रह्मलोकको प्राप्त हुआ आत्मा जबतक इच्छा रहित नहीं होता है और पूर्व संचित कर्म अवशेष रहता है, तबतक उसकी मुक्ति नही होती, उसे संसारमें फिर आना पड़ता है। अंगारिसको दृढ़ विश्वास था कि जबतक आत्मा रागद्वेष रहित नहीं होत, तबतक उसे अवश्य संसारमें रहना पडेगा; फिर वह वेदोंमें बताई हुई सारी क्रियायोंको भले ही करे। किन्तु इसके साथ ही वह कहता था कि जिस व्यक्तिका आत्मा कर्मोंकी निर्जरा कर डालता है और रागद्वेष रहित व पवित्र होता है; तथा जो सदा तपस्या करता हुआ एकान्तमें रहता है व जीवनयापन भिक्षासे करता है और जिसके पास सम्यक्ज्ञान है, वह आत्मा मुक्तिलाभ करता है। वहांसे वह कभी लौटकर नहीं आता।

अंगारिसकी इन मान्यताओंका सादृश्य जैनधर्ममें निर्णित

मोक्षमार्गसे विल्कुल स्पष्ट नजर पड़ता है। दोनो ही सिद्धांतोंके अनुसार यह लोक पुरुषरूप है और सनातन है। (मुण्डक उपनिषद् "अजः" यह विशेषण प्रयुक्त करता है) अंगरिस उस लोकमें ब्रह्मलोकको आनन्दकी एक जगह मानता है किन्तु सर्वोत्तम स्थान मोक्ष ही स्वीकार करता है। जैनधर्ममें भी ब्रह्म एवं अन्य स्वर्ग ऐसे ही आनन्दमई स्थान माने गये हैं और उसमें भी मोक्ष ही सर्वोत्तम स्थान माना गया है। किन्तु जैनधर्ममें स्वर्गसे मुक्ति होना स्वीकृत नहीं है। यह दोनो मतोंके अनुसार ठीक है कि रागद्वेष और कर्म रहित आत्मा मुक्ति लाभ करता है तथा मोक्ष-मार्गमें तपस्या एक वास्तविक उपाय है। साथ ही 'मुण्डकोपनिषद्' में बहुतसे ऐसे शब्द प्रयुक्त हुये हैं जो जैनसिद्धान्तमे पारिभाषिक शब्दोंके समान व्यवहृत हैं; यथाकर्म, निर्वेद, वीतराग, सम्यग्ज्ञान, निर्ग्रंथ, इत्यादि। निर्गंथ शब्द जैन साधुका द्योतक है। जैन साधु-ओंकी तरह मुण्डकोपनिषद्मे भी केशलोंच करने जैसा विधान है:—'शिरोव्रत विधिवद्यैस्तु चीर्णं।' इन सादृश्योंको देखने एवं जैनग्रथ 'पउमचरिय' में अगरिसको भ्रष्ट जैनमुनि बतानेसे, यह स्पष्ट है कि 'मुण्डकोपनिषद्' में जिस शिक्षाका समावेश है, वह अवश्य ही जैन धर्मसे लीगई है। (देखो 'धर्मध्वज'—विशेषांक वर्ष ९ अक १ पृ० ९–१०)

उपरान्त मिनचिकेतम् द्वारा 'गोतमक सिद्धान्तोकी उत्पत्ति हुई थी। यह भी भारद्वाजके समसामयिक व्यक्ति थे। नचिके-तसूने विवाद, तप और यज्ञवादको स्वीकार किया था; परन्तु

१–जैं० पृ० २६५।

उनका भाव प्राचीन ऋषियोंसे विलक्षण माना था।[1] वह प्राचीन यज्ञवादसे स्वर्गकी प्राप्ति होना मानता था, परन्तु उनसे अमर जीवनको पाना अस्वीकार करता था। उसके निकट यज्ञका भाव ज्ञानयज्ञ था; जिसमें इन्द्रियनिग्रह करना और ध्यानको बढ़ाना मुख्य था। वह व्यक्ति (Being) को अजन्मा और अमर बतलाता था। वह कहता था कि न उसकी शून्यसे उत्पत्ति हुई है और न कुछ उससे उत्पन्न हुआ है। व्यक्ति अजन्मा, अनादिनिधन और प्राचीन है। शरीरके साथ उसका नाश नहीं होता। यदि हिंसक यह समझता है कि मैं मारता हूं और मारनेवाला समझता है कि मैं मारा जाता हूं, तो दोनों मूढ़ हैं; न एक मारता है और न दूसरा मरता है।....जिसने पापकर्मसे अपनेको दूर करके शांत नहीं बनाया है और जिसने इन्द्रियनिग्रह नहीं किया है अथवा जिसका मन स्थिर नहीं है वह व्यक्ति (Being) को ज्ञानसे भी नहीं पासक्ता है। (कठोपनिषद् १।२।१८) योग ही उसको पानेका द्वार है, जिसका मुख्य भाव इन्द्रियनिग्रहसे था। (स्थिरं इन्द्रिय-धारणं) इसतरह नचिकेतस्‌ने भगवान् पार्श्वनाथजीके बताये हुए निश्चय-नयसे किंचित् आत्म-लाभ प्राप्त करनेका उपाय बतलाया था और वह एकांत पक्षसे पूर्णतः सैद्धान्तिक विवेचन करनेको असमर्थ प्रतीत होता है! परन्तु उसकी इस शिक्षासे लोगोंने उल्टा ही मतलब निकाला था और उपरांत हिंसाकांड वृद्धिपर होगया था; क्योंकि लोगोंको यह धारणा हो गई कि हिंसा करनेसे जीवका कुछ नहीं बिगड़ता है। अस्तु; यहां भी साधारणत. भगवान् पार्श्वनाथ-

१-पूर्व० पृ० २६९। २-पूर्व० पृ० २७३। ३-पूर्व० पृ० २७५।

जीके धर्मोपदेशका प्रभाव पड़ा नजर पड़ता है। भगवान्के धर्मोपदेशको उपरांत उनकी शिष्यपरंपरा सर्वत्र प्रचलित करती रही थी, यह हम अगाडी देखेंगे।

नचिकेतस्के इस सिद्धान्तको ही उपरान्त पूर्णकाश्यपने भी स्वीकार किया था।[1] उसका कहना था कि जब हम स्वय कोई कार्य करते हैं अथवा दूसरोंसे कराते हैं तो उसमें आत्मा न कुछ करता है और न दूसरेसे कराता है। आत्मा तो निष्क्रिय है। इस दशामें जो कुछ हम पाप पुण्य करते है, उसका संसर्ग आत्मासे कुछ भी नहीं है।[2] इसीलिये सूत्रकृताङ्ग[3] और सामन्नफलसुत्तमें उसके मतकी गणना 'अक्रियावाद' में की गई है। इस सिद्धान्तमें भी भगवान् पार्श्वनाथके धर्मोपदेशकी ही झलक दृष्टि पड़ रही है; जैसे कि नचिकेतस्के सिद्धान्तसे भी व्यक्त होता हम देख चुके हैं। निश्चयमें भगवान् पार्श्वनाथने आत्माको सांसारिक क्रियाओंसे विलग एक विशुद्ध द्रव्य माना था। जिससे पाप पुण्यका कोई संबंध नहीं था। यही भाव एकान्तसे पूर्णकाश्यपने दर्शाया है। वह स्वय एक जैन मुनि था। श्रीदेवसेनाचार्यने (ई० ९ वी शताब्दि) अपने "दर्शनसार" ग्रन्थमें इनको मक्खाली गोशालके साथ भगवान् पार्श्वनाथजीकी शिष्यपरम्पराका एक मुनि लिखा है जो उपरान्त भ्रष्ट होगये थे।[4] इनका साधु भेष भी इस बातका समर्थक है। वह भगवान पार्श्वनाथके तीर्थके जैन मुनियोंकी तरह 'अचेलक' (नग्न) रहते थे।[5] इसी कारण उनकी प्रख्याति अचेलक रूपमें

१–पूर्व० पृ० २७९। २–पूर्वप्रमाण। ३–सू० कृ०–१।१।१।१३। ४–दर्शनसार गाथा १७६। ५–ब्री० बुद्धि० इन्डि० फिला० पृ० २७७।

थी और बहुतसे लोग उनके संप्रदायको अचेलक समझते हैं; परन्तु यह भ्रम है। अचेलक नामका कोई सम्प्रदाय-विशेष प्राचीन भारतमें नहीं था। 'अचेलक' शब्दका व्यवहार उस कालमें सब ही संप्रदायके नग्न साधुओंके लिये होता था; तिसपर जैन साधुओंके लिये वह विशेषतः प्रयोजित किया जाता था। अस्तु; जैन मुनिदशासे भ्रष्ट होकर पूर्णकाश्यपका अपने मूल विश्वासको विकृतरूप देना स्वाभाविक ही था; क्योंकि उसपर भगवान् पार्श्व-नाथके धर्मोपदेशका खासा प्रभाव पड़ चुका था। पूर्ण काश्यपका सम्बन्ध आजीविक संप्रदायसे रहा था, ऐसा प्रतीत होता है। उसकी मृत्यु ईसासे पूर्व ५७२वें वर्षमें हुई अनुमान की जाती है।[२]

इनके बाद ककुद कात्यायन (पकुढ कात्त्चायन)को ले लीजिए। यह म० बुद्धके पहले होचुके थे, और ब्राह्मण थे, यह प्रकट है।[३] बुद्धघोषने लिखा है कि कात्यायन शीतजलको व्यवहारमें नहीं लाता था और आवश्यक्तानुसार उष्णजलको काममें लेता था। वह शीत जलमें जीव मानता था। यहां भी भगवान् पार्श्वनाथजीके मन्तव्यके स्पष्ट दर्शन होते हैं। उन्होंने शीतजलमें जीव बतलाया था और जैन मुनियोंको उसका व्यवहारमें लेना मना था, यह बौद्ध ग्रंथोंसे भी प्रकट हैं,[५] तथापि उसने काय, सुख, दुःख, जीव आदि शब्द व्यवहारमें लिए थे[६] और ये मूलमें जैन शब्द ही हैं। साथ ही जो

१-वीर वर्ष ३ अंक ११-१२। २-प्री० बुद्धि० इन्डि० फिला० पृ० २७७। ३-पूर्व० पृ० २८१-२८२। ४-सुमगलविलासिनी भाग १ पृ० १४४। ५-पूर्व० पृ० १६८। ६-प्री० बुद्धि० इन्डि० फिला० पृ० २८५।

उसकी मानता थी, वह भी भगवान् पार्श्वनाथके उपदेशसे सदृशता रखती है। उसका मत था कि 'असत्तामेंसे कुछ भी उत्पन्न नहीं होता और जो है उसका नाश नहीं होता।' भगवान पार्श्वनाथने भी लोकके पदार्थोंका ऐसा ही स्वरूप बतलाया था; जिसको उनके उपरान्त कात्यायन विकृतरूप देता प्रतीत होता है। इन्हीं तत्वोंके अनुरूप उसने पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, सुख, दुख और जीव यह सात तत्व स्वीकार किये थे।[१] वह इन्हीं सातके मिलने और विछुडनेसे जीवन व्यवहार मानता था। तत्वोंकी संख्या ठीक सात मानना भी उस समय भगवान् पार्श्वनाथके बताए हुये सात तत्वोंकी प्रधानताका ही द्योतक है, वरन् उनकी ठीक सात संख्या मानना आवश्यक न थी। इन तत्वोंका मिलन वह सुखतत्वके कारण और विच्छेद दुखतत्वके हेतुसे बतलाता था। इस अवस्थामें वह इनका पारस्परिक प्रभाव एक दूसरेपर पड़ता स्वीकार नहीं करता था, जिससे किसी व्यक्तिको खास नुकसान पहुचाना भी मुश्किल था। इसलिये उसके निकट किसी जीवको मारना कुछ विशेष महत्व न रखकर केवल व्यवस्थित तत्वोंको अलग कर देना था;[३] जिसमें पाप-पुण्यका भय ही नहीं था। सचमुच प्रतरदन, नचिकेतसद् और पूर्णकाश्यपका भी ऐसा ही विश्वास था। भगवद्गीतामें भी यह भाव प्रगट किया गया है।[४] आत्माको अमर मानते हुये उसके मूल भावमें यह उद्गार कहे प्रतीत होते है, पर-

---

१–सूत्रकृताङ्ग २।१।२२। २–जैनसूत्र (S. B. E) भाग २ भूमिका XXIV. ३–प्री० बुद्धि० इन्डि० फिला० पृ० २८६। ४–गीता २।१६–२४।

न्तु इनके चल हिंसावादकी पुष्टि करना अनुचित क्रिया है।। इसी कारण इन विधर्मियोंको 'तत्वार्थराजवार्तिक'में प्राणिवधमें पापबंधका कारण नहीं है', इस मान्यतावाला बतलाया है।[1] (न हि प्राणिवधः पापहेतुर्धर्मसाधनत्वमापत्तुमर्हति ॥ १२ ॥ १।८।) इस प्रकार कात्यायनके समयमें भी भगवान पार्श्वनाथके धर्मका प्रभाव कार्यकारी था, यह स्पष्ट है। उनके उपदेशसे वातावरण क्षुभित होगया था इसमें संशय नही और यह विदित ही है कि उनकी शिष्यपरम्परा म० बुद्धके समान विद्यमान थी, जैसे कि हम देखेंगे।

उसी समयके एक अन्य मतप्रवर्तक अजित केशकम्बलि भी भगवान् पार्श्वनाथके धर्मोपदेशके प्रभावसे अछूते नहीं बचे थे; यह उनके सिद्धान्तोसे स्पष्ट है। वह वैदिक क्रियाकाण्डके कट्टर विरोधी थे और पुनर्जन्म सिद्धान्तको अस्वीकार करते थे। यज्ञ, बलिदान, श्राद्ध आदिको वह अनावश्यक बतलाते थे। कहते थे कि यदि मृतक पुरुषोंको भोजन पहुंचाना संभव है तो फिर परदेश गये हुये व्यक्तिको भी उसी तरह भोजन पहुंच जाना चाहिए, परन्तु यह होता नहीं, इसलिए श्राद्ध आदि क्रियाकाण्ड वृथा हैं। साथ ही वह इंद्रियनिग्रह और ध्यानको भी आवश्यक नहीं मानता था। वर्तमानको छोड़कर भविष्यसुखकी आशा करनेपर वह विश्वास नहीं करता था।[2] लोकको वह पृथ्वी, जल, अग्नि और वायुका समुदाय मानता था और आत्माको पुद्गलका कीमियाई ढंगका परिणाम बतलाता था। इन चारों वस्तुओंके विघटते ही आत्मा भी विघट जाता है, यह वह कहता था। इसीलिये वह जीवात्मा और शरीरको एक

१–राजवार्तिक पृ० २९४। २–प्री० बुद्धि० इन्डि० फिला० पृ० २८९।

ही मानता था और प्राणियोंकी हिंसा करना बुरा नहीं समझता था।[1] इसकी इस शिक्षामें भी जैन सिद्धांतके व्यवहारनय अपेक्षा आत्मा और पुद्गलके संमिश्रणका विकृतरूप नजर आता है। भगवान् पार्श्वनाथने इस सिद्धांतका प्रतिपादन किया था, उसीको विकृत रीतिसे प्रगट करनेका प्रयास अजितने अपने उक्त सिद्धांतमें किया है। इस तरह यहां भी पार्श्वनाथजीके धर्मोपदेशका प्रभाव दृष्टि पड़ रहा है। सारांशतः हम उस समयके सैद्धांतिक अथवा धार्मिक वातावरणमें जैनधर्मका खासा प्रभाव पड़ा स्पष्ट देखते हैं। विद्वानोंका भी यह मत है कि उपरोक्त मतप्रवर्तकोंपर अवश्य जैनधर्मका प्रभाव पड़ा था, स्व० मि० जेम्सडेऽलिवस महोदयका वक्तव्य है कि म० बुद्धके समयमें भी ' दिगंबर ' एक प्राचीन संप्रदाय समझा जाता था और उपरोल्लिखित मत-प्रवर्तकोंके सिद्धांतोपर जैनधर्मका प्रभाव पड़ा नजर पड़ता है।[2] प्रो० डॉ० हर्मनजैकोवी भी यही कहते है कि तीर्थंकों (पूर्णकाश्यप, कात्यायन आदि)ने उन सिद्धांतो और क्रियायोंको अपना लिया था जो जैनमतमें मिलतीं हैं और संभवत यह उन्होंने स्वयं जैनों हीसे ले लीं थी। यह भी प्रगट है कि महावीरके समयमे भी जैनधर्म विद्यमान था और सो भी उनसे स्वाधीन रूपमें। इससे एवं अन्य कारणोंसे यह प्रगट है कि निर्ग्रंथ अर्थात् जैनधर्म भगवान् महावीरसे वहुत पहलेसे प्रचलित था।[3] अस्तु, इस दशामें हम जैन ग्रन्थोंके उल्लेखोंको सार्थक पाते हैं और भगवान् पार्श्वनाथजीके

---

१ भगवान महावीर और म० बुद्ध पृ० २५। २-इन्डियन एण्टीक्वेरी भाग ९ पृ० १६१। ३ पूर्व० पृ० १६२।

उपदेशका महत्व और प्रभाव सुगमतः हृदयंगम कर लेते हैं। सच-मुच भगवान्‌के धर्मोपदेशका प्रभाव देखकर कविका निम्न पद्य सोलह-ही आने चरितार्थ होजाता है—

"आतम रसीको है सुधारसको कुण्ड 'वृन्द',
सम्यक् महीरुहको मूल छहरात है।
सकल समाज शिवराजको अजज्ज जामें,
ऐसो जैन वैनको पताका फहरात है॥"

(१७)

भगवान्‌के प्रमुख शिष्य !

'गणीशा दश तस्यासन् त्रिधायादिं स्वयंभुवं।
सार्द्धानि त्रिशतान्युक्ता मुनीन्द्राः पूर्वधारिणः॥
यतयो युतपूर्वाणि शतानि नव शिक्षकाः।
चतुः शतोत्तरं प्रोक्ताः सहस्रमवधित्विषः॥
सहस्रंमतिमज्ञानास्तांवनो विक्रियर्द्धिकाः।
शतानि सप्त पंचाशच्चतुर्थावगमाः स्मृताः॥
वादिनः षट्शतान्येव ते सर्वेपि समुच्चिताः।
अभ्यर्णीकृतनिर्वाणाः स्युः सहस्राणि षोडश॥'

—उत्तरपुराण।

भगवान् पार्श्वनाथजीका तीर्थ सर्वमान्य होगया! ग्राम २ और नगर पत्तनोमें उन भगवान्‌का अहिंसामई और अव्याबाध सुखका संदेश व्याप्त होगया! हर दशा और हर परिस्थितिके लोगोंको अपने २ मन्तव्योंका प्रगट वोध होगया! कोई स्थान और कोई

देश ऐसा बाकी न बचा जिसमें भगवान्के दिव्य संदेशने अपना प्रभाव दिगन्तव्यापी न बना लिया हो ! इसी अनुरूप उन भगवान्के प्रभावशाली प्रमुख शिष्य हजारोंकी संख्यामें थे। यह सर्व ही शिष्य गृहत्यागी और परोपकारी महापुरुष ही थे। इनसे वेष्टित होकर भगवान् पार्श्वनाथ ऐसे ही शोभित होरहे थे जैसे तारिकामण्डलमें चन्द्र मनको हरनेवाला होता है। यही नहीं कि इन शिष्यों द्वारा भगवान्की ही शोभा और गौरव बढ़ रहा हो— उनके तो गुण स्वभावतः निर्मल और प्रकर्षरूप थे। किन्तु अनेकों भव्य पुरुषोंका कल्याण इनके द्वारा हुआ था। इनसे भारतका गौरव बढ़ा था। अहिंसामई सार्व प्रेम और आत्मीक भाव इन्हींके सत्प्रयत्नोंसे अपना अपना प्रखर प्रकाश यहां फैला रहे थे। विश्वप्रेमकी उमंग हर हृदयमें लहर मारने लगी थी। इसमें मुख्य कारण भगवान् पार्श्वनाथजीका धर्मोपदेश ही था किन्तु उनके प्रमुख शिष्य भी उसमें प्रधान कारण थे। श्री गुणभद्राचार्यजी कहते हैं कि "भगवान् पार्श्वनाथके समवशरणमें स्वयंभुवको आदि लेकर दश गणधर थे, ग्यारह अंग और चौदह पूर्वको धारण करनेवालोंकी संख्या तीनसौ पचास थी। दशहजार नौसो शिक्षक मुनि थे और एकहजार चारसौ अवधिज्ञानी थे। इसीप्रकार एकहजार केवलज्ञानी थे, एक ही हजार विक्रिया ऋद्धिको धारण करनेवाले थे। सातसौ पचास मन:पर्ययज्ञानी थे और छहसौ वादी थे। इसप्रकार शीघ्र ही मुक्त होनेवाले सब मुनियोंकी संख्या सोलहहजार थी!"[1] यह सब ही महान ऋषिगण सर्वत्र विचरकर प्राणियोंको अभयदान देते हुये

[1]—उत्तरपुराण पृ० ५८० ।

उनको आतमपंथका मार्ग दर्शाते थे। उस समयके भव्य जीवोंको इनके सन्तसमागममें विशेष पुण्यसंचय करनेका अवसर प्राप्त था। बौद्ध शास्त्रोंमें हमें इन्ही जैन ऋषियोका उल्लेख परोक्षरूपमें हुआ मिलता है। उनके 'ब्रह्मजालसुत्त'में पहलीसे चौथी आलोचनातक जिन प्राचीन ऋषियोके मन्तव्योंका जिकर है वह जैन दृष्टिसे जैन मुनियोंकी मान्यताके अनुसार आत्माके निश्चय और व्यवहाररूपको लक्ष्य करके लिखा गया है। किन्हीं ऋषियोंको वहाँ संख्यात पूर्व-भव बतलाकर आत्मा और लोकका कथंचित् नित्यत्व और अनित्यत्व स्वरूप सिद्ध करते प्रगट किया गया है। यह कथन केवलज्ञानी और अवधिज्ञानी मुनियोंसे लागू है जो श्री पार्श्वनाथजीकी शिष्य-परम्परामें म० बुद्धसे पहले इसी प्रकार आत्मा और लोककी सिद्धि करते थे। तथापि जो इन्हीं बातोंको तर्कवादसे सिद्ध करते हुये बताये गये हैं, वह भगवान् पार्श्वनाथके वादी मुनियोंको लक्ष्य करके कहा गया प्रतीत होता है।[1] इसतरह यह ऋषिगण केवल वर्षा-ऋतुके चार महीनोंमें एक स्थानपर ठहरते थे, वरन् ग्राम-ग्राम और नगर-नगरमें विचरते हुये धर्मोपदेशका अमृत तृषित जनताको पिलाते थे। इन्हींके सदकृत्योंका यह परिणाम निकला था कि जनता धर्मके नामपर होनेवाली हिंसाके विरुद्ध आवाज कसने लगी थी और पुरोहितोंकी 'पोपडम'का अन्त करनेको उतारू होगई थी। यह महापुरुष स्वयं अपना कल्याण करते थे और प्राणीमात्रके उप-कारमें दत्तचित्त रहते थे। यही नहीं कि केवल पुरुषवर्ग ही अपने आत्मकल्याण और धर्मप्रचारमें संलग्न था; बल्कि आर्य—ललनायें भी

१—भगवान महावीर और म० बुद्ध० परिशिष्ट पृ० २२२ ।

इस सेवा-मार्गसे विमुख नही थीं। कोमलांगी रमणीरत्नोंने अपने वासना विलासको उठाकर एक तरफ रख दिया था। ज्ञान अंजनसे उन्होंने अपने दिव्यचक्षुओंको प्रभामई बना लिया था। गृहकुटुम्बका ममत्व उनकी 'वसुधैव कुटुम्बकम्'की नीतिमें बाधक नहीं था। वह स्वयं संयमी जीवन व्यतीत करतीं हुई अपना आत्मकल्याण करतीं थीं और देशमें सर्वत्र विहार करतीं हुई विद्वानोसे शास्त्रार्थ करतीं और जनताको धर्मामृतका पान करातीं थीं। वह रमणीरत्न थीं सारे संसारके लिये आदर्शरूप थी। इन्हींके साथ श्वेत वस्त्रोंको धारण करनेवाले उदासीन गृहत्यागी श्रावक और श्राविकायें भी अपनी शक्तिके अनुसार धर्मप्रभावनाके कार्यमें संलग्न थे। इन सबके विषयमें श्री गुणभद्राचार्यजी कहते हैं कि.—

"सुलोचनाद्याः षट्त्रिंशत्सहस्राण्यार्यिका विभोः।
श्रावका लक्षमेकंतु त्रिगुणाः श्राविकास्ततः ॥१९३॥"

अर्थात्—'उन भगवान्के समवशरणमें सुलोचनाको आदि लेकर छत्तीसहजार अर्जिकाएं थीं, एकलाख श्रावक थे और तीनलाख श्राविकायें थीं।" यह सब ही अपना आत्मकल्याण करते सर्वत्र भगवानके साथ रहकर धर्मका उद्योत करते थे। इनके अतिरिक्त अनेकों राजा, सेठ और देव-देवियां भगवान्के साधारण भक्त थे। इनमें मुख्य भगवान्के माता-पिता थे, वे इन तीर्थंकर भगवानके दृढ़ श्रद्धानी होकर उनके शासनका यश फैलानेमें दत्तचित्त थे। यही बात श्री वादिराजसूरिजी इन शब्दोंमें प्रकट करते हैं—

'राजा पुनः स जिनभक्तिभरावनम्रः,
मोच्चैस्तराज्यपदमंडिनमण्डलश्रीः।

देवस्य तीर्थमघसार्थहरं नरेषु,
प्राभावयत् त्र्यविधिर्ननु विश्वसेनः ॥४३॥'

अर्थात्—'भगवान् जिनेन्द्रकी भक्तिसे नम्रीभूत, उत्तम राज्यसे शोभित तीन ज्ञानके धारक राजा विश्वसेन पापोंके नाशक भगवान् जिनेन्द्रके तीर्थकी मनुष्योंमें प्रभावना करने लगे थे। ऐसे ही धर्म-वत्सल भक्तोंके द्वारा शीघ्र ही भगवान्‌के शासनकी विजय वैजयंती सर्वत्र फहराने लगी थी। भगवान् पार्श्वनाथजीकी पवित्र स्मृतिमें अनेक स्थानोंपर दिव्य मंदिर और चैत्यागार निर्मित हो गये थे; जिनमें सदा ही भगवान्‌का यशगान हुआ करता था! यही नहीं कि भगवान्‌के शिष्य भारतवासी ही रहे हों, बल्कि विदेशोंके भी बहुजन आपके परम भक्त थे। नील—महानील और अमितवेग आदि विद्याधर लोग भारत बाह्य प्रदेशके राज्याधिकारी थे। उन्होंने भारतमें तीर्थ वन्दना करते हुये तेरपुर (उस्मानाबाद)के निकट अनेक जैन मंदिरोंको निर्मापित कराया था और उनमें मणिमई श्री पार्श्वनाथजीकी प्रतिविम्ब विराजमान की थी।[1] सारांशतः भगवानकी भक्ति—सौरभका मधुर गुंजार दिग् दिगान्तरोंमें फैल गया था!

भगवान् पार्श्वनाथजीके प्रमुख गणधर स्वयंभू नामके थे। यही सर्व प्रथम भगवान्‌की अमृतवाणीको ग्रहण करनेवाले नर-रत्न थे। इन्होंने ही भगवानकी दिव्यध्वनिको अवधारण करके द्वादशाङ्गरूप, पूर्वोकर सयुक्त जैन आगमकी रचना की थी। वही आगम भगवान् महावीरके सर्वज्ञ होने तक सर्वत्र प्रचलित रहे थे। हत्‌भाग्यसे इन प्रमुख गणधर महाराजके विषयमें कुछ भी विशेष परिचय नहीं

१ मुनि कणयामर विरचित 'करकंडुचरित्र' संधि ५।

मिलता है। केवल इन्हींके संबंधमें यह बात नहीं है, बल्कि उस समयके किसी भी अन्य गणधर अथवा मुनिका पूर्ण परिचय अभाव्यवश प्राप्त नहीं है। सब ही दिगंबर जैन शास्त्रोंमें केवल यही उल्लेख मिलता है कि भगवान् पार्श्वनाथजीके दश गणधर थे, जिनमें प्रमुख स्वयंभू थे। 'गणधरादि महर्षिस्तोत्र'में भी इनका कुछ विशेष परिचय नहीं मिलता है। वहां भी केवल नामोल्लेख है, यथाः—

'नेमि पार्श्व स्वम्भ्वाद्या गौतमाद्याश्च सन्मतिं ।
नेम्यो गणधरेशेभ्यो दत्तोऽर्घ्योदयं पुनातु वः ॥'

स्वयंभू महाराजके अतिरिक्त अवशेष नौ गणधरोंका उनमें नाम भी नहीं मिलता है। सचमुच इतने प्राचीनकालके महत पुरुषोंका विशेष परिचय पाना कठिन है। हां, श्वेताम्बर संप्रदायके अर्वाचीन साहित्यमें अवश्य ही इन सबके नाम दिये हुये मिलते हैं; किन्तु वे आपसमें ही एक दुसरेके खिलाफ हैं। इतना अवश्य है कि प्रायः वे सब ही भगवान्के प्रमुख गणधरका नाम "आर्यदत्त" बतलानेमें एकमत हैं। दिगम्बर और श्वेताम्बरोंके इस मतभेदका कोई विशेष कारण तो दृष्टि नहीं पड़ता है। होसक्ता है कि दोनो संप्रदायोंने अपने आपसी मतभेदके कारण पूर्व पट्टावलियोंमें भी अन्तर रक्खा हो। श्वेताम्बरोंके 'पार्श्वचरित'में भगवानके दश गणधरोंके नाम यूं बतलाये हैंः—आर्यदत्त, आर्यघोष, वशिष्ठ, ब्रह्मनामक, सोम, श्रीधर, वारिषेण, भद्रयशस, जय और विजय[1], किन्तु उनके 'शत्रुञ्जयमहात्म्य'में केवल 'आर्यदत्तकी अध्यक्षतामे नौ सूरियोंका होना' लिखा है[2] और 'कल्पसूत्र'में केवल गणधर आर्यदत्तका ही

---

१ भावदेवसूरि, पा०च०सर्ग ६ श्लो० १३५०-१३५८। २ शत्रुंजयमाहात्म्य १४।६८

उल्लेख है। उपरांत श्वे० मुनि आत्मारामजीने स्वरचित 'अज्ञान-तिमिरभास्कर' में भगवान् पार्श्वनाथजीकी जो शिष्यपरंपरा दी है, वह इनसे भिन्न है[2]। वह भगवान्के प्रमुख शिष्यका नाम आर्यसमुद्र लिखते हैं और फिर श्री शुभदत्त गणधर, श्री स्वामी प्रभासूर्य, श्री हरिदत्तजी और श्री केशीस्वामीका उल्लेख क्रमशः करते हैं। इस-तरह पर भगवान् पार्श्वनाथजीके मुख्य गणधरोंका ठीकसर परिचय पालेना आज कठिनसाध्य है और इस अवस्थामें केवल यही निःसंशय स्पष्ट है कि भगवान्के मुख्य गणधर दश थे। इन सबकी अध्यक्ष-तामें उक्त मुनिगण विचरते थे। प्रमुख गणधर स्वयंभू मनःपर्यय-ज्ञानी थे और उपरान्त उनको केवलज्ञानकी प्राप्ति हुई थी।

इनके अतिरिक्त श्री पार्श्वनाथजीकी शिष्यपरम्पराके विशेष प्रख्यात मुनि हमको श्री पिहिताश्रव नामक मिलते हैं। दिगंबर जैन शास्त्रोंमें इनका विविध स्थानोंपर उल्लेख मिलता है। श्वेतांबर यति आत्मारामजी भी इनके विषयमें कहते हैं कि 'यह स्वामी प्रभासूर्यके कई साधुओंमेंसे एक थे।'[3] दिगम्बर जैन शास्त्रोंमें इनको भगवान् पार्श्वनाथजीकी शिष्यपरम्पराका एक साधु लिखा है और बतलाया है कि इनके एक बहुश्रुती शिष्य बुद्धिकीर्ति नामक थे, जिन्होंने भ्रष्ट होकर क्षणिकवादका प्रचार किया था[4]। यह बुद्धिकीर्ति बौद्धधर्मके संस्थापक म० गौतमबुद्धके अतिरिक्त और कोई अन्य व्यक्ति नही थे। म० बुद्धने स्वयं अपने मुखसे एक स्थानपर जैनमुनि होना स्वीकार किया है।[5] ऐसा मालूम होता है कि म०

---

१ कल्पसूत्र १६१। २ जैनहितैषी भाग ७ अंक १२ पृ० २। ३-जैन हितैषी भाग ७ अंक १२ पृ० २। ४-दर्शनसार ६-१०। ५-भगवान् गौतमबुद्ध पृ० १५।

बुद्धके पितृगण भी श्रमणभक्त थे। जिस समय म० बुद्धका जन्म हुआ था, उस समय एक अजितनामक श्रमण ऋषिने उनको देखकर आशीर्वाद दिया था[1] तथापि जिस समय वे कपिलवस्तुसे बाहिर आरहे थे, तब भी उनको एक श्रमणके दर्शन हुये थे[2]। यह श्रमण बौद्धभिक्षु तो नहीं हो सक्ते, क्योंकि उस समय बौद्धधर्मका अस्तित्व नहीं था किन्तु इसके माने यह भी नहीं है कि वे निश्चितरूपमें जैनश्रमण ही थे, क्योंकि उस समय आजीविक आदि साधु भी श्रमण नामसे उल्लेखित किये जाते थे। यद्यपि यह ठीक है कि मुख्यतः इस 'श्रमण' शब्दका प्रयोग जैनसाधुओंके लिये ही होता था, क्योंकि जैनधर्मको 'श्रमणधर्म' ही बतलाया गया है[3] तथापि ऋग्वेदमें जो श्रमणोंका उल्लेख है[4] वह निसंशय जैन-श्रमणोंसे ही लागू है क्योकि आजीविक आदि इतरश्रमणोंकी उत्पत्ति ईसासे पूर्व ९०० वर्षसे हुई बताई जाती है, जबकि ऋग्वेद करीब चार हजार वर्ष इतना प्राचीन बतलाया जाता है। रही बात म० बुद्धके समागममें आये हुये उक्त श्रमणोकी, सो जब हम बौद्ध ग्रन्थ 'ललितविस्तर'में यह उल्लेख पाते है कि म० बुद्ध अपने बाल्यकालमें श्रीवत्स, स्वस्तिका, नन्द्यावर्त और वर्द्धमान यह चिन्ह अपने शीशपर धारण करते थे, जिनमेंसे पहलेके तीन चिन्ह तो क्रमशः शीतलनाथ, सुपार्श्वनाथ और अरहनाथ नामक जैन तीर्थंकरोंके चिह्न हैं और अंतिम वर्द्धमान स्वयं भगवान् महावीरका नाम है तब यह कहना ठीक ही है कि संभवत उक्त श्रमण जैन मुनि ही थे

१–बुद्धजीवन (S. B. E. XIX) पृ० ११। २–इन्डियन एन्टीक्वेरी भाग ९ पृ० २४६। ३–कल्पसूत्र पृ० ८३। ४–ऋग्वेद १०।१३६।

और राजा शुद्धोदन उन जैन श्रमणोंके भक्त थे।[1] इस प्रकार श्री पिहिताश्रव मुनिराजके सर्व प्रमुख शिष्य बुद्धिकीर्तिके पितृकुल एवं उनके उपरान्त बौद्धधर्मके प्रवर्तकरूपमें वर्णन है। वह भ्रष्ट जैन मुनि थे और भगवान् महावीरके समकालीन थे।

"मौन एकादशी व्रतकथा" में भी श्री पिहिताश्रव मुनिका कथन है।[2] इस कथामें कौशांबीके राजा हरिवाहन और उनकी पट्टरानी शशिप्रभाका अपने राज्यविमुख पुत्र सुकौशलके सम्बन्धमें श्री सोमप्रभु नामक मुनिराजसे जिज्ञासा करनेका उल्लेख है। मुनिराजने राजा रानीका समाधान करते हुये कहा था कि 'कौशल्य देशके कूटनगरमें राजा रणसिंह और उसकी रानी त्रिलोचना थी। इनके राजत्वकालमें उसी नगरमें एक कुणवी रहता था, जिसके तुङ्गभद्रा नामकी भाग्यहीना कन्या थी। तुङ्गभद्राकी शैशव अवस्थामें ही उसके मातापिता कालकवलित होगए थे और वह ज्योंत्योंकर बड़ी हुई! आठ वर्षकी जब वह थी तब एक रोज घास काटनेके लिये वनमें जाते हुये उसे श्री पिहिताश्रव मुनिराजके दर्शन हो गये। उसने भी श्रीगुरुके मुखारविंदसे धर्म श्रवण किया और उनके परामर्शसे एकादशी व्रत ग्रहण किया! व्रतको पूर्णत. पालकर वही कन्या मरकर तेरे यह सुकौशल नामक पुत्र हुआ है। यह चरमशरीरी है, इसी भवसे मोक्षलाभ करेगा। इसीलिये यह राज्यकाजसे विमुख रहता है।' राजा अपने पुत्रका यह पूर्वभव सुनकर संसारसे विरक्त हो चला और राजभवनमें आकर उसने सुकौशलको तो

१-भगवान् महावीर और म० बुद्ध पृ० ३७-३८। २-जैनकथासंग्रह पृ० १२५।

राज्यसिंहासनपर आरूढ़ किया और स्वयंने पिहिताश्रव आचार्यके निकट जाकर दीक्षा ग्रहण करली थी। इधर सुकौशल राज्याधिकारी तो हुये, परन्तु इनका चित्त सदा ही राज्यकाजसे उदास रहता था। नौवत यहांतक पहुची कि एक मंत्रीने इनके विरुद्ध षड्यंत्र भी रचडाला कि जिससे यह सुगमतासे राज्यच्युत किये जासकें; किंतु दूसरे राज्यभक्त मंत्रीने इसका भंडा फोड़ दिया! परिणामतः सुकौशल राजाने राज्यभक्त मंत्रीको राज्यपद दिया और स्वयं मोक्ष-लाभ किया था। इस कथासे भी पिहिताश्रव मुनिराजका भगवान् पार्श्वनाथजीके तीर्थमें होना प्रमाणित है, क्योंकि भगवान् महावीरके धर्मप्रचारके समय कौशाम्बीमें राजा शतानीकका राज्य होना लिखा गया है,[1] जिनसे पहले ही उक्त घटना घटित हुई होगी! किन्तु इस कथामें कौशाम्बीको कौशल्य देशमें अवस्थित बतलाया है;[2] जो ठीक नहीं है क्योंकि कौशलकी राजधानी श्रावस्ती थी और कौशाम्बी वत्सदेशका राजनगर थी। साथ ही श्री 'उत्तरपुराण'जीके निम्न अशसे इस कथाकी बहुत सदृशता है और इसमें घटनास्थान चम्पा बतलाया गया है, यथाः—

"अस्त्यत्र विषयोगाख्यः संगतः सर्ववस्तुभिः।
नगरी तत्र चंपाख्या तत्पतिः श्वेतवाहनः॥ ८॥
श्रुत्वा धर्मं जिनादस्मान्निर्वेगाहिताशयः।
राज्यभारं समारोप्य सुते विमलवाहने॥ ९॥
संयमं वहुभिः सार्द्धमत्रैव प्रतिपन्नवान्।

१ हमारा 'भगवान महावीर' पृ० १०८। २ जैन कथासग्रह पृ० १३५। बुद्धिस्ट इन्डिया पृ० २२२।

चिरं मुनिगणैः साकं विहृत्याखंडसंयमैः ॥ १० ॥
धर्मेषु रुचिमातन्वन् दशस्वप्यनिशं जनैः।
प्राप्तधर्मरुचिः ख्यातिः सख्यं यत्सर्वजंतुषु ॥ ११ ॥
अद्य मासोपवासांते भिक्षार्थं प्राविशत्पुरं।
पुरुषाः संहतास्तत्र तत्समोपमितास्त्रयः ॥ १२ ॥
नरलक्षणशास्त्रज्ञस्तेष्वेको वीक्ष्य तन्मुनिं।
लक्षणान्यस्य साम्राज्य पदवीप्राप्तिहेतवः ॥ १३ ॥
अटत्येष च भिक्षायै शास्त्रोक्तं तन्मृषेत्यसौ।
वदन्नभिहितोन्येन न मृषा शास्त्रभाषितं ॥ १४ ॥
त्यक्तसाम्राज्यतंत्रोयमृषिः केनापि हेतुना।
निर्विण्णस्तनये बाले निधाय व्यावृतिं निजां ॥१५॥
स्वयं स्वार्थं समुद्दिश्य तपः कर्तुमिहागतः।
मंत्रिप्रभृतिभिः सर्वैः कृत्वा तं शृंखलावृतं ॥ १६ ॥"

यहांपर चम्पाके राजा श्वेतवाहनको अपने विमलावाहन पुत्रको राज्य देकर श्री वीर भगवानके निकट तपश्चरण धारण करते बताया है। उपरांत मुनि भेषमें उन्होंने राजगृहमें लक्षण-शास्त्र-वेत्ताओंके मुखसे अपने पुत्रका मंत्रियों द्वारा राज्यच्युत किया जाना भी सुना था, यह भी उक्त श्लोकोंमें कहा गया है। पूर्वोक्त सुकौशल मुनि-वाली कथा भी इसी ढंग की है। इसलिये बहुत सम्भव है कि उपरांत कालके उक्त कथाकारने सुकौशल मुनिकी कथाको विशेषता देनेके लिये चम्पापुरके श्वेतवाहनवाली घटनाको उसमें जोड़ दिया हो! इसीलिये शायद उन्होंने कौशल देशके राजाका पुत्र सुकौश-लको वतलाया है। कौशलके एक राजाका नाम महाकौशल बौद्ध

शास्त्रोंमें मिलता है, जिनके पुत्र प्रसेनजित थे।[1] साथ ही राजाका हरिवाहन नाम भी श्वेतवाहन नामसे सदृशता रखता है। इन बातोंके देखते हुए जब हम 'आराधना कथाकोष' में सुकौशल मुनिकी कथाको पढ़ते हैं, तो यह ठीक जंच जाता है कि उक्त 'मौन एकादशीव्रत कथा' का वर्णन ऐतिहासिकताके विरुद्ध है। इसी 'कथासंग्रह' की एक अन्य कथामें हम मध्य कालके राजा नरवर्माका सम्बंध देख ही चुके हैं। जिसको उस कथामें बहु प्राचीन कालमें जा रक्खा है। 'आराधना कथाकोष' मे सुकौशल अयोध्याके राजा प्रजापालके समयमें हुये सेठ सिद्धार्थके पुत्र बताये गये हैं और उन्हें दूसरे भवसे मोक्षगामी होते बतलाया गया है।[2] किन्तु इस सब वर्णनसे इतना तो स्पष्ट ही है कि मुनिराज पिहिताश्रवके निकट किसी व्यक्तिने अवश्य ही दीक्षा ग्रहण की थी, यह व्यक्ति संभवत: सेठ सिद्धार्थ ही प्रतीत होते हैं। साथ ही अंगदेशस्थ चम्पापर राजगृहके राजा श्रेणिकके पुत्र कुणिकका राज्याधिकारी होनेका भी सम्बंध उक्त वर्णनसे स्पष्ट है। चम्पाके राजा अयोग्य थे और मंत्रियोंने उन्हें राज्य-भ्रष्ट कर दिया था। इस मौकेपर कुणिकका वहांपर अधिकार प्राप्त कर लेना सुगम ही था। इस तरह इस विवरणमें कुणिकका चम्पापर राज पानेका कारण उपलब्ध हो जाता है, जो भारतीय इतिहासके लिये भी उपयोगी है। अस्तु !

श्री 'नागकुमार चरित'में भी एक पिहिताश्रव मुनिका उल्लेख हमें मिलता है; किन्तु जैन शास्त्रोंमें श्री नागकुमारजीको भगवान्

१-इन्डियन हिस्टॉरीकल क्वार्टर्ली भाग १ पृ० १५८। २-आराधना कथाकोष भाग २ पृ० २३२।

नेमिनाथजीके तीर्थमें हुआ बतलाया जाता है।[1] और उस अवस्थामें इन पिहिताश्रव मुनिका भगवान् पार्श्वनाथजीकी शिष्यपरम्पराका मुनि होना अशक्य है। परन्तु जब नागकुमार चरितमें अनेक ऐसी बातोंका उल्लेख हम पाते हैं जिनका सम्बंध भगवान् महावीरके प्रारम्भिक कालकी घटनाओंसे प्रायः ठीक बैठता है, तो यही प्रतिभाषित होता है कि यह पिहिताश्रव मुनि वही हैं जो श्री पार्श्वनाथजीकी शिष्यपरम्परामें थे। हो सक्ता है कि नागकुमारका जन्म श्री नेमनाथस्वामीके तीर्थमें होगया हो और वह भगवान् पार्श्वनाथजीके तीर्थके अंतिम समयतक बल्कि उपरान्ततक विद्यमान रहे हो, क्योंकि उनकी आयु भी १०७० वर्षकी बतलाई गई है।[2] उनकी कथामें जय और विजय नामक मुनियोंका भी उल्लेख मिलता है;[3] और इसी नामके मुनियोंका होना श्री पार्श्वनाथजीकी शिष्यपरम्परामें भावदेवसूरिके "पार्श्वनाथ चरित"से भी प्रकट है जैसे कि हम ऊपर देख चुके हैं। गिरितट नगरसे नागकुमारका श्री नेमिनाथजीकी वंदनाके लिये पर्वतपर जानेका उल्लेख[4] भी इस बातका द्योतक है कि उस समय भगवान् नेमिनाथ विद्यमान नहीं थे। नागकुमारकी कथामें सिंधुदेशके राजा चंडप्रद्योत बताये गये हैं।[5] उस प्राचीनकालमें इस नामके एक प्रामाणिक राजा केवल उज्जयनीके थे और वह भगवान् महावीरके समयमें भी विद्यमान थे।[6] किन्तु यहांपर जो उनको सिंधुदेशका राजा लिखा गया है, वह भी ठीक

१–श्री पुण्याश्रव कथाकोष' पृ० १८०। २–पूर्ववत। ३–पूर्व० पृ० १६९। ४–पूर्व० पृ० १७३। ५–पूर्व० पृ० १७२। ६–बुद्धिस्ट इन्डिया पृ० २३।

है, क्योंकि जैनाचार्योंने चर्मणावती नदीको ही सिंधुनदी माना है;[१] बल्कि इस नामकी एक नदी वहीं मौजूद थी।[२] इसलिये ही इस नदीके तटवर्ती देशको सिंधुदेश जैन शास्त्रोंमें लिखा गया है।[३] राजा चेटककी राजधानी विशालाको भी इसी अपेक्षा सिंधुदेशमें जैनाचार्योंने लिखा है।[४] उज्जयनीका ही दूसरा नाम विशाला था।[५] कवि कालिदासने अपने मेघदूत काव्यमें उसीके लिये 'विशालां विशालाम्' पदका प्रयोग किया था। इसीपरसे उपरान्तके जैनाचार्योंने विशाला (वैशाली) को सिंधुदेशमें बतला दिया था; यद्यपि वास्तवमें वह विदेहदेशमें थी, जैसे कि आज पुरातत्वकी खोजसे प्रमाणित हुआ है।[६] आज भी जैन शास्त्रकारोंकी तरह कतिपय विद्वान् भ्रमसे कवि कालिदासके उक्त पदका प्रयोग वैशालीसे सम्बंधित कर देते हैं; जबकि वास्तवमें वह उज्जयनीके लिये ही लागू है।[७] अतएव इस कथनसे यह स्पष्ट है कि उपरोक्त चण्डप्रद्योत, जो सिंधुप्रदेशके राजा बताये गये है, वही हैं जो उपरान्तमें उज्जयनीके प्रख्यात राजाके रूपमें हमें हिन्दू, बौद्ध और जैनशास्त्रोंमें मिलते हैं। इस उल्लेखसे भी नागकुमारजीका भगवान्

१–अस्य. सिन्धो चर्मण्वत्या।–योगिराटः–'पार्श्वाभ्युदयकाव्य टीका। २–भवभूतिका 'मालतीमाधव नाटक'–कनन्घिम जागरफी (नया संस्करण) नोट पृ० ७२७। ३–कवि धनपालने अपने 'भविष्यदत्त चरित'में इस प्रदेशका सिंधु नामसे उल्लेख किया है–देखो अंग्रेजी जैनगजट वर्ष २२ पृ० २४९ पर मेरा लेख। ४–श्रेणिकचरित्र पृ० और उत्तरपुराण पृ० ६३४। ५–विशाला उज्जयिनीपुरीम्। 'विशालोज्जयिनीसमा' इत्याभिधानात् योगिराट. श्री पार्श्वाभ्युदय काव्य पृ० ९०–९१। ६–देखो हमारा 'भगवान महावीर' पृ० ६३–६८। ७–डॉ० बी० सी० लॉने यह पद वैशालीके लिये बतलाया है और उनके अनुसार हमने ऐसा लिखा था।

महावीरसे किञ्चित् पहले तक विद्यमान रहना प्रमाणित होता है। यह नागकुमार मगधदेशके कनकपुर नामक नगरके राजा जयंधरकी रानी पृथ्वीमतीके पुत्र थे। इनका मूल नाम प्रतापंधर था। बौद्धोंके 'उदेनवत्थु' नामक कथानकमें कौशाम्बीके एक राजाका नाम परन्तप लिखा है।[1] यह म० बुद्धसे किञ्चित पहलेतक मौजूद थे और इनका पुत्र उदायन था, जो वीणावादनमें बहुप्रसिद्ध था। सभव है कि प्रतापंधरका ही उल्लेख बौद्धोंने परन्तपके रूपमें किया हो। जो हो, इन प्रतापंधरने अपने पिता द्वारा घरसे निकाले जानेपर बहु देशोंमें पर्यटन किया था और विविध स्थानोंकी राज्यकन्यायोंसे पाणिग्रहण किया था। अन्ततः यह अपने नगरको वापिस पहुंच गये थे और राजा जयंधरने इनके सुपुर्द राज्य करके स्वयं श्री पिहिताश्रव मुनिके निकट दीक्षा ग्रहण करली थी।[2] इसके अतिरिक्त पिहिताश्रव मुनिका उल्लेख इस कथामें कई जगह और भी आया है।

श्री 'पुण्याश्रव कथाकोष' में श्री भविष्यदत्तकी कथामें भी पिहिताश्रव मुनिका कथन है।[3] वहा लिखा है कि भविष्यदत्तने पिहिताश्रव मुनिसे दीक्षा ली थी; परन्तु इस ग्रंथसे प्राचीन कवि धनपालके भविष्यदत्त चरित्रमें मुनिका नामोल्लेख नहीं है।

श्री "सम्यक्त्व कौमुदी" की विष्णुश्रीकी कथामें भी पिहिताश्रव मुनिका उल्लेख है।[4] दक्षिण देशके वेनातट नगरके राजा

१–लाइफ एण्ड वर्क आफ बुद्धघोष पृ० ११९। २–पुण्याश्रव कथाकोष पृ० १७९। ३–पूर्व० पृ० १९२। ४–श्री सम्यक्त्व कौ० पृ० ८४।

सोमप्रभने यज्ञोंके द्वारा जो फल नहीं प्राप्त कर पाया था, वह वहींके एक गरीवपर दानशील विश्वभूति नामक ब्राह्मणने मुनि पिहिताश्रवको आहारदान देनेसे उपार्जन कर लिया था। इस दानशील ब्राह्मणके फल—प्रभावको देखकर ही राजा पिहिताश्रव मुनिराजके निकट गया था और उनसे अन्तत श्रावकके व्रत उसने ग्रहण किये थे। यह कथा भी सभवत. भगवान पार्श्वनाथजीके तीर्थके मुनि पिहिताश्रवसे सम्बंधित है। इनके अतिरिक्त अन्यत्र हमें मुनि पिहिताश्रवके विषयमें कुछ अधिक ज्ञात नहीं होता है। तथापि इतने विवरणसे यह तो स्पष्ट ही है कि मुनि पिहिताश्रव सर्वत्र विचर कर उस समय धर्मका उद्योत कर रहे थे। किन्तु खेद है कि उनके विषयमें इससे अधिक और कुछ ज्ञात नहीं है।

दिगंबर जैन शास्त्रोंमें इनके अतिरिक्त संजय, विजय, मौद्गलायन आदि जैन मुनियोंका उल्लेख भी हमें भगवान् पार्श्वनाथजीके तीर्थकालमें हुआ मिलता है और इन सबका उल्लेख हम अगाड़ी एक स्वतंत्र परिच्छेदमें करेंगे। यहांपर श्वेतांबर संप्रदायके साहित्यपर भी एक दृष्टि डाल लेना आवश्यक है। वहां हमें भगवान पार्श्वनाथजीके तीर्थके सर्वाभिमुख मुनिके रूपमें श्रमण केशीके दर्शन होते है।[1] यह भगवान महावीरस्वामीके समयमें विद्यमान थे और एक सघके आचार्य थे। इन्हींकी अध्यक्षतामे पार्श्वस्वामीके तीर्थके मुनियोंने श्री महावीरस्वामीकी शरण ग्रहण की थी, यह श्वेतांबर शास्त्रोंका कथन है। इससे अधिक इनके विषयमें हमें और कुछ ज्ञात नहीं है। इनके अतिरिक्त श्री भावदेवसूरि भगवान्

१—उत्तराध्ययन सूत्र २३।

पार्श्वनाथजीके चार खास शिष्योंका उल्लेख करते हैं। वे शिव, सुंदर, सोम और जय नामक थे। इनको भगवानकी दिव्यध्वनिसे ज्ञात होगया था कि वे उसी भवसे सिद्धपद प्राप्त करेंगे और इसी अनुरूप वे धार्मिक जीवन व्यतीत करने लगे थे। किन्तु जब ही मोक्ष प्राप्तिका समय निकट आया तो उनके हृदय क्षुभित होगए। आखिर वे भगवानकी शरणमें आये। जहा उन्हें शीघ्र ही केवलज्ञानकी प्राप्ति होगई और वे सब सिद्ध होगये।[1] 'सुत्रकृतांग' में भी एक 'उदय पेढालपुत्त' नामक मुनिका उल्लेख है। यह श्रीपार्श्वनाथजी शिष्यपरम्पराके शिष्य वहां बतलाये गये है। (पासावचिज्जे नियंठे मेयज्जे गोत्तेण।) इनका गोत्र मेदार्य (मेयज्ज) था। इन्होने कुमार पुत्र नामक ऋषिसे 'प्रत्याख्यान' सबधमें राजगृहके लेप नामक गृहपतिके भवनमें चर्चा की थी। यह लेप मूलमें नालदाके निवासी थे, जहां इनकी ' शेष द्रव्या ' नामक उदकशाला और उसके पास 'हस्तियाम' नामका एक बडा बगीचा था।

(पुरातत्त्व भाग २ अक २ पृष्ठ १३२)

इस प्रकार भगवान् पार्श्वनाथजीके खास शिष्यों और उनके तीर्थके मुख्य मुनियोंके पवित्र जीवन थे। इनके वर्णनसे स्पष्ट है कि भगवान् पार्श्वनाथजीका भी एक संगठित मुनिसंघ था और वह भगवान महावीरजीके समय तक विद्यमान रहा था। यह बात न थी कि म० बुद्धके पहले कोई संगठित मुनिसंघ भारतमे नहीं ही था। भगवान पार्श्वनाथके भव्य शिष्यगण एक नियमित संघमें म० बुद्धके पहलेसे जैनधर्मकी विजय वैजयंती उड्डायमान कर रहे थे, भव्योंको

१–लाइफ एण्ड स्टोरीज ऑफ पार्श्वनाथ पृ० १७०।

सच्चे सुखका राजमार्ग निस्पृह भावसे जतला रहे थे, रंकसे लेकर राव तकका कल्याण कर रहे थे । भेद और पक्षसे विलग रहते वे सबके ही आदर पात्र बन रहे थे । वे अपना और परका उपकार करनेमें सदा बद्धपरिकर थे । लोभ और ममत्व तो उनको अपने शरीर तकसे नहीं था । वे वीर थे, पूर्ण निस्पृही थे, अपने जैसे आप थे ! परम त्यागके साक्षात् आदर्श थे । परमपूज्य श्रमण थे । उनके चरणोंमें सब ही नतमस्तक होते थे ! कविकी तानमें तान मिलाकर सब यही कहते थे—

"जस गावत शारद शेष खरो, अघवन्त उधारनको तुमरो ।
तिहितें शरनागत आन परो, विरदावलिकी कछु लाज धरो ॥
दुख वारिधतै प्रभु पार करो, दुरितारि हरो सुखसिंधु भरो ।
सब क्लेश अशेष हरो हमरो, अब देख दुखी मत देर करो ॥"

(१८)
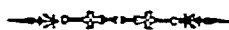
मक्खलिगोशाल, मौद्गलायन प्रभृति शेष शिष्य ।

"मसयरि–पूरण रिसिणो उप्पण्णो पासणाहतित्थम्भि ।
सिरिवीर समवसरणे अगहियझुणिणा नियत्तेण ॥ १७६ ॥
बहिणिग्गएण उत्तं मज्झं एयारसांगधारिस्स ।
णिग्गइ झुणीण, अरुहो णिग्गयविस्सास सीसस्स ॥१७७॥
ण मुणइ जिणकहियसुयं संपइ दिक्खाय गहिय गोयमओ ।
विप्पोवेयब्भासी तम्हा मोक्खं ण णाणाओ ॥ १७८ ॥

अण्णाणाओ मोक्खं एवं लोयाण पयउ माणोहु।
देवो अ णत्थिं कोई मुण्णंझाएह इच्छाए॥ १७९॥"

श्री दर्शनसार'।

अंतिम तीर्थंकर भगवान् महावीर सर्वज्ञपदको प्राप्त कर चुके थे! केवलज्ञान सूर्यका प्रखर उदय उनके निकट हो चुका था! देवोंने आकर उस समयपर हर्षित भावसे आनन्दोत्सव मना करके और सभामण्डप रचकर उस अवसरकी दिव्यशोभाको और भी अधिक बढ़ा दिया था! भगवान महावीर गंधकुटीमें अष्ट प्रातिहार्यसहित अन्तरीक्ष विराजमान थे, परन्तु तो भी उनकी वाणी नही खिरी। देवेन्द्र आदि तृषित चातकोंके एकटक निहारते रहनेपर भी भगवान द्वारा धर्मामृतकी वर्षा न हुई! देवेन्द्र आश्चर्यमें पड़ गया, उसने अपने विशिष्ट अवधिज्ञानके वल जान लिया कि भगवानके दिव्योपदेशको अब धारण करनेवाला योग्य व्यक्ति यहां मौजूद नहीं है। इसीलिये वह राजगृहके इन्द्रभूति गौतम नामक वदेपारांगत विद्वानको वहां लिवालाया और वह भव्य ब्राह्मण भगवानकी शरणमें प्राप्त होकर आतुर धर्मात्मा-चातकोंको भगवानकी दिव्यध्वनिसे धर्मपीयूष पिलानेमें सहायक हुये। किन्तु इसी समय भगवानके समवशरणमें श्री पार्श्वनाथजीकी शिष्यपरम्पराका मक्खलि अथवा मस्करि गोशाल नामक एक वयप्राप्त ऋषि मौजूद था। उसे इस घटनासे बड़ा रोष आया। वह फौरन ही समवशरणसे उठकर चल दिया और बाहर निकलकर कहने लगा कि 'देखो कैसे आश्चर्यकी बात है कि मैं ग्यारह अंगका ज्ञाता हूं तो भी दिव्यध्वनि नहीं हुई! पर जो जिनकथित श्रुतको ही नहीं मानता है, जिसने अभी

हाल ही दीक्षा ग्रहण की है और जो वेदोंका अभ्यास करनेवाला ब्राह्मण है वह गौतम (इंद्रभूति) इसके लिये योग्य समझा गया! अत जान पड़ता है कि ज्ञानसे मोक्ष नहीं होता।' बस इस निश्चयके साथ ही वह अपने इस मतका प्रचार लोगोंमें करने लगा और यह प्रकट करने लगा कि अज्ञानसे ही मोक्ष होता है। देव या ईश्वर कोई है ही नहीं। अतएव स्वेच्छापूर्वक शून्यका ध्यान करना चाहिये।

इसप्रकार भगवान पार्श्वनाथजीके तीर्थमेंके यह एक अन्य प्रख्यात मुनिका परिचय है। यह तो बौद्धशास्त्रोंसे भी सिद्ध है कि मक्खलिगोशाल नामक एक बहुप्रसिद्ध मतप्रवर्तक तब मौजूद था और आखिर वह आजीविक सम्प्रदायका मुख्य नेता बन गया था।[२] उनके 'दीघनिकाय'में उसको अज्ञानमतका ही प्रवर्तक बतलाया है।[३] गोशालके मुखसे वहांपर यह कहलाया गया है कि "न कोई हेतु है और न कोई ऐसी पहलेसे स्थित सत्ता ही है जो सत्तात्मक जीवोंके संक्लेशका कारण हो। उनका अशुद्धपना हेतुरहित और पहलेसे स्थित किसी वस्तुकी रचना नहीं है। तथापि सत्तात्मक जीवोंकी शुद्धताके लिए न कोई कारण है और न कोई ऐसा तत्व (Principle) जो पहलेसे मौजूद हो। उनकी शुद्धता अहेतुमय और विना किसी पहलेसे स्थित वस्तुकी रची हुई है।[४] उनकी उत्पत्तिके लिये वहां कुछ नहीं है जो व्यक्तियोंके चारित्रके फलरूप

१–महापरिनिब्बान सुत्त (P. T. S. Vol. II) पृ० १५०। २–"वीर" वर्ष ३ अंक १२–१३ पृ० ३१८–१९। ३–दीघनिकाय (P. T. S. Vol. II) पृ० ५३–५४। ४–यहांपर देव या ईश्वरको नहीं माननेका भाव स्पष्ट है।

हो, दूसरोंके कार्योंके परिणामरूप हो अथवा मानवी प्रयत्नोंका नतीजा हो।[1] उनका प्रादुर्भाव न वीर्यसे और न प्रयत्नसे होता है। तथापि न मानुषिक त्यागसे और न मानुषिक शक्तिसे प्रत्येक सत्तात्मक प्राणी, प्रत्येक कीड़ा, मकोडा, प्रत्येक जीवित पदार्थ चाहे वह पशु हो अथवा वनस्पति; वह सब आतरिक (Intrinsic) शक्ति, वीर्य और ताकतसे रहित है, किन्तु अपने परिणामाधीन आवश्यक्तामें फँसा हुआ वह छह प्रकारके जीवनोंमें सुख दुख भुगतता है। इस तरह संसारमें परिणामाधीन भटकता हुआ व्यक्ति चाहे वह मूर्ख हो अथवा पंडित हो नियत महाकल्पोंके उपरान्त समान रीतिसे दुःखका अन्त करता है।" मूर्ख अथवा पडितको समान रीतिसे मोक्ष लाभ करते बतलाना, इस बातका द्योतक है कि मक्खलिगोशाल मोक्ष प्राप्तिके लिये ज्ञानको आवश्यक नहीं मानता था। अतएव इस कथनसे परिच्छेदके प्रारम्भमे दी हुई गाथाओंका समर्थन होता है, जिनका भाव वही है, जो हम ऊपर बता चुके हैं। यहां जैनाचार्यने गोशालके मंतव्य ठीक वही बताये है, जो बौद्धोंके उक्त उद्धरणमे निर्दिष्ट किये गये हैं। इसी प्रकार श्वेतांबर जैनोके 'सूत्रकृतांग' में भी गोशालकी गणना अज्ञानवादमें की गई है।[2] साथ ही पाणिनि भी मक्खलिगोशालका मत इसी तरहका प्रतिपादित करता है।[3] पाणिनिसूत्रमें कहा गया है कि—मक्खलि कहता था—कर्म मत करो, शांति वाछनीय है।' भाव यही है कि कुछ

१—इसमें स्पष्टतः अक्रियावादको स्वीकार किया गया है, जिसका भाव यही है कि कुछ मत करो, स्वच्छन्द रहो, शून्यतामें मत्त बनो! जैसे दिगम्बर शास्त्रकारका कथन है। २—सूत्रकृताग २—१—३४५। ३—आजीविक्स भाग १ पृ० १२।

मत करो, शून्यमें गर्त होजाओ। परिणामवादके हाथोंमें कठपुतले बने नाचते रहो। नियत कालमें तुम्हारा स्वयं ही निवटेरा होजायगा।

किन्तु 'दर्शनसार' की उपरोक्त गाथाओंमें 'मस्करि-पूरण' का एक साथ उल्लेख किया गया है, मानो यह दोनों एक ही व्यक्ति है अथवा इनका इतना घनिष्ट सम्बंध है, जो इन दोनोंका उल्लेख एक साथ किया जा सके। यह बात दि० जैनाचार्यके इस कथनसे ही केवल प्रगट नहीं है, किन्तु बौद्धोंके 'अङ्गुत्तरनिकाय' नामक ग्रन्थसे भी यही प्रमाणित है।[1] वहां मक्खलिगोशालके छ अभिजाति सिद्धातको पूर्णका बतलाया गया है और उसीमें अन्यत्र उसको मक्खलिगोशालका प्राय शिष्य ही बतलाया है। इसी कारण आधुनिक विद्वान् पूर्णकाश्यप और मक्खलिगोशालके आपसी संबंधको स्वीकार करते हैं[2] और इसलिये जैनाचार्यका उक्त प्रकार इन दोनों व्यक्तियोंका एक साथ उल्लेख करना कुछ अनोखा नहीं है।

हां ! श्वेतांवर जैनोंकी मान्यता इस विषयमें इसके विरुद्ध है। वे मक्खलिगोशालको स्वयं भगवान् महावीरका शिष्य बतलाते हैं और उनकी छद्मस्थ अवस्थामें वह भगवान महावीरके निकट दीक्षित हुआ था यह कहते हैं।[3] किन्तु यह ठीक नहीं है। उनके अन्य ग्रन्थोंसे यह बाधित है, क्योंकि उनमें यह प्रगट किया गया है कि छद्मस्थावस्थामें भगवान बोलते नहीं थे—मौन रहते थे।[4] इस दशामें गोशालका भगवान् महावीरका शिष्य बतलाना गलत है और इस-

---

१-अगुत्तरनिकाय भाग ३ पृ० ३८३। २-इन्डियन एन्टीक्वेरी भाग ४३। ३-भगवती सूत्र १५-१६। ४-आचाराग सूत्र (S. B E) पृ० ८०।

कारण उनके अन्य कथनपर भी सहसा विश्वास नहीं किया जा सक्ता ! आधुनिक विद्वान् भी इसी निष्कर्षपर पहुंचे हैं कि गोशाल भगवान् महावीरका शिष्य नही था; परन्तु साथ ही वह श्वेतांबर ग्रंथोंके आधारसे जो स्वयं उसे भगवान महावीरका गुरु बतलाते है और भगवानने नग्न भेष उससे ग्रहण किया था, जो यह कहते है वह भी ठीक नही है ! जैन मान्यताके अनुसार प्रत्येक तीर्थंकर स्वयं बुद्ध होता है और इसी अनुरूप किसी भी जैन अथवा अजैन शास्त्रसे यह प्रमाणित नही है कि भगवान महावीर अथवा किसी अन्य तीर्थंकरने किसी व्यक्तिसे कोई शिक्षा ग्रहण की हो। जिस श्वेतांबर ग्रन्थके बल आधुनिक विद्वान गोशालको भगवानका गुरु बतलाते है स्वय उससे भी यह प्रमाणित नहीं होता कि गोशालसे भगवानने कुछ सीखा हो। नग्न भेष ग्रहण करनेकी बात भी उल्टी है ! भगवान महावीरके निकट आकर गोशालने नग्न भेष ग्रहण किया था। तब फिर भला यह कैसे संभव है कि भगवानने उससे नग्न भेष ग्रहण किया हो ! इस दशामें आधुनिक विद्वानोंकी यह सब कोरी कल्पना ही है ![3] गोशालके विषयमें यह स्पष्ट है कि उसने अपने सिद्धात 'पूर्वों'से लिये थे और यह पूर्व सिवाय जैन पूर्वोंके और कोई थे नहीं। यह आधुनिक विद्वान भी मानते है।[4] साथ ही उसके सिद्धांत भी जैनसिद्धांतोंसे लिये हुये प्रगट होते

१–आजीविक्स भाग १ पृ० १७, जैनसूत्र (S. B. E YOL XLV) भाग २ भूमिका १। २–पूर्व दोनों प्रमाण, हिस्टारील ग्लीनिंग्स पृ० ३८–४१ और प्री. बुद्धिस्टिक इन्डियन फिलासफी पृ० ३७४ और ३८१। ३–विशद विवेचनके लिए "वीर" वर्ष ३ अक १२–१३ देखना चाहिये। ४–आजीविक्स भाग १ पृ० ४२–४५।

हैं। वह आत्माका अस्तित्व और उसका स्वरूप करीब२ जैनधर्मके अनुसार मानता था। आत्माको वह अरोगी सांसारिक मलोंसे विलग स्वीकार करता था एवं संसार परिभ्रमण सिद्धांतको भी स्वीकार करता था। भगवान् पार्श्वनाथजीने इसी तरह आत्मा संबंधी सिद्धांत प्रतिपादित किया था। यही नहीं, अणुवाद (Atomic Theory) जो खास जैनियोंका ही सिद्धान्त है, वह भी उसको ठीक जैनधर्मके अनुसार मान्य था।[२] उसका नग्न भेष भी भगवान पार्श्वनाथजीके अनुरूप था। अष्टांग निमित्त ज्ञानको उसने पूर्वोंसे ग्रहण किया ही था, जिनका प्रदिपादन भगवान पार्श्वनाथजीकी दिव्यध्वनिसे होचुका था।[३] उसका चत्तारिपाणगायं चत्तारिअपाणगायं सिद्धांत जैनियोंके सल्लेखना व्रतके समान ही था। उसने सव्वे सत्ता, सव्वे जीवा, अधिकम्म, संज्ञी, असंज्ञी शब्द जो व्यवहृत किये थे,[४] वह खास जैनियोंके शब्द हैं। मक्खलिने अपना छै अभिजाति सिद्धात भी भगवान पार्श्वनाथके षटकाय जीवभेदसे ग्रहण किया था और जैन शास्त्र स्पष्ट रीतिसे उसके जैन मुनि होनेकी घोषणा करते ही हैं। अतएव जैन मुनि-दशासे भ्रष्ट होकर उक्त प्रकार जैनधर्मसे सादृशता रखते हुये सिद्धांतोंका प्रतिपादन करना उसके लिए आवश्यक ही था। उसका शिष्य उपक नामक आजीविक जैन तीर्थंकर अनन्त जिनकी भी उपासना करता था। सचमुच आजीविक संप्रदायकी उत्पत्ति भगवान पार्श्वनाथजीके

१-जैनसूत्र S B E. भाग १ भूमिका। २-इन्सा० ऑफ रिलीजन एण्ड ईथिक्स भाग २ पृ० १९९। ३-आजीविक्स भाग १ पृ० ६१। ४-दीघनिकाय (S. B E.) भाग २ पृ० ७३-७४। ५-प्री-बुद्धिस्टिक इन्डियन फिलासफी पृ० ३०३।

दिव्य उपदेशके प्रभाव अनुरूप हुई थी और मक्खलिगोशालने भी अन्ततः उसका नेतृत्व स्वीकार कर लिया था। इसी कारण बौद्ध-शास्त्रोंमें उसका वर्णन हमें म० बुद्धके समयमें एक स्वाधीन मत-प्रवर्तकके रूपमें मिलता हैं।[2] आधुनिक विद्वान् बौद्धोंके तत्कालीन कथनको उससे पहलेके समयसे भी लागू कर देते हैं, यद्यपि यह ठीक है कि म० बुद्धके धर्मोपदेश देनेके पहले ही स्वतंत्र मतप्रवर्तक रूपमें वह प्रकट हो गया था। किन्तु इसके अर्थ यह नहीं होसक्के कि मक्खलि कभी जैन मुनि नहीं था और भगवान महावीरने उससे ही सैद्धातिक विचार करनेकी योग्यता प्राप्त करके एक नया सघ स्थापित किया था,[1] जैसा कि किन्ही लोगोंका ख्याल है। आजीविक सप्रदायका उद्गम जहां जैनधर्मसे हुआ था, वहां उसका अन्त भी जैनधर्मके उत्कृष्ट प्रभावके समक्ष हुआ था। उपरांत कालमें आजीविकोंका उल्लेख दि० जैनोंके रूपमें होता था और वे दि० जैन होगये थे। (हल्श, साउथ इडियन इंसक्रिपशन्स, भा० १ पृ० ८८ व आजीविक भा० १)।

इसप्रकार भगवान पार्श्वनाथजीके तीर्थवर्ती एक अन्य प्रख्यात ऋषिका वर्णन है। भगवान महावीरके सर्वज्ञपद पाते ही वह उनसे विलग होगया था और आजीविक संप्रदायका नेता बनकर परिणामवाद और अज्ञानका प्रचार करने लगा था !

मक्खलिगोशालके अतिरिक्त संजय, विजय और मौद्गलायन नामक मुनि और थे जो भगवान् पार्श्वनाथकी शिष्यपरम्परामें

१–भगवान महावीर पृ० १७३ और वीर' वर्ष २ अंक १२–१३।
२–दीघनिकाय-सामण्ण फलसुत ।

उल्लेखनीय है। सञ्जय और विजय यह दोनों चारण (आकाशगामी) जैन मुनि थे और यह भगवान् महावीरके जन्म समय तक विद्यमान थे । इनको किसी प्रकारकी सैद्धांतिक संशय विद्यमान थी; जिसका समाधान इनको भगवान महावीरके दर्शन करते ही होगया था । श्वेतांबरोंके 'उत्तराध्ययनसूत्र' मे भी एक सजय नामके मुनिका उल्लेख है[2] परन्तु यह प्रगट नहीं कि वे भी यही मुनि थे । किंतु इधर बौद्ध शास्त्रोंमें भी एक सञ्जय नामक मतप्रवर्तकका उल्लेख मिलता है और उनके शिष्य मौद्गलायन एवं सारीपुत्त वहां बतलाये गये है ।[3] मौद्गलायन जैन मुनि थे, यह बात श्री अमितगति आचार्यके निम्न श्लोकोंसे[4] प्रगट है:—

"रुष्टः श्रीवीरनाथस्य तपस्वी मौडिलायनः ।
शिष्यः श्रीपार्श्वनाथस्य विदधे बुद्धदर्शनम् ॥ ६८ ॥
शुद्धोदन सुतं बुद्धं परमात्मानमब्रवीत् ।
प्राणिन· कुर्वते किं न कोपवैरिपराजिताः ॥ ६९ ॥"

इन श्लोकोंमें मौडिलायन अथवा मौद्गलायन नामक तपस्वीको श्री पार्श्वनाथजीकी शिष्यपरम्परामें बतलाया है । उसने महावीर भगवानसे रुष्ट होकर बुद्ध दर्शनको चलाया था और शुद्धोदनके पुत्र बुद्धको परमात्मा माना था यह भी कहा है ! यहांपर मौद्गलायनको बौद्धमतका प्रवर्तक इसीलिये लिखा है कि मौद्गलायन विशेष प्रख्यात और बौद्ध धर्मका उत्कट प्रचारक थी । इस अपेक्षा मौद्गलायनको

१–उत्तरपुराण पृ० ६०८ और महावीरचरित पृ० २५५ । २–उत्तराध्ययन (S B E) पृ० ८२। ३–महावग्ग १–२३–२४। ४–धर्मपरीक्षा अध्याय १८ । ५–हिस्टारीकल ग्लीनिन्ग्स पृ० ४५ ।

ही बौद्धधर्मका प्रवर्तक कहा जाय तो कुछ अत्युक्ति नहीं है। इस दशामें यह स्पष्ट है कि जैनाचार्य भी उन्हीं मौद्गलायनका उल्लेख कररहे हैं; जिनके गुरु संजय बताये गये हैं और जब स्वयं मौद्गलायन जैन मुनि थे, तो उसके गुरु भी जैन मुनि होना चाहिये। सौभाग्यसे इनके गुरु संजयका जैन मुनि होना अन्यरूपमें भी प्रमाणित है। और यह सजय एवं जैन शास्त्रके चारण ऋद्धिधारी मुनि संजय संभवतः एक ही व्यक्ति हैं। पहले संजयकी शिक्षायें जो बौद्ध शास्त्रोंमें अंकित है[1] वह जैनियोंके स्याद्वाद सिद्धांतकी विकृत रूपान्तर ही हैं। इससे इस बातका समर्थन होता है कि स्याद्वाद सिद्धांत भगवान महावीरसे पहलेका है, जैसे कि जैनियोंकी मान्यता है और उसको संजयने पार्श्वनाथजीकी शिष्य परंपराके किसी मुनिसे सीखा था; परन्तु वह उसको ठीक तौरसे न समझ सका और विकृत रूपमें ही उसकी घोषणा करता रहा। जैन शास्त्र भी अस्पष्ट रूपमें इसी बातका उल्लेख करते हैं, अर्थात् वह कहते हैं कि संजयको शङ्कायें थीं जो भगवान महावीरके दर्शन करनेसे दूर होगई! यदि यह बात इस तरहसे नहीं थी तो फिर भगवान महावीर और म० बुद्धके समयके इतने प्रख्यात मतप्रवर्तकका क्या हुआ, यह क्यों नहीं विदित होता? इसलिए हम जैन मान्यताको विश्वसनीय पाते हैं और देखते हैं कि संजय अथवा संजय वैरत्थीपुत्र जो मौद्गलायनके गुरु थे, वह जैन मुनि सजय ही थे। दूसरी ओर इस व्याख्याकी पुष्टि इस तरह भी होती है

१–'समन्नफलसुत्त' "डायोलॉग्स आफ बुद्ध" (S. B. B. II)
२–महावस्तु भाग ३ पृ० ५९.

कि इन संजयकी शिक्षाकी सादृश्यता यूनानी तत्ववेत्ता पैरहोकी शिक्षाओंसे बतलाई गई है[१] । एक तरहसे दोनोंमें समानता है और इस पैरहोने जैम्नोसूफिट्स सूफियोंसे, जो ईसासे पूर्वकी चौथी शताब्दिमें यूनानी लोगोंको भारतके उत्तर पश्चिमीय भागमें मिले थे, यह शिक्षा ग्रहण की थी ।[२] यह जैम्नोसूफिट्स तत्ववेत्ता निर्ग्रंथ (दिगम्बर) साधुओंके अतिरिक्त और कोई नहीं थे।[३] यूनानियोंने इन साधुओंका नाम 'जैम्नोसूफिट्स' रक्खा था। अतएव जैन साधुओंसे शिक्षा पाये हुये यूनानी तत्ववेत्ता पैरहोकी शिक्षाओंसे उक्त संजयकी शिक्षाओंका सामञ्जस्य वैठ जाना, हमारी उक्त व्याख्याकी पुष्टिमें एक और स्पष्ट प्रमाण है। इस अवस्थामें भगवान् पार्श्वनाथजीकी तीर्थपरम्पराके संजय और मौद्गलायन नामक प्रख्यात् साधुओंका स्पष्ट परिचय प्रगट होजाता है। सचमुच भगवान पार्श्वनाथजीकी शिष्यपरम्परामेंसे म० बुद्ध, मक्खलिगोशाल और मौद्गलायनका विलग होकर अपने नये मत स्थापित करना इस बातका प्रत्यक्ष प्रमाण है कि भगवान पार्श्वनाथजीके दिव्योपदेशका प्रभाव उस समय प्रबल रूपमें सर्वव्यापी होगया था और उसके कारण सैद्धान्तिक वातावरणमें हलचल खड़ी होगई थी !

इसप्रकार भगवान पार्श्वनाथजीकी शिष्यपरम्पराके प्रख्यात् शेष शिष्योंके चरित्रका भी सामान्य दिग्दर्शन हम यहां कर लेते हैं। इनके अतिरिक्त और भी किन्हीं मुनियोंका उल्लेख भगवानके तीर्थवर्ती महापुरुषोका परिचय कराते हुये अगाड़ी स्वयमेव हो

१-हिस्टारीकल ग्लीनि० पृ० ४५ २-पूर्व प्रमाण ३-इन्साइक्लोपेडिया ब्रेटेनिका भाग २५

जायगा ! इसके अगाडी हम श्वेतांबरियोंके पार्श्वचरितमें आये हुये किन्हीं प्रख्यात् व्यक्तियोंका विवरण देदेना उचित समझते हैं, जब कि हमारा उद्देश्य भगवानके शासनका यथासंभव पूर्ण परिचय उपस्थित कर देना है। अस्तु;

(१९)

सागरदत्त और बन्धुदत्त श्रेष्ठी !*

'स्त्री नदीवत् स्वभावेन चपला नीचगामिनी।
उद्वृत्ता च जड़ात्मासौ पक्षद्वयविनाशिनी॥'

भावदेवसूरिः।

पुंड्रदेशमें ताम्रलिप्ति नगर प्रख्यात् था ! यहांपर भगवान् पार्श्वनाथजीके समयमें एक सागरदत्त नामका श्रेष्टी पुत्र रहता था। सागरदत्त भरपूर यौवनमें पैर रख चुका था, पर तो भी वह काम-शरसे बींधा नहीं गया था। उसे स्वभावसे ही स्त्रियोंकी सूरतसे घृणा थी, वह उनका नाम सुनते ही बहक उठता था। कामदेवसे उसने इसतरह प्रत्यक्ष ही विरोध ठान लिया था, किन्तु वह इस विरोधमें सफल न हुआ ! कामदेवके शरोंने उसे व्यथित अवश्य किया, पर वह उसके हृदयको पलट न सके !

एक दिन सागरदत्तकी दृष्टि एक वणिक सुताके सुन्दर रूप सौन्दर्यपर जा अटकी थी। उसके मनमोहक सौन्दर्यने सागरदत्तको विह्वल बना दिया था। वह उसके मुखरूपी कमलका भौंरा तो

* इनकी कथायें श्वेताम्बराचार्यके "पार्श्वनाथ चरित" के आठवें सर्गमें वर्णित हैं। दिगम्बर शास्त्रोंमें इनका उल्लेख नहीं है।

अवश्य ही बनगया पर वह दूरसे ही उसके सौन्दर्यसे अपने नेत्र सफल करना चाहता था। स्त्रियोंके प्रति जो उसके कटुभाव थे, उनको उसे कामिनीकी रूप-राशि भी दूर न कर सकी थी। किंतु इतना होते हुये भी सागरदत्तके बन्धुजनोंने उसका वाग्दान संस्कार उस कन्यारत्नसे कर दिया! संभव था कि इस सम्बन्धसे सागरदत्तका मनोभाव बदल जाता: पर ऐसा न हुआ और इस बातका पता उस कन्याको भी चलगया। वह बड़ी ही खेदितमना हो गई; पर निराश न हुई। उसने एक श्लोक लिखकर सागरदत्तके पास भेज दिया· जिसमें उसने लिखा था कि 'हे बुद्धिमान पुरुष-रत्न! आप इस महिलाका अनादर क्यों करते हैं, जो सर्वथा आपकी अनुगामिनी बनी हुई हैं? पूर्णिमा चद्रको अपने आप चमका देती है, वैसे ही बिजली समुद्रको और स्त्री गृहस्थको प्रकाशमान् बना देती है।' सागरने इस श्लोकको पढ़ डाला और यह भी उसके हृदयको पलटनेमें असफल हुआ। उसने इसके उत्तरमें उपरोक्त श्लोक लिख भेजा, जिसका भाव था कि 'एक नदीके समान स्त्री स्वभावसे ही चपल और नीचगामिनी है। जिस समय वह बन्धनकी अपेक्षा नहीं करती है तो दोनों पक्षोंका नाश करती है। बस वह जड़ बुद्धि है।'

सागरदत्तके इस उत्तरको पाकर वह चतुर वणिक्सुता जान गई कि जरूर किसी स्त्रीके असद्व्यवहारने इनके हृदयको दूषित कर रक्खा है। इसलिये हताश होनेकी कोई बात नहीं है। बात भी वास्तवमें यूं ही थी। सागरदत्त अपने पूर्वभवमें एक विप्र था और इसकी स्त्रीने इसे विष देकर मारनेका प्रयत्न किया था। यही

दुःखदायी व्यवहार उसके हृदयसे इस भवमें भी नहीं उतरा था। इसीलिए वह स्त्री मात्रसे द्वेष करता था। किन्तु शायद पाठक यहां पर वणिक कन्याका उसके साथ इसतरह पत्रव्यवहार करना अनुचित समझें! आजकल जरूर नन्ही उमरमें वणिकोंकी कन्याओंके वाग्दान संस्कार और विवाह लग्न हो जाते है और वर-वधूको एक दूसरेके स्वभावका भी परिचय नहीं हो पाता है। इसी कारण आज दाम्पत्यसुखका प्रायः हर घरमें अभाव है और आदर्श दम्पति मिलना मुश्किल होरहा है। किन्तु उस जमानेमें यह बात नहीं थी। तब पूर्ण युवा और युवतियोके विवाह होते थे और परदा उनके परस्पर परिचय पानेमें बाधक नहीं था। इसी कारण उक्त वणिक सुताने विना किसी संकोचके सागरदत्तको प्रेमपत्र लिखा था। जब उसका वह पत्र भी इच्छित फलको न दे सका, तो उसने एक और पत्र लिखा, इसमें उसने कहा कि 'सचमुच यह तो बड़ा ही अन्याय है कि केवल एक स्त्रीके दोषको लेकर सारी ही स्त्री जातिको दोषी ठहरा दिया जाय। क्या शुक्लपक्षके पूर्णमाकी रात्रिसे इसीलिए घृणा करना ठीक है कि उसके पहले कृष्ण पक्षमें उसकी बहिन बिल्कुल अंधेरी होती है?'

सागरदत्त इस सारगर्भित उत्तरको पाकर अवाक् रह गया! रूप-सौन्दर्य अवश्य ही उसके मनको पलटनेमें असफल रहा था, परन्तु ज्ञानमई विवेक-वचन अपना कार्य कर गये। सागरदत्त उस वणिक-कन्याकी बुद्धिमत्ताके कायल होगये। उनको अपनी गलती नजर पड गई। उन्होंने जान लिया कि सचमुच सारी स्त्रीजातिको दूषित ठहराना अन्याय है। इस जातिको ही यह सौभाग्य प्राप्त

है कि वह त्रिलोकवंदनीय तीर्थंकर भगवानको जन्म देकर जगतका कल्याण करती है। इसलिए स्त्री मात्रसे घृणा करना बुद्धिमत्ता नही है। वह हमारे आदरकी पात्र हैं। उनकी अवहेलना करना, स्त्रियोंको पैरोसे ठुकराना अपना अपमान करना है। बस जब सागरदत्तका हृदय इस तरह पलट गया, तो सानद दोनों युवक युवतीका शुभ लग्नमें विवाह होगया। वह सुखपूर्वक गृहस्थ जीवन व्यतीत करने लगे!

उन दिनों भारतीय व्यापार आजकलकी तरह हेय अवस्थामें नही था। तबके व्यापारी भी कोरे दलाल नहीं थे। सुतरा वे देशविदेश घूमकर अपने देशके व्यापारको उन्नत बनाते थे और यहांकी आर्थिक दशा फलती–फूलती देखते थे। तब यह बात भी न थी कि राजनीतिके नामसे विविध देशोंमे व्यापारिक प्रतिस्पर्द्धा चलती हो और मायावी चालोंसे निर्बल अथवा पराधीन जातियोंके जीवन संकटापन्न बनाये जाते हों। साथ ही उस समयके व्यापारमें यह भी विशेषता थी कि उस समयके व्यापारी स्वयं ही देश विदेशमें जाया करते थे। विदेशोंमें जाना तब पाप नहीं समझा जाता था और न धनिक व्यापारी स्वयं परिश्रम करना अपनी शानके खिलाफ समझते थे। इसी अनुरूप सागरदत्तने भी व्यापारके लिये विदेश जानेकी ठहराई! वह सातवार विदेश गया, परंतु सातों ही दफे उसके जहाज़ समुद्रमें नष्ट होगये। लाभान्तराय कर्म उसके मार्गमें ऐसा आड़ा आरहा था कि उसे वार २ प्रयत्न करनेपर भी लाभ नहीं होता था, किन्तु किसीके सर्वदा एकसे ही दिन नहीं रहते है। आठवीं वार उसे अपने व्यापारमें खूब ही नफा

हुआ–उसके परिश्रमका फल मिल गया! वह हर्षका फूला घर लौटा और देवालय निर्मित करनेमें उस धनका एक भाग खर्च करना उसने ठान लिया। लोगोंके कहनेसे वह पुंड्रदेशमें स्थित भगवान् पार्श्वनाथके समवशरणमें दर्शन करने गया और वहां उसने अपने मनोभावको प्रकट किया! कहते हैं कि भगवानका परामर्श पाकर उसने देवालयमें श्री अर्हत् भगवान्‌की बिम्ब बड़े समारोहसे स्थापित की और वह आनंदसे धर्माराधनमें कालक्षेप करने लगा! वास्तवमें उसका यह कार्य एक आदर्श कार्य था। "अपने व्यापारसे जो लाभ उठाओ उसमेंसे एक भागको समयकी आवश्यक्तानुसार महापुरुषोकी सम्मति लेकर धर्मार्थ खर्च दो" मानो इस संदेशको ही वह आजके व्यापारियोके लिये व्यक्त कर रहा था!

इसी समय सागरदत्तके परिणामोंकी दशा सुधर चली थी और उसने भगवान् पार्श्वनाथजीके निकटसे व्रत ग्रहण करनेकी ठान ली थी किन्तु हत्भाग्यवशात् उसे विदित हुआ कि भगवान्‌का विहार अन्यत्र होगया! वह दिल मसोस कर रह गया! फिर उसका क्या हुआ यह विदित नही है!

भगवान् पार्श्वनाथजी वहांसे विहार करते हुये नागपुरीमें पहुंचे थे। उससमय नागपुरीमें धनपति सेठके बन्धुदत्त नामक पुत्र बड़ा ही सुशील था। बन्धुदत्तका विवाह वसुनन्द सेठकी पुत्री चन्द्रलेखासे हुआ था; परन्तु ठीक उस अवसर पर जब कंकण वधूके करमें बांधा जा रहा था, एक सर्पने उसे डस लिया। रंगमें भंग हो गई–आनन्दमें क्रन्दनाद होने लगा! संसारकी क्षणिक दशाका प्रत्यक्ष चित्र ही खिच गया! सो भी एक दफे ही नहीं,

वल्कि ठीक छै दफे यही घटना घटित हुई ! लोग वन्धुदत्तको 'विषहस्त' कहने लगे और कोई भी उसके साथ अपनी कन्याका विवाह करनेको राजी न होता था । वन्धुदत्तको भी अपने भाग्यपर रोष आ रहा था ! वुद्धिमान् पिताने इस समय उसे सिंहलद्वीपको व्यापारके लिये भेज दिया ! वन्धुदत्तने वहा खूब धन कमाया, परन्तु लौटते समय अभाग्यसे उसका जहाज नष्ट हो गया और वह एक तख्ताका सहारा पाकर एक सम्पत्तिशाली द्वीपके किनारे जा लगा । वहांपर एक मणिमई पर्वत था । बन्धुदत्त उसकी शिषिरपर जा पहुंचा और वहां भगवान् नेमिनाथजीके भव्य मंदिरके दर्शन किये एवं वहां उसने श्रावकके व्रतोंको ग्रहण किया । उसके इस सरल भावको देखकर चित्रांगद नामक सम्यक्त्वी विद्याधर बहुत ही प्रसन्न हुआ । उसने इसका विवाह करवा देनेकी व्यवस्था करदी ! किन्हीं विद्याधरोंके साथ वंधुदत्तको उसने कौशाम्वी भिजवा दिया। वहां वह भगवान पार्श्वनाथजीके मंदिरमें दर्शन कररहा था* कि वहाके जिनदत्त सेठने इनको देख लिया और इनके साथ अपनी प्रियदर्शना नामकी कन्याका विवाह कर दिया ! वन्धुदत्त खुशी२ यहां रहने लगा, किन्तु आखिर उसने अपने घर जानेकी ठहराई ।

वन्धुदत्त गर्भभारसे झुकी हुई अपनी प्रियाको लेकर नागपुरीको जारहा था कि मार्गमें भीलोंने इसे लूट लिया और वे प्रियदर्शनाको भी इससे छीन ले गये । इन भीलोंका स्वामी चन्द्रसेन

---

* यह जीको नहीं लगता कि भगवान्के साक्षात् विद्यमान् रहते हुए उनके निम्ब वनगये हों । इस अपेक्षा इन घटनाओंका स्पष्ट घटित हुआ समझना जरा कठिन है ।

था, उसने जब प्रियदर्शनाको जिनदत्तकी पुत्री जाना तो वह बड़े असमंजसमें पड़गया। जिनदत्तने उसका बड़ा उपकार किया था! इसलिये प्रियदर्शनाको उसने बडी होशियारीसे रक्खा, और बंधुदत्तको ढूंढनेके लिये आदमी दौडा दिये। परन्तु बन्धुदत्तका पता न चला। इसी अन्तरालमें प्रियदर्शनाको वहीं एक पुत्ररत्नकी प्राप्ति हुई!

इधर बंधुदत्त अपनी प्रियाके विरहमें व्याकुल हुआ विशालाको जारहा था। वहां उसके चाचा थे; किंतु मार्गमें सुना कि उसके चाचाके कुटुम्बको वहांके राजाने किसी अपराधके लिये बन्धीगृहमें डाल दिया है। बन्धुदत्तके सिरपर आफतका पहाड़ ही टूट पड़ा। उसे उससमय अपने कृतकर्मोंके फल पानेका रहस्य समझमें आया! वह दुःखितहृदय होकर वहासे नागपुरीकी ओर चल दिया, किंतु मार्गमें उसे उसके चाचा मिले और साथ ही अशरफियोंसे भरा एक सन्दूक मिला। इसी समय वहाके कोतवालने इनको राज्यकी चोरी करनेकी आशङ्कासे बन्दीगृहमे डाल दिया। किंतु बंदीगृहमें पहुंचनेके साथ ही उसके भाग्यने पलटा खाया। राजाकी चोरीका पता चलगया। असली चोर पकडा गया, बन्धुदत्त और उसका चाचा छोड़ दिये गये, वे छुटकारा पाकर अपनी राह लगे।

मार्गमे चन्द्रसेनके आदमियोने इन्हें पकड़ लिया। एक आफतसे छूटे तो दूसरीमें फंस गये, परन्तु इसमें उनकी भलाई ही थी। उनका शुभोदय था जो भील उनको पकड़कर चन्द्रसेनके पास ले चले। वहां वन्धुसेनका अपनी प्रिया और पुत्रसे समागम हुआ, वे आनन्दपूर्वक वहासे विदा होकर अपने घर पहुंचे! सबने बंधु-दत्तका बड़ा सम्मान किया और बहुतेरोंने उनकी आत्मकहानी

सुनकर जैनधर्ममें श्रद्धान किया ! इधर जब भगवान् पार्श्वनाथजीके समवशरणके नागपुरी पहुंचनेका समाचार बन्धुदत्तको माळूम हुये, तो वह बड़े मोदभावसे भगवान्‌की वन्दना करनेको गया । वन्दना करके उसने भगवान्‌से अपने पूर्वभव सुने और वह अत्यन्त हर्षित हुआ । उपरान्त उसने भगवान्‌के धर्मोपदेशको सुना और उनसे पंचव्रतोंको गृहण किया। भगवानके मुखसे यह सुनकर कि वह और उसकी पत्नी दूसरे भवसे मोक्षलाभ करेंगे, उसे बड़ा ही सतोष हुआ ! वह भगवान्‌को नमस्कार करके घर लौट आया और धर्ममय जीवन व्यतीत करके सहस्रार स्वर्गमें जाकर देव हुआ ! जैनधर्मकी कृपासे उसे स्वर्गसुखोंकी प्राप्ति हुई ! सत्धर्म सदा ही सुखदाई होता है !

इसप्रकार भगवान्‌के समयके दो सेठ-पुत्रोंके दर्शन करके हम शेषमें उनके तीर्थके कतिपय अन्य मुख्य व्यक्तियोंका दिग्दर्शन करेंगे और फिर भगवान्‌का मोक्षकल्याणकका दिव्य वर्णन देखकर उनका भगवान् महावीरजीसे जो सम्बन्ध था, उसको प्रकट करेंगे ।

(२०)
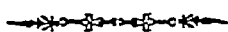
महाराजा करकण्डु !

"तहिं देसिरवण्णइं धणकरण पुण्णइं, अछिणयरि सुमणोहरिय !
जण णयण पियारी महियलसारी, चंपाणामइ गुणभरिय ॥३॥"

× × ×

'तहिं अरि विद्दारणु भयतरु वारणु धाडीवाहणु पहु हुयउं ।'

—मुनि कणयामर !

राजा दन्तिवाहन उस भुवनमोहिनी युवतीकी ओर एकटक निहारते ही रह गये । वह उसकी अतुलरूप राशिपर विमुग्ध हो

गये। उनकी समझमें न आया कि वह मनुष्य है अथवा यक्ष है या अप्सरा है। तिसपर यह जानकर वह और भी अचंभेमें पड़ गये कि जिस सुन्दरीने उनके मनको मोह लिया है, वह उस कुसुमपुर नगरके कुसुमदत्त मालीकी कन्या है। ऐसे साधारण मनुष्यके घरमें इस शुभ लक्षणोंवाली, बड़ी २ राजकुमारियोके रूपको चिनौती देनेवाली कन्याका जन्म लेना उनकी समझमें न आया ! जगली फूलोंके बीच गुलाबका पालेना एक अजीब ही बात थी। वह संशयमें पड़ गये, राजाज्ञा होनेकी देर थी कि कुसुमदत्त वहांपर आ उपस्थित हुआ। राजा दंतिवाहनने उससे पूछा कि तेरे यहां यह कन्या कहांसे आई ? जो सत्य बात है उसको कह दे, इसीमें तेरी भलाई है। वेचारा गरीब माली अवाक रहगया ! वह मन ही मन सोचने लगा कि यह आफत कहासे आगई? इस कन्याको मैंने नाहक ही पाला। न जाने इसने राजाकी क्या अवज्ञा की है जो वे मुझपर कुपित हैं? अब तो सब बात ज्योंकी त्यो कह देनेमें ही भलाई है। यह सोचकर वह बोला कि महाराजकी दुहाई ! यह कन्या मेरी नहीं है। गंगानदीमें बहता हुआ एक सन्दूक मुझे कई वर्ष हुए तब मिला था। उसमें यह कन्या नवजात दशामें वन्द थी। महाराजके विश्वास हेतु मै वह सन्दूक अभी लिये आता हूं यह कहकर माली वहां सन्दूक ले आया। राजाने उस सन्दूकको देखा। उसमें उसे एक मुद्रा (मोहर) दिखाई पड़ी, जिससे उसने जान लिया कि वह राजवशकी पुत्री है। यह देखकर उसके हर्षका पारावार न रहा। वस फिर देरी काहेकी थी ? राजा दन्तिवाहनने शुभ लग्नमें बड़े ही आनन्दसे उस सुन्दर पद्मावती नामकी

राज-कन्याका कोमल कर विवाह-वेदी पर ग्रहण कर लिया। थोड़े ही दिनोंमें इन नवदम्पतिमें गाढ़ प्रेम होगया! पद्मावती राजा दन्तिवाहनकी वड़ी प्रिय रानी वन गई!

राजा दन्तिवाहन अंगदेशमे चम्पानगरके राजा थे। उस समयके राजाओंमें यह भी मुख्य थे। वास्तवमें पद्मावती भी राज-कन्या थी और वह कौसांबीके राजा वसुपालकी पुत्री थी। ('कउ-संविए रायहो पमरिय छाय हो, वसुपालहु पउमावइ दुहियाइया मणिविराए') यह राजदम्पति आनदपूर्वक कालक्षेप कर रहे थे कि राजवंशको आल्हादके कारण यह समाचार सुनाई दिये कि रानी पद्मावतीके शुभ गर्भ है। रानीके यह दिन वडी खुशीसे कटने लगे। उसे जिस वातकी आकांक्षा होती उसकी पूर्ति कर दी जाती थी। हर तरह उसे हर्षमना रखनेका प्रवंध था। माता और परिस्थि-तिका प्रभाव गर्भस्थ वालकपर भी पडता है, इस वातका पूरा ध्यान रानी पद्मावतीके विषयमें रक्खा जाता था। इस दशामें गर्भस्थ वालकका प्रभाव भी माताकी चालढालमें प्रगट होने लगता है। माताकी भावनाओंसे ही उसका परिचय मिल जाता है। रानी पद्मावतीके हृदयमें भी अटपटी भावना उठ खड़ी हुई। वह असा-धारण थी, जो गर्भस्थ वालकके असाधारण प्रभुत्वको प्रगट कर रही थी, उसकी इच्छा हुई कि कुऋतुमें ही मेघमण्डलसे आच्छादित आकाशके होते हुये राजाके साथ हाथीपर वैठकर वनविहार करना चाहिये। राजा दन्तिवाहन इस समय अपनी प्रियाकी प्रत्येक इच्छाको पूरी करनेमें तत्पर थे। उन्हें इस वातको पूरी करनेमें भी देर न लगी। उन्होंने अपने विद्याधर मित्रकी सहायतासे मायामई

मेघोंको भी सिरज लिया। उस ज़मानेमें भी पदार्थ विज्ञान इतना उन्नत अवश्य ही था कि आजकलकी तरह कृत्रिम बादल तब भी विद्याके बलसे बनाये जा सक्के थे। मेघोंके आते ही राजाने नर्मदा-तिलक नामक हाथीको सजवाया और उसपर रानीको बैठाकर वह वनविहारके लिये चल दिया। बातों ही बातों वह बहुत दूर निकल आये और इतनेमें ही हठात् हाथी भी बिजक गया। वह राजा-रानीको ले भागा। किसी तरह भी उसने अंकुशको न माना। यही बात मुनि कणयामर कहते हैं:—

"सो कुंजरुदुट्ठउं चित्तिपहिट्ठउं भग्गउं जाइ किलिजरहो।
ता जणवउ धाविउ कहेवण पाविउ वाहुडिगउ सो णियपुर हो॥१९

दुष्ट हाथी बेतहाशा भागता ही चला गया। उसने एक गहन वनमें प्रवेश किया। राजाने इस समय यही उचित समझा कि यदि मैं इससे बच सकू तो किसी न किसी तरह इसे पकड़वा लूंगा। इसी भावको दृढ़ करके वह एक वृक्षकी शाखा पकड़कर लटक गये। हाथी उनको छोड़कर भागता ही चला गया। बिचारी पद्मावती रानी उसपर अकेली बैठी रह गई। उसके भाग्यमें अशुभ कर्मकी रेखायें खिंच रहीं थीं और वह इस समय पूर्ण फलवती थी। बिचारीको अनायास ही पतिवियोगका कष्ट सहन करना पड़ा; कहा तो प्रसन्नचित्त होकर वनविहार करने निकली थी और कहां यह विरह-दाह उत्पन्न होगया! उसके विवेकने उसे ढाढस बंधाया। धीरज बाधे वह अपने भवितव्यकी बाट जोहने लगी। हाथी भागता हुआ बढ़ता ही गया। राजा जबतक लौटकर चंपापुर पहुंचे ही पहुचे कि तबतक वह कोसौ दूर चला गया। पता लगाना भी मुश्किल

हो गया। हाथी रोषमें भरा हुआ जाकर एक तालाबमें घुस पड़ा और यही मालूम हुआ कि रानी पद्मावतीको वह पानीमें डुबो ही देगा, किन्तु यहां ठीक मौकेपर रानीका पुण्य सहायक होगया। वनदेवीने प्रकट होकर रानीको उस तालाबके निकटवाले सुरम्य उपवनके एक वृक्षके तले बैठा दिया! यह उपवन दंतिपुर नगरके निकट था, यह भी 'करकंडुचरिय'में लिखा है, यथा:—

"ता दिट्ठउ उववणु खरुक्खु। मयरहियउणी रमुणायमुखु॥
तहिं रुक्कहो तले वीसमइ जाम। णंदणुवणु फुल्लिउ फलिउ ताम॥
ता दंतीपुरि केणविविचित्त। भड मालिहि अग्गइ कहिय वत्त॥

× × ×

तें तरु तलित तलि दिट्ठी दिव्ववाल। णंवणसिरिसोहइं गुणवमाल॥
पुणु चिंतइ णउ सामण्ण एह। रुवेण अउछी दिव्वदेह॥"

इनसे यह भी प्रकट होता है कि उस उपवनमें बैठी हुई पद्मावतीको वहाके भट नामक मालीने देखा था। वह उसको देखकर आश्चर्यमें पड़ गया था। रानीकी दिव्य देहको देखते हुये वह सहसा यही न निश्चय कर सका कि वह यक्षी है अथवा कोई राजपुत्री है। आखिर वह माली उसके निकट आकर सब हाल पूछने लगा और सब हाल सुनकर उसने रानीको सान्तवना दी। उपरांत वह रानीको अपने घर लिवा लेगया। उसने दु:खीजनोंको आश्रय देना अपना कर्तव्य समझा और उसने रानीको बडी होशि-यारीसे अपने यहां रहने दिया! उसका यह सुवर्ण कृत्य भारतीय सभ्यताके आदर्शका एक नमूना था। दु:खी और अबला जनकी सहायता करना सचमुच एक खास धर्म है, किन्तु आजके भारतमें

यह मर्यादा प्रायः उठसी गई है। यही कारण है कि आये दिन अबला स्त्रियों और गरीबोंपर अत्याचार होनेके समाचार सुनाई देते हैं। यह भारतीय मर्यादाको कलंकित करनेका प्रयास है, जो सर्वथा त्यजनीय है। भट मालीका अनुकरणीय उदाहरण इस ओर समुचित कर्तव्य निर्दिष्ट कर रहा है। रानी पद्मावती इस मालीके यहां रह तो रही थी; परन्तु इस भले मानसकी मारदत्ता नामकी स्त्री बड़ी ही क्रूरा और दुष्टा थी। वह पद्मावतीको चैन नहीं लेने देती थी। एक रोज उसकी बन आई। माली तो दूर बाहिरगांव गया था। घरपर वही अकेली थी। उसने चटसे रानीको बाहर कर दिया। वह अपने दुष्ट स्वभावसे लाचार थी। उसे रानीकी दयनीय दशापर जरा भी दया नहीं आई! लाचार होकर रानी पद्मावती रोती हुई नगरके बाहिर स्मशान भूमितक पहुंची थी कि वहीं उसे प्रसववेदनाने आघेरा। उसी स्मशानमें उसने पुत्र प्रसव किया।

देखो कर्मोंकी विचित्र गति! राजमहलोंमें फूलोंकी सेजपर सोनेवाली रानी पद्मावती अकेले ही निर्जन स्मशानमें पुत्र प्रसव करती है। उसके निकट एक मामूली परिचारिका भी नहीं है। है तो केवल भारत-वसुन्धराका स्नेहमई अंचल है। उसीके सहारे वह वहां भी सानन्द पुत्र प्रसव कर सकी! पुत्रोत्पन्न होगया—रानीके विषादमें हर्षके वादल उमड़ आये। और वह फलदाता भी हुये। नवजात शिशुका सितारा चमक गया! उस स्मशानभूमिका मातंग बड़ी विनयभावसे रानीके निकट आकर कहने लगा कि 'माता' आज्ञा कीजिये—आप मेरी स्वामिनी हैं।' पद्मावती रानीने यह

अनोखी बात सुनकर उससे पूछा—"तुम कौन हो, जो मुझ दुःखिनीको अपनी स्वामिनी कहते हो ? भाई, मैं तो तुम्हें नहीं जानती हूं ।" वह मातंग बोला—" विद्युत्प्रभ नगरके राजा विद्युत्प्रभ और रानी विद्युल्लेखाका मैं बालदेव पुत्र हूं । एक दिन मैं अपनी स्त्री कनकमालाके साथ दक्षिणकी ओर क्रीड़ा करनेको जारहा था । मार्गमें कलिंगदेशके उपरांत श्री विंध्यशैलकी रामगिरि शिषिरपर श्री वीर नामक मुनिराज विराजमान थे । ('हउंताए समउ दरिक्खणदिसिहि रम्ममाणु गयणुय लेगउं, अंघकलिंग हो अंतरिण, विंझय सेलु अग्गह ठियउं ॥ २ ॥') इसलिये मेरा विमान उनके ऊपरसे नहीं जासका । (मुणीसरु दिट्टऊ—तहोणाऊ चल्लइ दिव्व विमाणु) मुझे बड़ा भारी क्रोध उत्पन्न हुआ क्योंकि मैंने समझ लिया कि इन्होने ही मेरे विमानको रोका है। अतएव वीर मुनिको मैंने उपसर्ग करना प्रारंभ किया[1] । (विकिउ उवसग्गु तासु) परन्तु उनके पुण्यप्रभावसे मेरी सब विद्या नष्ट होगई । मैं भौंचकासे रह गया । मुझे चेत हुआ । मैंने अनेक प्रकारसे उन मुनिवरकी स्तुति की और उपरांत उनसे विद्या सिद्ध होनेका निमित्त पूंछा । उन्होंने कहा कि चंपापुरके राजा दन्तिवाहनकी पद्मावती रानीको दुष्ट हाथी ले भागा था, सो वह दंतीपुरमें मालीके यहां रहती है । किन्तु मालिन उनको अपने घरसे निकाल देगी और वह भीममसानमें पुत्र प्रसव करेगी । उस बालककी तू जब रक्षा करेगा और

१–पुण्याश्रव कथाकोष पृ० २० इस ग्रंथमें अगाडी पद्मावतीका सहायक होना और हस्तिनापुरका स्मशान बताया गया है, जो इससे प्राचीन मुनि कणयामर विरचित 'करकडु महाराय चरिय' से बाधित है।

वह राज्याधिकारी होजावेगा तब उसके राज्यमें ही तुझे विद्या सिद्ध होगी।[1] सो हे स्वामिन् ! इस मातंगभेषमें मैं वही विद्याधर पुत्र बालदेव हूं। (मायंगडो रुवें खेयरइं) उस दिनसे मातगके वेषमें इस स्मशानकी देखरेख रखता हुआ यही रहता हूं।"

बालदेवकी यह आश्चर्यभरी वार्ता सुनकर रानी पद्मावतीको संतोष हुआ। उसने धीरज धरके अपने नवजात शिशुको उसे दे दिया। और उससे कहा—'तो इस बालकका लालनपालन तू हीं कर।' बालदेवने भी स्नेहपूर्वक वह बालक लेलिया और घर ले जाकर अपनी पत्नीको सौंप दिया! उसने भी बड़े प्रेमसे उसे अपने वक्षस्थलसे लगा लिया। बालकके हाथोंमें खुजली थी ; इस कारण उसका नाम उनने करकंडु रख दिया। (तहो पउरकंडु देरकेवि करी, करकंडुणामु किउ पयडुधरि)

१—तेरूसिवि पुणु मद्दोदिण्णु एवउ। णहुभगालदे सहि विज्जयाउ॥ ते सावे विज्जउ गउ खणेण। मइ चिंतिउर्वाहण्णिए णियमणेण॥ एहु मुणिवरु णउ सामणु होइ। त होइ खणद्वेज भणेइ॥ इम मणि विचलहिं लग्गु तासु। किं मुनिवर महो किउविज्जणासु॥ किंकरु तुम्हें हे देव देव। जम्मेविण छडउ तुझ सेव॥ कोहाणतु सामहि सामिसाल। माप-सरउ तणु वणे सयण काल॥ तो वयणे उवसमु गउ मुणिंदु। मताण पहावेण फणिंदु॥ (इससे तो स्वय मुनिवरका कुपित होना प्रगट है?)

धत्ता—सो मुणिवरु जाणिवि तुट्ठ मणु, कमकमल एवि पिणु पभणि चउ। हे मुणिवरु करुणइ कहहिं महो, कह होसइ विज्जउरमणियउ॥४॥ तं सुणिवि मुणीसरु परमणाणि, महो सम्मुहु बोलइ दिव्य वाणि। हे खेयर चपाणराहि वासु, सिरी धाडी वाहन बंधुरासु॥ पोमावइ तहीं भामणि गएण, णेवेनी दुट्ठे करि चितेण। पावे वीसा पुणु मालिएण, दतीपुरे णेवी तुरिय एण॥ तहो घरिणिए कलहु करेति सावि, णीसारिय अविसइ इहावि। तहोणंदणु होसइं पवरखेउं, पालेसहि सो तुहुं गुणणिकेउं॥

दुःखिनी रानी इसतरह अपने पुत्रको स्वरक्षित स्थानमें छोड़कर पासके एक श्रमणोंके नगरमें चली गई और वहां एक आर्यिकाके आश्रयमें रहने लगी।[1] एक दिन उसके साथ जाकर उसने समाधिगुप्त मुनिराजके निकट (णामेण समाहिगुत्तपरु) दीक्षाकी याचना की। किन्तु मुनिराजने उसे उससमय दीक्षित नहीं किया और कहा कि 'पूर्वभवमें तूने तीनवार अपने व्रत भंग किये हैं, उनके फलरूप तीन दुःख तुझपर आनेवाले हैं। सो उनका उपशम होचुकने पर तथा पुत्र राज्यका सुख देखकर उसीके साथ तू भी तप धारण करेगी।' यह सुनके पद्मावती उसी साध्वीके साथ रहने लगी। इधर करकंडु बालदेवके यहां दिनोंदिन बढ़ने लगा। उचित कालमें बालदेव विद्याधरने उसे धीरे २ संपूर्ण कलाओंमें चतुर बना दिया! इसप्रकार करकंडु आदि उस भीम स्मशानमें सुखसे समय व्यतीत करने लगे।

एक दिन श्री जयभद्र और वीरभद्र नामके दो मुनिराज उस स्मशानमें आकर विराजमान होगये। (ते भीम मसाणयं आय जान) उससमय एक मुंढके नेत्रोंमेंसे तीन बांस उगते हुये दिखलाई दिये। इसपर किसी साधुने उन आचार्य महाराजसे जिज्ञासाकी कि 'भगवान्' यह क्या कौतुक है? आचार्यने कहा—'इसमें आश्चर्य कुछ नहीं है, इस नगरका जो कोई राजा होगा, इन तीन बांसोंसे उसके अंकुश, छत्र और ध्वजाके दंड बनाये जायगे। उससमय यह बात

---

[1]—तादुखीय मणि पोमावइ, समणियर हो णयर हो, खणि गयाइ, समणिरया अज्जियक तिया हैं, अछंतियज मलइतावतहिं।—पुण्याश्रवमें गाधारी ब्रह्मचारिणीके आश्रममें रहने बताया है। पृ० २१.

ब्राह्मणने सुन ली, सो वह उन वांसोंको उसी समय काट लेगया और पीछे किसीप्रकार करकंडुने उससे उन्हें लेलिया।"[1]

उन बांसोंको करकंडुने क्या लिया, सचमुच वहांका राज्य ही उनके हाथोंमें आगया![2] कुछ दिनोंमें वहांका राजा कालके गालमें जा फंसा! वह पुत्रहीन था—उसका कोई उत्तराधिकारी नहीं था। नगरभर हाहाकार करने लगा था। (सुनामुहाहारउट्ठिउ पुरवरम्मि, अइदुखु पविहिंउजणवयम्मि) इससमय एक राजाकी खोजमें पाटवन्ध हाथी छोड़ा गया था। वह हाथी करकंडुको ही अपनी पीठपर बैठाकर नगरमें ले आया था। (णिझर झरंतमय गिल्लगंडे करकंडु चड़िउ ताकरि पयंडे। कविलीला मणहरं पह वहेइं—णं सुखइ अह-रावइं सहेइं) नगरवासियोंने इसपर करकंडुको अपने नगरका राजा बना लिया और खूब आन्नद मनाया था।

करकंडुराजा होगये—उनको वैभवकी प्राप्ति हुई! उन्हींकि साथ बालदेवकी भी विद्या सिद्ध होगई। महापुरुषोंका सत्संग सदा सुखदाई होता है। वह विद्याधर प्रसन्नतापूर्वक करकंडुको नमस्कार करके अपने निवासस्थान विजयार्द्धको चला गया। इधर करकंडु आनन्दसे राज्य करने लगे।

१—पुण्याश्रव कथाकोष पृ० २१-२२। २—मुनि कणयामर विरचित करकंडु चरित'में यहापर कन्नौजके एक राक्षसका आख्यान् और दिया है, जिसने करकडुको सेवा स्वीकार की थी। तथापि वनारमके एक वणिकका भी उल्लेख है; यथा:—"वाणारसिणयर हो मित्तवेवि, देसंत्तरुगय आणाणतेवि। धणु अज्जिवि आवहि चल्लिविजाम, वा अतरि रक्खसु रिट्टुताम। सो परिकवित्ते भयभीवणट्ठ, पाविट्ठ जेमतव चरण भट्ठ। गउ मुणहिं किं हिमवए अवाण, ते पाविएतेण पलायमाण। वणारसि णयरि मणाहिरामु, अरिविंदु णराहिउं अत्थि णामु"

एक रोज़ किसी वणिकने आकर इनसे कहा कि 'महाराज, सोरठदेशमें गिरिनगरके राजा अरिसिरके बड़ी ही रूपवती मदनावती नामकी कन्या है ।[1] वह सर्वथा आपके योग्य है ।' करकडु इस समाचारको सुनकर गिरिनगर पहुंचे ! सौभाग्यसे स्वय मदनावतीने इनको देख लिया और वह इनको देखते ही कामबाणसे व्यथित होगई ।[2] यह जानकर उसके पिताने करकंडुको बड़े आदरसे अपने यहां ठहराया और शुभलग्नमें मदनावतीका विवाह करकंडुसे करा दिया । (सुविसुद्ध दिणहि रजिए मणाहं, सामंतहिं कियउ विवाहु तांहा) जिस समय विवाहका मंगलीक उत्सव होरहा था, ठीक उसी समय रानी पद्मावती भी वहां पहुच गईं। उनने हर्षित होकर करकंडुको आशीष दी ।[3] विवाह उपरान्त राजदम्पति दंतिपुर लौट आये ।

दंतिपुरमें भी खूब उत्सव मनाया गया । याचक जनोंको दान दिया गया और श्री जिनमदिरमें पूजनभजन किये गये ! फिर राजा करकडु आनन्दपूर्वक मदनावतीके साथ कालयापन करने लगे किन्तु इसके कुछ दिनों बाद ही चंपासे राजा दंतिवाहनका दूत बूरे समाचार लेकर आया ।[4] उसने कहा कि यातो करकंडु महाराज राजा

१–"एत्थथिदेव सोरट्ठ देसु, सुरलोउ विडविउ जें असेसु । तहिं णायरु गिरिणयरु णामु सुरखेयर णर णयणाहिरामु । तहिं राउ अत्थि अरिसिर कयतु, अजव मुणउ अजियगि कतु ।" २–'करकडु गेय आयणणेण, मयणावलि पीडिय कामएण । आयण विवालेहि तणिपवत्त, राएणलिहाविय हरिणिणेत्त ।" ३–"तहिं अवसरि पोमावइ विमाय, णियणदणु देखहु तुरिय आय । सादिट्ठी करकडेणिवेण, पुणु पणमिय भावेण वण्णवेण । णियपुतविवाहें हरिसियाइ, आसीसयदणीतुरिउ ताई । चिरु जीवहि णदणु पुहइणाह, कालिन्दी सुरसरिजा ववाह ।" (आसीसटेविसागय तुरति) । ४–'चपाहिवदुवउ आणि एत्थु ।'

दंतिवाहनकी आज्ञा स्वीकार करें, वरन रणक्षेत्रमें आजावें। करकंडु क्षत्रियपुत्र थे। उनने रणक्षेत्रमें आना ही स्वीकार किया, दूत लौट गया। चंपानरेश उसके मुखसे करकंडुका उत्तर सुनकर आगबबूला होगए। उन्होने रणभेरी बजवा दी और कूचका बिगुल फूंक दिया गया। नियत समयमें चंपानरेश दलबल सहित दंतिपुरके निकट आपहुचे।[1] करकंडु भी सेना सहित मुकाविला करनेको तैयार थे। दोनों दलोंकी मुठभेड़ होनेवाली थी। रणक्षेत्रमें योद्धा हूंकारने ही लगे थे कि इतनेमें रानी पद्मावती वहां आपहुंची। उन्होने पिता-पुत्रका आपसमें परिचय करा दिया और इसतरह खूनकी नदियां बहते बहते बच गईं, रणचंडिकाका खप्पर न भरने पाया, किन्तु आनन्ददेवीकी बहुभांति अर्चना होने लगी।

राजा दन्तिवाहन अपनी प्रिया और पुत्रको पाकर बडे प्रसन्न हुये और बड़े आदरसे उनको चंपानगर लिवाले गये। वहां पहुंचकर कालान्तरमें राजा दन्तिवाहनने राजपाटका भार करकंडुके हाथमें छोड़ दिया और आप दिगंबर मुनि होगये, दुद्धर तपश्चरण तपकर अन्तमें शिवरमणीके गलहार बनगये। इधर करकंडु नीतिपूर्वक राज्य करने लगे।

१-"णइयेखिवि णिउ करकडु णामु। गजजणण णयरु गुणगणिय धामु॥ घत्ता-जे सगरि सुइवर खेयरह, मउजणियउ घणुहरम असरहिं, ते वेढ़िउ पट्टण चउदिसहिं, गय तुरयण णरिंदहि दुद्धरहिं ॥१२॥" पुण्याश्रवमें करकंडुका चपाकी ओर वढना लिखा है। २-'ता दुद्धररायह जो धरहु, करकंडहो वद्धउ राय पट्टु। पुणु अप्पणु राय तरकणेण, तणुमडिड तवसिरिभूसणेण। कम्मह गढि णिउवण सारु, तउच्चरि विसुदुद्धरु काममारु। तणु छडेविख-डिविहिमयगठि, सो लग्गउ सिववहुतणए कठु। घत्ता-गउ धाड़ीवाहण, सियणिलउ, कणयामर वण्णउ गुणह वरु। करकडु करतउ रज्जु पुरि, सो अच्छइ मणिणिहियहकरु ॥ २२ ॥"

एक समय मन्त्रियोंने करकंडुसे कहा कि—'हे देव, द्राविड़, चेरम्, चोल, पांड्य आदि देशके राजा आपका शासन नहीं स्वीकार करते हैं· यद्यपि अन्यथा आपका शासन निष्कण्टक दिगन्तव्यापी होरहा है। इसलिये हे प्रभू, उनको जीतना चाहिये।'[1] करकंडुके मनमें भी यह सलाह चढ़ गई और उसने सेना सुसज्जित कराकर दक्षिण भारतकी ओर पयान कर दिया! कुछ दिनोंमें यह लोग तेरपुर नामक नगरमें पहुंच गये। करकंडु वहीं डेरा डालकर ठहर गया। दूसरे रोज इन्होंने एक प्रतीहारसे पूछा कि वहां कोई रमणीक देखनेयोग्य स्थान भी है। उसने बड़े हर्षसे वहीं पासमें पश्चिमकी ओर एक दर्शनीय पर्वत वतला दिया।[2] करकंडु फौरन ही उसके दर्शन करनेको गये। पर्वतके ऊपर उन्होंने एक मनोहर वापी देखी और गुफाके भीतर श्री वीतराग जिनेन्द्रभगवानकी मनोज्ञ प्रतिमाके दर्शन किये।[3] उन्होंने दर्शनवंदना करके अपना जन्म सफल माना! उपरांत वह दूसरे पर्वतपर भी शीघ्र चढ़ गये! वहां उन्होने देखा कि एक कुण्डमें जल भरा हुआ है और कमल खिल रहे हैं। एक हाथी उनमेंसे एक कमलको तोडकर वापीके द्वारपर चढ़ा रहा है। इस कृत्यको देखकर करकंडुको यह विश्वास

१—"सो मह्वरुप भणइ देव देव, तुज्जमहियलु सयलुविकरइ सेव। पारीदविड्‌देसोणिव अत्थिधिट्‌ठ, तेणमहिंणकासु विद्दिणइदुट्‌ठ। सिरि चोडिपडिणमेण चेर, णउ करहिं तुहारी देव केर।" २—ए अग्घिदेव पच्छिमदिसाहि, अइणिय दुउ पव्वउ रम्मुताहि। ३—पुणु दिट्‌ठउ तें जिण वीयराउ, सथुणणहिं लग्गउ साणु राउ। पुण्याश्रवमें पहले लड़ाई हुई वतलाई है। पृ० २३. ४—जिणेसहवादावि पच्छिव वेविगिरिंदहो उप्परि सिग्घ चडेवि। णिहाल्यतेहिं दिस्सह मुहाइं, मणम्मि पिवाहइं जाइ सुहाइ। इत्यादि.

होगया कि इस वापीमें अवश्य ही कोई पूज्यनीय देव है ! इसलिये उसने उस वापीको खुदवाया, जिसमेंसे एक मंजूषा (सन्दूक) में रक्खी हुई पार्श्वनाथ भगवानकी रत्नमई प्रतिमा निकली। उस मनोहारी प्रतिमाके दर्शन करके करकंडुने बड़ा हर्ष माना और उसका अर्गलदेव नाम रखकर उस गुफामें स्थापना करदी। यह भव्यस्थान उन्होने 'कलि' नामसे संज्ञित किया। (गोवद्धणु हरिणा कलिउणांइ) इसी अनुरूप वह आज भी कलिकुण्ड नामसे परिचित है।

प्रतिमाजीकी स्थापना कर चुकनेपर उनके सामने एक ऊंची वेढंगी जगह मालूम पड़ी (हरिवीढहोप्परि दिट्ठ गट्ठि) करकंडुने इसे साफ करनेकी आज्ञा देदी। कारीगरने जल निकलनेकी संभावनासे उसे फोड़ना उचित नहीं बताया, परन्तु करकंडुने उसको साफ करा देना ही मुनासिब समझा। कारीगरने वह जगह फोड़ना शुरू करदी और फोड़ते ही उसमेंसे अथाह जलप्रवाह बह निकला, जिससे सारी गुफा पानीसे भर गई। (तं भरिय उलुयणु जलेण सव्वु) लोगोंका वहांसे निकलना मुश्किल होगया। इसकारण राजाने वहांपर एक कुश आसनपर संन्यास ग्रहण कर लिया और आत्मचिंतनमें ध्यान लगाया। 'इतनेमें एक नागकुमारने प्रगट होकर कहा कि-"हे राजन् ! कालके माहात्म्यसे आजकल इस रत्नमई प्रतिमाकी रक्षा नहीं होसक्ती थी, इसकारण मैंने यह गुफा जलपूर्ण की है। इसलिये तुझे जलके रोकनेके लिये आग्रह नहीं करना चाहिये।" और बड़े आग्रहसे राजाको उठाया।' राजाने उस गुफा और प्रतिमाके बनानेवालेका हाल नागकुमारसे जानना चाहा। इसपर

१-जिणुबिंबवि णिग्गउ तित्यु ताव। २-पुण्याश्रव कथाकोष पृ० २४.

वह कहने लगा कि ' पहले विजयार्द्धकी दक्षिण श्रेणीके रथनूपुर नगरमें नील और महानील नामके विद्याधरराजा थे। वे राजभ्रष्ट होकर यहां तेरपुरमें आकर राज्य करने लगे थे।[1] उन्होंने ही पार्श्वनाथजीको उत्सर्गीकृत यह गुफा और उनकी प्रतिमा बनवाई थीं।[2] यह दोनों राजा उपरान्त तपस्या करके स्वर्गगामी हुये थे। इनके बाद नभस्तिलकपुरके राजा अमितवेग और सुवेगने आर्यखडके जिनालयोंकी वंदना करते हुये मलयगिरिपर रावणके बनवाये हुये जिनमंदिरोंके दर्शन किये थे।[3] वहीं भ्रमण करते हुये इन्हें भगवान् पार्श्वनाथजीकी रत्नमई प्रतिमा मिली थी। वे उसको एक मंजूषामें रखकर लेचले थे कि एक जगह मार्गमें उसे रक्खा और फिर वह उसको वहांसे नहीं उठा सके थे। अतएव उन्होंने तेरपुर जाकर एक अवधिज्ञानी मुनिसे इसका कारण पूंछा; जिससे मालूम हुआ कि सुवेग आयु पूरीकर जन्मान्तरमें वहीं हाथी

१-तहिं अत्थि णयर खेयरव मालु-णामे रहणेउरु चक्कवालु। तहिं खेयर भायर अत्थिनेवि-णामेण णीलमहणीलतेवि। धवितेराणयरु आय तहिं, थाइवकीपउ रज्जु भव्वु। २-कह पासजिणिंदहोदुरियणासि, सुएयक्खविट्ठ-दिणमुणिवर हो पासि। मणिरयणहिं मणि णिम्माविप्पहिं, किउट्ठाउतेहिंजिण पडिमप्पह। ३-वेवदहेउत्तरदिसहिं णयर अत्थहि वे विभाय अण्णोणणिटिउ सवद्ध सम ससिक्कत्त दिवायर पउर धाम। ते अमीयवेयसुव्वेपणाम। मुनिसुद्ध सील सगो अहग, पम्मतुरयणपरिभूतियग। ते पव्विडिवहिवदणकरति, सचल्लिय एकहिं दिणेमहत। दक्खिणदिसिलंकहिं जतएहिं, मलयम्मिविसइ तादिट्ठ तेहिं। सिरिपूदीणामेगिरिवरिट्ठु, जहिंकीलणुच्छु आवइ सुरिंदु। तहोउवरि खणेद्धऊविढ़ीय, णसग्गहो मुरवइ परिवढ़िय। वत्ता-ते पेक्खि-विजुहपक्खयवलु, चउवीस जिनालय गयगयणु, त पेक्खिवि हग्सिहिं तहिं जिपय, विणिवारियदूरहो जेहिं मयणु ॥ ४ ॥

होगा और जब राजा करकंडु वहां आकर मंजूषाको खोलेंगे तब वह हाथी सन्यासमरण करके स्वर्गको जावेगा। यह सुनकर वह दोनों राजा उन मुनिराजके निकट दीक्षा ले गये और आयुके अन्तमें अमितवेग तो ब्राह्मोत्तर स्वर्गको गया और सुवेग आर्तध्यानके कारण मरके हाथी हुआ! अमितवेगके जीव देवके समझानेसे सुवेगके जीव हाथीने सम्यक्त्वयुक्त होकर व्रतोंको ग्रहण किया था। सो वह निरंतर वहां पूजा किया करता था। सो हे राजन्! देवके कहे अनुसार जब तुमने बांबी खुदवाई, तब हीसे यह हाथी समाधिस्थित हो रहा है, यही इस गुफाके सम्बन्धकी कथा है।'

इस प्रकार कथा कहकर नागकुमार तो नागवापिकाको चला गया और राजाने उस हाथीको धर्मश्रवण कराके समाधिमरण कराया, जिससे वह महस्रार स्वर्गमें जाकर देव हुआ। पीछे करकंडुने वहां पर गुफायें एवं जिनमंदिर बनवा दिये थे। (लयणोवए करकंडुयणु, काराविउ जिणवर वर भवणु)।

करकंडु तेरपुरमें जिनमदिर आदि बनवाकर अगाड़ी बढ़ गये और फिर वह सिंहलद्वीप जापहुंचे।[1] शायद उस समय अपने शत्रुओपर आक्रमण करना उनने मुनासिब न समझा होगा। इसी लिये वहांसे वह सिंहलद्वीपको चले गये थे। वहांके राजाने एक चारण मुनिके मुखसे इनकी बावत पहले ही सुन लिया था। सो उसके सिपाहियोंने इनके आगमनकी सूचना उसे दी थी। (जो भासिउ चारण मुणिवरेण–वरु आयउ णरवइसोभरेण) राजा इनको

१–ता एक्वहिं दिणि करकंडु एण–पुणुदिणु पयाणउ तुरियएण। गउ सिंहलदीवही णिवसमाणु–करकडु णणहिउ णरपहाणु।

बडे आदरसे अपने यहां लिवाले गया था और शुभलग्नमें अपनी पुत्रीका विवाह उनसे करदिया था। (वेवाहु कियउलहुताहूकेवि) करकंडु यहां नववधूके साथ कुछ दिन रहकर अन्यत्र चले गये थे। और विद्याधर कन्या आदिके साथ विवाह करके घूमते फिरते द्राविड़देशमें चोल, चेरम, पाण्ड्य आदिके राजाओंके सन्मुख जा डटे थे।[१] यहां घोर युद्ध हुआ था और आखिर इन राजाओंको करकंडुसे परास्त होना पड़ा था। जिस समय करकंडु इनके मुकुटोंको पैरोंसे कुचलता अगाड़ी बढ़ रहा था, तो उसने उनमें जिनप्रतिमाओंको बना देखा। उनको देखते ही वही स्थंभित होगया[२]। उसने समझा यह बड़ा अनर्थ हो गया! अपने साधर्मी भाइयोंको मैंने वृथा ही कष्ट दिया। वह बहुत ही दुःख करने लगा और उसने उनसे क्षमायाचना करके मैत्री करली! वात्सल्यप्रेमका यह अनूठा चित्र है! श्रावकोंमें गऊवत्सवत् प्रेम होना चाहिये, इसका यह एक नमूना है! आजके श्रावकोंको मानों वात्सल्यभाव धारण करनेका प्रगट उपदेश देरहा है—कह रहा है कि जैनी जैनीमें परस्पर भेद नहीं होना चाहिये। उनको परस्पर मिलकर रहना चाहिये! करकंडु महाराजका यह आदर्श कार्य सर्वथा अनुकरणीय है!

करकंडु महाराजने उन राजाओंसे विदा होकर तेरापट्टनको प्रयाण किया। वहांपर उनकी मदनावली रानी उनसे आकर मिल

१—तहिं अत्थि विकितिय दिग्गसराउ—सम्मल्लिउ ता करकडु राउ। ता दिविड़देसमहि अलु भमतु—सपत्तउ तहिं मछरुव हवु। तहिं चौड़े चोर पंडिय णिवाह, केणाविखणद्वे ते मिलीयाहि। २—करकडए धरियाते विरणे, सिरमउड मल्यि चरणेहिं तहो मउड़ महिं देखिवि जिणपड़िम, करकडवोजायउ वहुलु दुहु ॥ १८ ॥

गई ।[1] फिर वे और रानियोंको लेकर चंपापुर पहुंच गये और वहां आनन्दसे राज्य करने लगे !

एक रोज बनपालने आकर राजदरबारमें खबर की कि महाराज, बिना ऋतुके ही सारी फुलवारी फल फूल गई है । उद्यानमें ज्ञानवान श्री शीलगुप्त नामक मुनिराजका आगमन हुआ है ।[2] बनपालके मुखसे यह शुभ समाचार सुनकर करकडुने बड़े हर्षभा-भावसे मुनिराजको परोक्ष नमस्कार किया और फिर वह सपरिवार मुनिवन्दनाके लिये गये ! मार्गमें जाते हुये उनने एक दुःखिया स्त्रीको विलख विलखकर रोते देखा । (एहणारि बरहि कि रुवएं, विलवंती हियवइ दुहु करहं) सो उसने इसका कारण पुछा ! लोगोंने कहा कि महाराज, इसके पुत्रका जन्म हुआ था । उसे अकालमें ही मृत्युके मुखमें जाना पड़ा है । इसीलिये यह स्त्री रो रही है । यथा—

उप्पण्णउ णंदणु विहिवसेण, सो णीयउ आयहि वइवसेण ।
तें रुवइ सदुरकउ महिलएह, अप्पणिउ घल्लइवद्धदयेह ॥

यह सुनते ही करकंडुके नेत्रोंके अगाड़ी संसारका वास्तविक रूप खिच गया ! वह इसके क्षणिक रूपको देखकर भयभीत हो गए ! उनके हृदयमें वैराग्य उदय होगया । आपा–परका भेद

१–'करकण्डु तहतउणीसरिउ, गउ सम्मु हु तेरापट्टण हो । 'जहिं सुन्दरि मयणावलि हरिय, सम्पत्तउ तपए सुववण हो ॥१९॥' 'गउ चम्पइ साहिविगहि णिवइ, सो रज्जु करन्तउ वहुय दिणइ ॥' २–'चम्पाहि ज्वुद्दयण वेठियउ मुहलीलइ अछइ जावतहिं, ता आयउ ऊज्जाणाहिवइं अत्थाणिविहउराउ जहिं ।" "धम्मालउसजम णिलउमाइ–किं जिणवरुमाणि वेसेंणराइ । तहिं आयउ मुणिवर णाणजुत, णामेणपसिद्धउ सीगुत्तु ॥" 'करकंडु सुणेविणुत्त वयणु सत्थाणज्जो अहिउतारियणेणं ।'

दृष्टि पड़ गया ! (तं सुणिवि वयणु रायाहि राउ-संसार होउवरि विरत्त भाउ) वह राजाधिराज इन्हीं शुभ भावोंको लिये हुये नंदन-वनमें पहुंच गये। (संपत्त उणंदणु तण भमहु) वहां उन्होंने भक्ति-भावसे उन मुनींद्रकी वंदनाकी और संस्तुतिकी थी। जैनाचार्य यही कहते हैं:—

'भामरेतिउ देविणु थुइ करेवि । पुणु चरण दामलजु-वलउसरेवि ॥ जय तिमिर विणासण खरदिणिद । पय पाडिय पइं सुरणर फणिंद ॥ जय माण महागिरि वज्ज दण्ड । जय णिरुममोक्खहो भरिय कुण्ड ॥ जय मोह विडवि छिंदणकुठार । जय चउगइ सायर तरण पार ॥ तुहुं दूरि णमंतहं हरीहपाऊं । जहं दिणयरु तम फेडण सहाऊं ॥ यह सुमरइ अणुदिणु जो मणेण । सो सिवपुरि पावइ तरकणेण ॥ कमकमलइ वंदिवि मुणिवएसु । ऊवविट्ठउ अग्गे एतवधरासु ॥ सो भणइ भडारा हरिय छम्मु । महो कोविपयासहि परम धम्मु ॥'

करकंडु मुनिराजकी विनय करके उनके सामने बैठ गया और तब उन कृपालु भट्टारकने परम सुखकारी धर्मका उपदेश दिया, जिसको सुनकर सबके हृदय प्रसन्न होगये। उपरांत सबने अपने२ पूर्वभव उन महाराजके मुखारविन्दसे सुने। उससे उनने जाना कि कुंतलदेशके तेरपुर नगरमें पहले एक ग्वाला था। उसने बड़े प्रेम और भक्तिभावसे एक हजार पांखुरीवाले कमलसे श्री जिनेन्द्रदेवकी पूजा की थी और आयुके अन्तमें शुभभावोंसे मरकर वही ग्वालाका जीव राजाधिराज करकंडु हुए ! अगाड़ी उनने जाना कि श्रावस्ती नगरीमें (भरहि अत्थि सावत्थिपुर) सागरदत्त सेठ और नागदत्ता

नामकी उसकी स्त्री थी। अपनी स्त्रीको सोमशर्मा नामक एक विप्रमें अनुरक्त जानकर उसने दीक्षा ले ली और आयु पूर्ण करके वह स्वर्गधाम पहुचा। वहींसे चयकर वह चंपापुरका राजा दत्तिवाहन हुआ! इधर वह सोमशर्मा ब्राह्मण मरकर कलिग देशमें नर्मदातिलक हाथी हुआ। (उप्पण्णउ कुभिकलिंग देस) यही हाथी रानी पद्मावतीको लेभागा था। प्राणियोंका मोह और वैर जन्मजन्मान्तरमें भी नही जाता है। इसलिये वृथा ही राग, द्वेषके वशीभूत होकर किसीका अहित करना बुरा है। खैर! अगाड़ी शेष जो व्यभिचारिणी नागदत्ता रही थी वह भी मरगई और बहुत कालतक भ्रमण करके ताम्रलिप्ति नगरीमें वसुदत्त वणिककी स्त्री हुई। (एत्थत्थि भरहि पुरि तामलित्ति, जोवंतणु सुखइ लहइतित्ति। वसुमित्तु तहिं वणि अत्थि...) इसके दो पुत्रियां धनवती और धनश्री नामकी हुई थीं। धनवतीका विवाह णालंदा नगरके सेठ धनदत्त और सेठानी धनमित्राके पुत्र धनपालके साथ हुआ था। (णालंदणयरि घणुदत्तुवणि–घणमित्तागेहिणि तहो सुयउ .) दूसरी धनश्रीको कौशाम्बीके वैश्य वसुपाल और वसुमतीके पुत्र वसुमित्रने व्याही थी। (कउसंविणयरि वसुपाल सेट्ठि–इत्यादि) वसुमित्र जैन धर्मावलम्बी था। इससे धनश्री भी उनके संसर्गसे जैनी होगई। एक दफे उसकी माता नागदत्ता भी वहां आई! धनश्रीने श्री मुनिवरके पास लिवाजाकर अपनी माताको अणुव्रत लिया दिये, किन्तु अपनी दूसरी पुत्रीके समागममें पहुंचकर उसने उन व्रतोंको छोड़ दिया। उसने तीनवार यह व्रत लिये और तीनों ही वार छोड़ दिये (जहतेहंवउ भग्गउ एक्कवार, तहतिणिवार भंग्गउ मुत्तार)

उपरान्त चौथी वार वह व्रतोंमें अटल होगई ! निदान जैनधर्मको पालते हुये उसकी मृत्यु हुई और वह कौशाम्बीके राजा वसुपाल और रानी वसुमतीके वुरे मुहूर्तमें पुत्री हुई: जिससे इसको मंजूषामें रखकर गंगामें वहा दिया गया था। फिर कुसुमदत्तमालीके यहां लालनपालन पाकर यह राजा दंतिवाहनकी प्रिया हुई थी।

श्री मुनिराजके मुखसे सबने अपने पूर्वभव वर्णन सुनकर वैराग्यको प्राप्त किया ! उन सबको काललब्धिकी प्राप्ति होगई—वे मोक्षके मार्गमें लग गये ! राजाधिराज करकंडु अपने पुत्र वसुपालको चम्पाका राजा बनाकर मुनि हो गये। उनके साथ चेरमादि क्षत्रियोंने भी दीक्षा ली थी। साथ ही पद्मावती माता एवं उनकी स्त्रियां आर्यिका होगई ! करकंडु महाराज सांसारिक वैभवको तिनकेके समान त्याग करके मुनि हो गये। श्री गुरुके चरणोंकी उन्होंने वंदना की और वह विरक्त हो गये। (जिणचरण लग्गु दूखाउ भीउ संसारहो उवरि विरत्ति थीउ) यह उन्हीं जैसे महापुरुषके योग्य कार्य था।

करकंडु महाराजने मुनिअवस्थामें घोर तपश्चरण किया और आयुके अन्तमें उन्होंने सर्वार्थसिद्ध विमानमें जा जन्म लिया ! (सव्वत्थसिद्धि संपतु खणे, कणयामर मुणिवर पयहलउं।) एक ग्वालाका जीव श्री जिनेन्द्र भगवान्‌के चरणोंका सेवक वनकर मनुष्यलोकमें मनुष्यों द्वारा पूज्य राजाधिराज हुआ और फिर देव आयुको प्राप्त हुआ ! यह जैनधर्मकी शिक्षाका मर्म समझानेवाला प्रकट उदाहरण है। करकंडु महाराजने श्री पार्श्वनाथ भगवान्‌के तीर्थमें जन्म लेकर उन्हीं भगवान्‌के मूलनायकत्वके मंदिर धाराशिव (तेरपुर) में बनवाये थे ! जहां आज भी हजारों जैनी जाकर आपके पुण्यमई

कार्यके निमित्तसे धर्मोपार्जन करते हैं ! इस तरह भगवान् पार्श्वनाथजीके तीर्थमें हुये प्रख्यात नृपका यह चरित्र है ।+

श्वेताम्बर ग्रन्थोंमें इनकी गणना चार प्रत्येक बुद्धोंमें की है; जो बौद्धसाहित्यमें भी बहुप्रसिद्ध हैं ।[1] वहां इनको कर्मनाश करके केवलज्ञान प्राप्त करके मोक्ष लाभ करते लिखा है ।[2] डॉ० जार्ले चारपेन्टियरने इनके चरित्रपर कुछ प्रकाश डाला है ।[3]

---

(२१)

जिनेन्द्रभक्त सेठ !*

'नत्वा श्रीमज्जिनं भक्त्या स्वर्ग मोक्षसुखप्रदम् !
वक्ष्येजिनेन्द्रभक्तस्य सत्कथां सोपगूहने ॥'

ब्रह्मनेमिदत्त ।

सातमंजले महलकी अंतिम मंजिलपर सम्यग्दृष्टि शिरोमणि सेठ जिनेन्द्रभक्त द्वारा निर्मित सुन्दर जिनचैत्यालय था ! सूर्य नामक

+ मुनि कणयामर विरचित 'करकंडुचरित्र'के आधारपर ही यहां यह वर्णन दिया गया है परन्तु इस चरित्रके मूल परिचयके लिए मूल ग्रन्थ ही देखना चाहिए। मुनि कणयामर सभवतः १०वीं शताब्दिके कवि थे। देखो इलाहाबाद यूनीवर्सिटी जर्नल पृ० १७४ । १-जार्ले चारपेन्टियर, उत्तराध्ययनसूत्रकी भूमिका पृ० ४४ । २-उत्तराध्ययनसूत्रकी वृत्तिमें उल्लेख है.—'इह च यद्यपि नमिप्रवर्जैव प्रक्रान्ता तथापि यथायम् प्रत्येकबुद्धस् तथान्येऽपि करकंड्वाद्यस् त्रय एततसमकालसुरलोकच्यवन प्रवर्ज्या ग्रहणकेवलज्ञानोत्पत्तिसिद्धिगतिभोज इति प्रसगतो विनेयवैराग्योत्पादनार्थम् तद्वक्तव्यताप्य् अभिधीयते।' पूर्व० भाग २ पृ० ३१२ । 3-Pacceka-buddhageschichten. PP 41-56-86-164, * पूज्य ब्र० सीतलप्रसादजीने इन सेठको श्री पार्श्वनाथजीके तीर्थमें बतलाया है। (बंगाल जैनस्मारक पृ० १२१)

चोर क्षुल्लकवेषमें वहां पहुंच गया! भव्य चैत्यालयको देखकर उसका हृदय गद्गद हो गया! मनोहर वेदिकामें श्री पार्श्वनाथ भगवान्की अति मनोज्ञ और रत्नमई प्रतिमा विराजमान थी जिसपर रत्नजटित तीन छत्र अपूर्व ही शोभा देरहे थे। इन छत्रोंमेंसे एकमें वैडूर्यमणि नामक अत्यन्त कांतिमान वहुमूल्य रत्न लगा हुआ था! वेषधारी क्षुल्लकका हृदय उसको देखते ही बांसों उछलने लगा! उसको सोलह आने निश्चय होगया कि यह वहुमूल्य रत्न तो अव मिल ही गया! लोभके वशीभूत होकर उस क्षुल्लक वेषधारी चोरने कुछ भी कार्य अकार्य न पहिचाना! उसे केवल वैडूर्यमणिको पानेकी फिक्र थी।

यह सुर्यचोर चोरोंके एक नामी गिरोहका सदस्य था और उस गिरोहका नेता सौराष्ट्र देशके पाटलिनगरके राजा यशोध्वज और रानी सुसीमाका पुत्र सुवीर था! सुवीर महाव्यसनी और चोर था! उसने ताम्रलिप्त नगरके जिनेन्द्रभक्त सेठके चैत्यालयमेंके मूल्य-मई रत्नका हाल सुना था! इसी कारण उसने अपने साथियोंको उस रत्नको किसी तरह भी ले आनेके लिये कहा था। इसपर इस सुर्यचोरने उस रत्नको ले आनेका भार अपने ऊपर ले लिया था! सुर्य चोरको माल्रम था कि जिनेन्द्रभक्त सेठ अपने नामके अनुसार ही जिनभगवान्के परमभक्त हैं और वे धर्मात्मा पुरुषोंसे वड़ा प्रेम करते हैं। सेठजीकी इस धर्मवत्सलत्तासे अनुचित लाभ उठाना उस चोरने ठान लिया। अनेक जीर्ण मंदिरोंका उद्धार करानेवाले, आवश्यक्तानुसार अनेकों भव्य मंदिरों और प्रतिमाओंको वनवानेवाले एवं चारों संघोंको दान देने और सत्कार करनेवाले उन सेठको इस

तस्करने ठगनेका पूरा इरादा कर लिया ! वह झटसे क्षुल्लक बन गया और सेठजीके नगरमें जा पहुंचा। वह रत्नके लालचसे व्रत उपवास आदि भी करने लगा ! सेठजीने धर्मात्मा क्षुल्लकका आगमन ज्योंही सुना त्योंही वे उसकी वन्दनाको गये। क्षुल्लकका क्षीणशरीर देखकर सेठजीकी श्रद्धा उसपर होगई। उनने क्षुल्लकको प्रणाम किया और वह उसको अपने महल लिवालाये। सच है कि—

'अहो धूर्त्तस्य धूर्त्तत्वं लक्ष्यते केन भूतले।
यस्य प्रपञ्चतो गाढं विद्वान्सश्चापि वंचिताः॥

अर्थात्—"जिनकी धूर्त्ततासे अच्छे२ विद्वान् भी ठगा जाते है, तब वेचारे साधारण पुरुषोंकी क्या मजाल जो उनकी धूर्तताका पता पासकें।" ऐसे ही धूर्त साधुजनोंको बदनाम करते है !

क्षुल्लकजी महलमें पहुंचकर उस मणिको ले उडनेकी ताकमें थे। रात आते ही उनका दांव लग गया। वे मणिको लेकर महलके बाहिर हो चलते बने; पर अभाग्यसे मार्गमें कोतवालने उनको पकड़ लिया ! वह ज्यों त्योंकर आखिर जिनेन्द्रभक्त सेठकी शरण आये ! सेठ धर्मात्मा थे, वे अपराधी पर भी क्षमा करना जानते थे। उनने क्षुल्लकके दुष्कर्मकी ओर दृष्टिपात भी नहीं किया ! प्रत्युत कोतवालके सिपाहियोको ही डांट दिया कि वृथा ही तुम एक तपस्वीको चोर बतलाते हो। इस रत्नको तो यह मेरे कहनेसे लाये हैं। यह बड़े अच्छे साधु हैं। जिनेन्द्रभक्तके यह वचन सुनकर सिपाही लोग तो नमस्कार कर चलते बने, और सेठजी उन क्षुल्लक महाशयको एकान्त स्थानमें लेजाकर कहने लगे कि—'यह बड़े दुःखकी बात है कि तुम ऐसे पवित्र वेषको धारण करके उसे नीच कर्म

करके लजा रहे हो ! तुम्हें ऐसे नीच कार्य करना क्या उचित है? इन कार्योंसे वेषकी निन्दा और तुम्हारी आत्माका अहित होता है। तुम्हें ऐसे दुष्कार्योंकी बदौलत कुगतियोंका ही वास मिलेगा ! शास्त्रकारोंने तो स्पष्ट ही कह दिया है कि —

'ये कृत्वा पातकं पापाः पोषयन्ति स्वकं भुवि ।
त्यक्त्वा न्यायक्रमं तेषां महादुःखं भवार्णवे ॥'

अर्थात्–"जो पापी लोग न्यायमार्गको छोडकर और पापके द्वारा अपना निर्वाह करते हैं, वे संसार–समुद्रमे अनन्तकाल दुःख भोगते हैं।" याद रक्खो कि अनीतिको गृहण करने और अधिक तृष्णा रखनेसे जल्दी ही नाशके गर्तमें जाना पड़ता है। इस अमूल्य नर जन्मको पाकर बर्बाद न कर दो। कुछ आत्महित करलो।' इसप्रकार शिक्षा देकर जिनेन्द्रभक्त सेठने उस क्षुल्लकको अपने स्थानसे अलग कर दिया !

भगवान् पार्श्वनाथजीके तीर्थमें हुये यह जिनेन्द्रभक्त सेठका चरित्र है। धर्मात्मा पुरुषोंको कैसा आदर्श जीवन व्यतीत करना चाहिए, यह उनके व्यवहारसे स्पष्ट है। अपराधी पर भी रोष न करना–पापीसे घृणा न करना–यह उनके आदर्शसे प्रगट है। पापसे दूर रहनेका वह उपदेश दे रहे हैं। धर्मात्मा साधुजनके भेषका आश्रय लेकर जो पाखंड़ी पुरुष स्वयं धर्मको बदनाम करते हैं, उनके प्रति श्रावकोंका क्या कर्तव्य होना चाहिये, यह भी जिनेन्द्रभक्त सेठके उक्त उदाहरणसे स्पष्ट है। अंधश्रद्धाके वशवर्ती होकर पाखडी लोगोंको धर्मापवाद करने देना भला धर्म हो ही कैसे सक्ता है ?

---

(२२)

विद्युच्चर मुनि।

"सर्वसौख्यप्रदं नत्वा जिनेन्द्रं भुवनोत्तमम्।
वक्ष्ये विद्युच्चराख्यानं विख्यातं मुनिभाषितम्॥"

—ब्रह्मनेमिदत्त।

मिथिलानरेश वामरथ अपने एकांत भवनमें बैठे हुये थे। आनन्द वार्ता होरही थी। सामने ही सुन्दर वेषभूषाको धारण किये हुये एक पुरुष उपस्थित था। वह महाराजको मन मोहनेवाली बातें सुना रहा था। बातों ही बातों राजाका हार लेकर वह चम्पत होगया! सब लोग देखते ही रह गये! इस घटनासे मिथिलानरेशको बड़ा रोष आया! उन्होने अपने यमदण्ड नामक कोतवालको बुला भेजा और सात दिनके अन्दर चोरका पता लगा लानेकी आज्ञा चढ़ादी!

यमदण्ड परेशान था। वह अपने जानेमें चोरको खोज निकालनेके लिए जमीन आस्मान एक कर चुका था, पर तो भी पता लगानेमें सफल न हुआ था! छै रोज होचुके थे—दूसरे ही रोज राजदरबारमें चोरको हाजिर करना था! वह इसी फिराकमें नगरके बहार निकला! यू ही एक सूनसान मंदिरमें वह जा निकला। वहां उसने एक कोढ़ीको पड़ा पाया! कोतवालको उसपर कुछ शक हुआ और वह उसको पकड़ लाया! दूसरे रोज राजदरबारमें उसी कोढ़ीको उपस्थित करके कह दिया कि 'महाराज, आपका चोर यही है।' कोतवालने उसको चोर तो बता दिया; परन्तु उसके पास कोई प्रमाण नहीं था, जिससे वह उसे चोर सिद्ध कर सक्ता! दरबारियोंकी

सलाहसे यह विषय विचारकोटिमें पड़ गया। उस रोज़ कुछ निश्चय न हुआ। कोतवाल उसे अपने घर लेआया और उसकी खूब अच्छी तरह मरम्मत की। परन्तु उसने तब भी चोरी करना न कबूला। दूसरे रोज राजसभामें उसी कोढ़ीको कोतवाल फिर लेगये और राजासे बोले—"महाराज, यही पक्का चोर है।" किंतु कोढ़ीने फिर भी इन्कार किया!

आखिर राजाने उसको अभयदान देकर पूंछा कि तू सच्चा हाल बतादे—हम तेरा अपराध क्षमा कर देंगे। इसतरह राजासे जीवदान पाकर उस कोढ़ीने चोरी करना कबूल करली। वह बोला—'राजाधिराज' अपराध क्षमा हो। मैं ही वास्तवमें चोर हूं।' राजा यह सुनकर चकित होगया। उनने पूछा कि 'इतनी विकट मार सहते रहने पर भी तूने यह बात नहीं कबूली! तू बड़ा साहसी है, तूने कैसे यह वेदना सहली?' उसने कहा कि—'महाराज, मैंने एक मुनिराजके मुखसे नर्कोंके दुःखोंका वर्णन सुना था। सो मुझे निश्चय था कि इस वेदनासे कहीं अधिक वेदना तो मैं पहले अनेक वार नर्कोंमें भुगत चुका हूं। वहीं भयभीत न हुआ तो इस वेदनासे विचलित होना फिजूल है।' राजा यह उत्तर सुनकर बड़े हर्षित हुए। उनने उसे वर दान दिया; पर उस चोरने आप कुछ भी न मांगकर यमदण्ड कोतवालको ही सब कुछ देनेकी प्रार्थना की! यह देखकर राजा और भी अचंभेमें पड़ गया! उनने उससे पूछा कि यमदण्ड तो तेरा वैरी है—तू उसे मित्र मानकर प्रेमका व्यवहार कैसे कर रहा हैं? वह चोर बोला—'महाराज, यह मेरे मित्र ही हैं। इसका खुलासा यूं है सो सुनिये—दक्षिणके आभीर प्रान्तमें

वेना नदीके तटपर वेनातट नगरमें राजा जितशत्रु राज्य करते थे। उनकी रानी जयावतीसे विद्युच्चर नामका उनके पुत्र था। वहांके कोतवाल यमपाश थे। उनकी यमुना स्त्रीसे यमदण्ड नामका पुत्र हुआ था। आपके कोतवाल वही यमदण्ड हैं। विद्युच्चर और यह एक गुरुके पास पढ़ते थे। इनने कोतवालीका ज्ञान प्राप्त किया था और विद्युच्चरने चौर्य शास्त्रका मंथन किया था। एक रोज विद्युच्चर और इनमें शपथ होगई कि जब तुम कोतवाल होगे तब मैं चोरी करूंगा और फिर देखूगा तुम कितने होशियार हो! कालान्तरमें जितशत्रु और यमपाश जैन मुनि होगये। सो विद्युच्चर राजा हुये और यमदण्ड कोतवाल पदके अधिकारी हुये। परन्तु यह अपनी पूर्व शपथके भयसे यहां चले आये। राजन्, मैं ही विद्युच्चर हू। सो मैं इनकी होशियारीकी बानगी लेने यहां चला आया। दिनमें कोढ़ीके वेषमे रहता था और रातको अपनी शपथके अनुसार इनको छकाता था। इसलिये यह हमारे मित्र ही है।' उपरान्त विद्युच्चर यमदण्डको लेकर अपने शहरको वापस चला आया। किन्तु इस घटनासे उसे वैराग्य उत्पन्न होगया था। उसने शीघ्र ही अपने पुत्रको राज्यका भार सौंप दिया और जिन दीक्षा लेगया। इनके अतिरिक्त कई अन्य राजकुमार भी मुनि होगए थे। भव्यात्माओंके ऐसे ही आदर्शजीवन होते है। वह बड़ेसे बडा त्याग बातकी बातमे कर देते है।

विद्युच्चर मुनि होगये। खूब ही आत्मोन्नतिके मार्गमें बढ़ने लगे और सर्वत्र उनका विहार होने लगा। एक रोज वे घूमते हुए ताम्रलिप्त नगरीमें जापहुंचे। वहांकी चामुण्डदेवीने इनको वहां

घुसनेसे रोका; किन्तु शिष्योंके आग्रहसे यह नगरीमें चले गए और वहां पश्चिम परकोटेके पास पवित्र स्थानपर आसन मांड़कर बैठ गए। चामुण्डदेवीको यह बात बुरी लगी। उसने इनपर घोर उपसर्ग करना प्रारभ करदिया। अनेक प्रकारके उपद्रव होने लगे, पर तो भी यह मुनिराज अपने ध्यानसे विचलित न हुए। प्रत्युत इनका ध्यान बढता गया और अन्तमें इन्होंने कर्मोका नाशकर मोक्ष-धामको प्राप्त किया। विद्युच्चर मुनिराजके पादपद्मोसे तामृलिप्ति नगरी पवित्र होगई—वह निर्वाण स्थान बन गया। यह राजपुत्र विद्युच्चर मुनि भी भगवान पार्श्वनाथजीके तीर्थमें हुए माने जाते है। (देखो बगाल, विहार जैन स्मारक पृ० १२१)

(२३)

राजा वसुपाल और चित्रकार !

'पादपद्मद्वयं नत्वा जिनेन्द्रस्य शुभप्रदम्।
उपवानकथावक्ष्ये यतः सौख्यं भजाम्यहम् ॥'

— ब्रह्मनेमिदत्त।

श्री पार्श्वनाथ भगवानकी मनोज्ञ प्रतिमापर चतुर कारीगरने बड़ी सुन्दरतासे लेप चढ़ाया, परन्तु रातके बीचमें वह स्वयमेव ही उतर पड़ा। चित्रकार बड़ा विस्मित हुआ। उसने समझा कि कोई त्रुटि होगई होगी, इसी कारण यह लेप उतर पड़ा है। परंतु दूसरे दिन और तीसरे दिन भी यही घटना घटित हुई। चित्रकार बड़े असमंजसमें पड गया! कई दिन उसे ऐसे ही बीत गये। उसकी समझमें न आया कि ऐसा क्यों होता है?

श्री अहिच्छत्रपुरके राजा वसुपाल बड़े बुद्धिमान् थे। जैन धर्ममें उनको गाढ़ श्रद्धा थी। उनकी रानी वसुमती भी वडी बुद्धिमती और धर्मपर प्रेम करनेवाली थी। राजा वसुपालने अहिच्छत्रपुरमें 'सहस्रकूट' नामका भव्य जिनमंदिर वनवाया था और उसमें श्री पार्श्वनाथ भगवानकी मनोहर प्रतिमा विराजमान् की थी। इसी प्रतिमापर लेप चढानेको राजाने चित्रकार बुलाया था। यह चित्रकार मांसभक्षी था। इसकी अपवित्रताके कारण उसके द्वारा चढ़ाया हुआ लेप प्रतिमाजीपर नही ठहरता था। और राजा एवं सब अन्य लोग इस घटनासे दुःखी थे। उनकी समझमें इसका कारण नहीं आता था।

आखिर वह चित्रकार किसी मुनिमहाराजकी शरणमें पहुंचा और उनसे इस घटनाका कारण पूंछा। मुनिराजने वतला दिया कि— 'प्रतिमा अतिशयवाली है; कोई शासनदेवी या देव उसकी रक्षामें नियुक्त रहते है। इसलिए जबतक यह कार्य पूरा हो तबतक उसे मांसके न खानेका व्रत लेना चाहिए।' लेपकारने वैसा ही किया। मुनिराजके समीप उसने मांस न खानेकी प्रतिज्ञा ग्रहण करली। इसके वाद जव उसने दूसरे दिन लेप किया तो वह प्रतिमापरसे नहीं छूटा—वह उसपर ठहर गया। व्रतका माहात्म्य ही ऐसा है। व्रती पुरुषको हर कार्यमें सिद्धि होती है। इस हर्ष समाचारको सुनकर राजा वसुपाल भी बड़े प्रसन्न हुये और उनने चित्रकारको वस्त्राभूषण देकर उसका सत्कार किया। वे राजा रानी उस भव्य मूर्तिकी पूजा वंदना दीर्घकाल तक करते रहे और उन्हींके पुण्यकार्यसे आज भी अनेकों श्रावक उन प्रभूकी पूजा अर्चना करने

अहिच्छत्रको जाते हैं–वहांसे पुण्यकी पोट बांधलाते हैं। अस्तु;

इसप्रकार भगवान् पार्श्वनाथजीके तीर्थमें हुये एवं उनसे सम्बन्धित पुरुषोंके दिव्य जीवनाख्यानोंका परिचय हम पालेते हैं। सचमुच उनके निर्वाणलाभ कर चुकनेके उपरान्त तक हुये प्रधान पुरुषोंके दर्शन हम करलेते हैं। अब अगाडी केवल इन प्रभूका निर्वाण कल्याणक और उनका भगवान महावीरजीसे सम्बंध देखना ही शेष है।

(२४)

भगवानका निर्वाणलाभ !

"कुर्वाणः पंचभिमासैर्विरहीकृतसप्तति ।
संवत्सराणां मासं स संहृत्य विहतिक्रियां ॥ १५५ ॥
षट्त्रिंशन्मुनिभिः सार्द्ध प्रतिमायोगभास्थितः ।
श्रावणे मासि सप्तम्यां सितपक्षे दिनादि मे ॥ १५६ ॥
भागे विशाख नक्षत्रे ध्यानद्वयसमाश्रयात् ।
गुणस्थानद्वये स्थित्वा सम्मेदाचल मस्तके ॥ १५७ ॥
तत्कालोचितकार्याणि वतयित्वायथाक्रमं ।
निःशेषकर्मानिर्नाशान्निर्वाणं निश्चलं स्थितः ॥ १५८ ॥

—श्री गुणभद्राचार्य ।

मन्द मन्द पवन चल रही थी, नीलाकाश सुहावने वादलोंसे मण्डित होरहा था। अरुण सूर्योदय अपनी मन्दमुस्कान छोडते हुये एक झाकी भर लगा रहे थे, मानो भगवान पार्श्वनाथजीके अतुल विभवको देखकर वह अपना मुंह ही छिपा रहे हों। पावस ऋतु थी। श्रावणका महीना था। वृक्ष–लता, पशु–पक्षी और नर–नारी सबके

हृदयोंमें मोदभाव छारहा था। सबही प्रसन्न हुये मीठे२ राग अलाप रहे थे। शुक्लपक्ष अपनी विमलताका परिचय देरहा था। मानों स्पष्ट ही कह रहा था कि मैं सार्थक नाम हूं। जैसा मेरा नाम है वैसा मेरा काम है। शुक्लभावोंका पूर्ण प्रादुर्भाव मेरे ही शुक्ल आलोकमें होसक्ता है। मेरे ही धवलरूपका साथी इस विशाखा नक्षत्रमें आज अपना वैभव दिखला सक्ता है। आजका दिन ही इस पुनीत संसर्गसे हमेशाके लिये पवित्र और पावन बन गया है। वह देखिये प्राकृत संकेतोंको पाकर इस दिव्य अवसर पर स्वर्ग-लोकके देवगण भी आ रहे हैं। इन्द्र-इन्द्राणी और देव देवाङ्गनायें अपने २ विमानोंमें बैठे हुये जयजयकार करते हुये चले आरहे हैं। सब ही पुलकितबदन होरहे हैं। इधर पृथ्वीपर देखिये तो सब ही राजा महाराजा, सेठ और साहूकार प्रसन्नतापूर्वक भगवान पार्श्व-नाथकी विरदावलि गाते बढे चले आरहे हैं। पशु-पक्षी और वृक्ष लतायें भी प्रफुल्लित हुये दृष्टि पडरहे हैं। जरा और नजर पसा-रिये, देखिये। दिशायें निर्मल होगई हैं—भव्य शैल महामनोहर दीख रहा है। यह श्रावण शुक्ला सप्तमीका दिवस ही अनुपम है।

भला यह दिवस अनुपम क्यों है? इस रोज इन्द्र और देव, राजा और प्रजा कब और क्यों आनन्द मनाने आये थे? आये थे तो कहां आये थे? इन सब प्रश्नोंका समाधान भगवान पार्श्वनाथ-जीके शेष जीवनपर नजर डालनेसे हल होजाता है। शास्त्रोंमें बत-लाया गया है कि भगवान् पार्श्वनाथजीने विहार और धर्मप्रचारमें पांच महीने कम सत्तर वर्ष व्यतीत किये थे। उपरान्त वे श्रीसम्मे-दाचल पर्वतकी परमोच्च शिखरपर आनकर विराजमान हुये थे।

जिस महापवित्र पर्वतराजकी टोकोंपरसे परमगुणधारी अनते मुनीन्द्र और कई तीर्थंकर भगवान् समस्त कर्मोंका नाश करके मोक्ष पधारे थे, वह इन भगवान्को अपने अङ्कमें धारण करते फूला न समाया था ! देव-दुन्दभिकी प्रतिध्वनिरूप जो महाप्रिय आनन्दध्वनि उसकी गुफाओमेंसे निकलती थी, वह उसके प्रसन्न भावोको प्रकट कररही थी ! त्रिजगपूज्य भगवान्को अपने अञ्चलमें पाकर भला वह क्यों न प्रमुदित होता ? वह उनको पाकर हमेशाके लिये पवित्र होगया ! देशविदेशोमें उसका नाम होगया ! देवोने भी उसकी गुणग्राहकताका मूल्य उसी समय चुका दिया । उनने उसकी सर्वोच्चशिखरका नाम, जिसपर भगवान् पार्श्वनाथजी आ विराजमान हुए थे, सुवर्णभद्र-कूट रख दिया[1] । उसके उस सुवर्णमयी कूटपर विराजित भगवान् परम शोभाको धारण किये हुये थे । तिसपर देवोद्वारा की गई पुष्पोंकी वृष्टि भगवान्के लिये स्वयवरमाला सरीखी ही जान पड़ती थी; मानो मोक्षसुंदरीने स्वयं ही आकर उन भगवान्को वर लिया हो !

भगवान्ने श्रीसम्मेदशिखिरपर आकर अपनी समवशरण विभूतिका त्यागन कर दिया था । वह विभूति स्वयं ही विघट गई थी । भगवान् इसप्रकार समस्त सभासे विमुक्त होकर एक मासका योग निरोध करके विराजमान होगये थे । उनके साथ छत्तीस मुनिराज और थे । वे भगवान् प्रतिमायोगमें तिष्ट रहे थे । श्रावण शुक्ला सप्तमीके सवेरे ही उनने तीसरे और चौथे शुक्लध्यानोंका आश्रय लिया था । और शेष चार अघातिया कर्मोंका नाश करके वे अ, इ, उ, ऋ, लृ, इन पांच शब्दोंके उच्चारण करने जितने

१–पार्श्वनाथचरित (कलकत्ता) पृ० ४१७ ।

समयतक अयोगकेवलीपदमें प्राप्त रहकर मुक्तिधाममें जा विराजमान हुये थे। अचल मोक्षस्थानमें वह परामत्मारूपमें जाकर तिष्ठ गये थे। लोककी शिखरपर हमेशाके लिये पूज्यपनेको प्राप्त होगये थे ! सबसे बडे पदको वे पाचुके थे, समस्त प्राणी उनके चरणोंके आश्रयमें रह रहे हैं !

भगवान् पार्श्वनाथजीके मोक्ष प्राप्त करते ही इंद्रादि देवोंने उनके निर्वाणकल्याणकी पूजा की और बड़ी भक्तिसे उन प्रभुकी वंदना करने लगे। उपरात उन्होंने श्री जिनेन्द्र भगवान्‌के दिव्य देहकी दग्धक्रियां की; यथाः–

"तब इंद्रादिक सुरसमुदाय, मोख गये जाने जिनराय।
श्री निर्वानकल्यानक काज, आये निज निज वाहन साज ॥
परमपवित्त जानि जिनदेह, मुनिसिविकापर थापी तेह।
करी महापूजा तिहिं वार, लिये अगर चंदन घनसार ॥३०७॥
और सुगंध दरव सुचि लाय, नमे सुरासुर सीस नमाय।
अगनिकुमार इंद्र तैं ताम, मुकुटानल प्रगटी अभिराम ॥३०८॥
ततखिन भस्म भई जिनकाय, परमसुगंध दसौं दिसिथाय।
सो तन भस्म सुरासुर लई, कंठ हिये कर मस्तक ठई ॥३०९॥
भक्तिभरे सुर चतुरनिकाय, इह विध महा पुण्य उपजाय।
कर आनंद निरत बहु भेव, निज निज थान गये सब देव ॥३१०॥"

१–किन्हीं लोगोंका कहना है कि तीर्थंकर भगवान्‌की दिव्यदेह काफूरकी तरह खिर जाती है और देवलोग अपनी भक्तिको प्रदर्शित करनेके लिये मायामई शरीर रचते एवं उसकी दग्ध क्रिया करते हैं। तथा नखशिखको लेजाकर वे क्षीरसमुद्रमें स्थापन करते हैं।

इसप्रकार निर्वाण उत्सव मनाकर देवगण सुरलोकको चले गये थे। किन्हीं शास्त्रकारोंका मत है कि देवोंने भगवान्के निर्वाण-स्थानपर मणिमई स्तूप बना दिया था।[1] इसतरह भगवान् पार्श्व-नाथजी परमपदको प्राप्त होगये थे। एक सामान्य हाथीका जीव आत्मोन्नति करते२ परमोच्चदशाको प्राप्त होगया। यह धर्मकी महि-माका फल है। नियमित इंद्रियनिग्रह और सत्य अध्यवसाय वडेसे वडे कार्यकी पूर्ति पाड़ देता है। कितनी भी छोटी दशाका जीव उपेक्षणीय नहीं है। वह भी अपने आत्मवल अथवा सद्प्रयत्नों द्वारा सव कुछ कर सक्ता है। नीच दशाके प्राणियोंको साहस दिलानेवाला भगवान्का पवित्र जीवन सर्व सुखकारी है। उसका अध्ययन और मनन भला किसको आनन्दका कर्ता न होगा?

भगवान् पार्श्वनाथका निर्वाण अन्तिम तीर्थङ्कर भगवान् महा-वीरजीके निर्वाणकालसे ढाईसौ वर्ष पहले हुआ, शास्त्रोंमें वतलाया गया है।[2] और भगवान महावीरजीका जन्मकाल आजकल ईसवी-सनसे ५९९ वर्ष पहले माना जाता है।[3] इस अपेक्षा भगवान् पार्श्वनाथका जन्मकाल ईसवीसनसे ८४९ वर्ष पूर्व प्रमाणित होता है और चूंकि उनकी अवस्था सौ वर्षकी थी; इसलिये उनका निर्वाण-समय ईसासे पूर्व ७४९ वर्ष ठीक बैठता है। किन्तु कोई २ महा-शय उनका जन्म समय ईसासे पहले ८१७ वर्षमें मानते हैं।[4] परन्तु हमने विशेष रीतिसे भगवान महावीरका निर्वाणकाल ईसासे

१–श्री भावदेवसूरिने ऐसा उल्लेख अपने पार्श्वनाथचरित्रमें किया है। २–उत्तरपुराण पृ० ६०७। ३–भगवान् महावीर पृ० २१३ और जैनसूत्र (S B E.) भाग २ भूमिका। ४–लाइफ एण्ड स्टोरीज ऑफ पार्श्वनाथ, प्रस्तावना। पृ० ९ नोट २।

पूर्व ९४९ वर्षमें स्थापित किया है। अतएव भगवान् पार्श्वनाथ-जीके मोक्षलाभ करनेकी घटना ईसासे पूर्व ७७० वर्षमें घटित हुई मानना ठीक जंचता है और इस दशामें भगवानका जन्म ईसासे पूर्व ८७० वर्षमें, गृहत्याग ईसवीसन्से ८४० वर्ष पहले और केवलज्ञान ईसासे पूर्व चार महीने कम ८४० वर्षमें हुआ सिद्ध होता है। इसप्रकार भगवान् पार्श्वनाथ कब हुये यह स्पष्ट होजाता है।

किन्तु देखना यह है कि यह पर्वतराज श्री सम्मेदशिखिर कहां था कि जहासे भगवानने मोक्षलाभ किया था। आजकल हजारीबाग जिलेका सम्मेदाचल ही यह पर्वत माना जाता है और हजारों श्रावक प्रतिवर्ष उसकी वंदना करने जाते हैं। प्राचीनकालसे इसीको सम्मेदशिखिर मानकर लोग यात्रा करने आते थे, यह प्रकट है। 'उत्तर पश्चिमसे आनेवाले पटना और नवादासे खड़गदिह होकर पालगज आते थे। वहासे यह पर्वत निकट ही है। दूसरी ओर दक्षिण और पूर्वके यात्री उस सडकसे आते थे जो मानभूमके जैयुर स्थानसे चलकर नवागढ होती हुई पालगजको जाती है। ये सड़कें सन् १७७० ई० से पहले काममें आती थी।[२] अतएव यही प्रति-भाषित होता है कि जिस पर्वतसे भगवान पार्श्वनाथजीने मोक्षलाभ किया था वह यही पर्वत है। पहलेके एक परिच्छेदमें रावणकी दिग्विजयका उल्लेख करते हुए भी यह देखा जाचुका है कि आधु-निक हिमालय और मध्यप्रान्तके बीचवाली पृथ्वीमें कहीं पर सम्मे-दाचल था। माहिष्मती नगरसे चलकर रावणको कैलाश पहुचनेके

१–भगवान महावीर और म० बुद्ध पृ० १११–११४। २–बंगाल बिहार जैन स्मारक पृ० ४०।

पहले सम्मेदशिखरके दर्शन होगये थे। अस्तुः यह मानना ठीक है कि आजकलका सम्मेदशिखर या पारसनाथहिल ही प्राचीन सम्मेदाचल है।

भगवान् पार्श्वनाथके निर्वाणस्थान होनेकी अपेक्षा ही सम्मेदशिखिर अधुना पारसनाथ हिलके नामसे प्रख्यात है। यह विहार-ओड़ीसा प्रान्तस्थ छोटेनागपुरके हजारीबागमें २३°-५८' उत्तर और ८६°-८' पूर्व अक्षरेखाओंपर स्थित है। क्रूकसाहब इसकी प्रशंसा इन शब्दोंमें करते हैं कि-"पर्वत संकीर्ण पर्वतमालासे वेष्टित है, जिसमें अनेक शिखरें हैं। यह पर्वतमाला अर्धचंद्राकार है और सबसे ऊंची चोटी ४४८० फीट की है। यह जैनियोंके तीर्थस्थानोंमेंसे एक है। जैनी इसे सम्मेदशिखिर कहते हैं। इस पर्वतपरसे बीस तीर्थंकर मोक्ष हुये बतलाये जाते हैं। इसका 'पारसनाथहिल' नाम २३वें तीर्थंकर पार्श्वनाथकी अपेक्षा ही पड़ा है। जैन संप्रदायकी जो एकान्तवासकी प्रकृति है उसीके अनुसार उनने इस निरापद स्थानको जिसके प्राकृत सौन्दर्यको देखते हुये ठीक ही अपना पवित्रस्थान माना है। मधुपुरसे चलकर जब तीन मील पर्वतपर चढ़ जाते हैं तो झट एक मोड़के साथ ही जैनमंदिर दृष्टि पड़ने लगते हैं। यहासे मंदिरोंकी तीन पक्तियां एक दूसरेके ऊपर स्थितसी नजर पड़ती हैं; जिनमें करीब पन्द्रह चमकती हुई शिखिरें दिखाई देती हैं। इन शिखरोंपर सुनहले कलशे चढ़े हुये रहते हैं तथापि श्वेतांबरोंके मंदिरमें लल और पीली ध्वजायें फहराती रहती हैं। यह सब ही पर्वतके श्यामवर्णमें सफेद महलोंका चमकता हुआ बड़ा समुदाय ही दीखता है। यहां तीन मुख्य मंदिर हैं ...(एक पार्श्व-

नाथजीका भी इन्हींमें है) इन मंदिरोंमें अब योरूपियन लोगोंके पहुचनेकी मनाई है, किन्तु सन् १८२७ ई०में एक इंग्रेजने इनके दर्शन किये थे। उन्होंने पार्श्वनाथ भगवानकी नग्न मूर्तिको ध्यानाकारमें उनके सर्पचिन्हसे मंडित यहा पाया था। समूचे पर्वतपर और बहुतसे मदिर हैं, जिनकी प्रत्येक जैनी अवश्य ही वंदना करता है। यह प्रवर्ति भगवान् पार्श्वनाथजीके मदिरकी वंदना और पर्वतकी परिक्रमाके साथ पूर्ण होती है, परिक्रमा करीब तीस मीलका है।"[२] यहां सर्व प्राचीन मंदिर १७६९ ई०की है।[३] दिगम्बर सम्प्रदाय भी यहा प्राचीनकालसे पूजा-वन्दना करती आई है और मूलमें इसी संप्रदायकी प्रतिमा श्री पार्श्वनाथजीकी टोंकपर विराजमान रही हैं। इस भव्य स्थानके दर्शन करते ही आनन्दसे शरीर रोमांच हो उठता है, और यात्री पुलकितवदन हो सारे दुःखसंकट भूल जाता है। तीर्थंकर भगवान्के चरणकमलोंसे पवित्र हुआ स्थान अवश्य ही अपना प्रभाव रखता है। जिन बुरी आदतोंको मनुष्य अन्यत्र लाख प्रयत्न करनेपर भी नहीं छोड़ता उन्हींको वह यहां बातकी बातमें त्याग देता है। यह इस पुण्य स्थानका पवित्र प्रभाव है, जैनियोंमें इसका आदर विशद है। प्रत्येक जैनीको विश्वास है कि इसकी

6-In recent times no European has been allowed to enter the temples, but a visitor, who examined them in 1827 found the image of Parsvanath to represent the saint, sitting naked in the attitude of meditation, his head Shielded by the snake, which is his special emblem '—W Crooke in ERE

२-इन्साइक्लोपेडिया ऑफ रिलीजन एण्ड ईथिक्स-पारसनाथहिल।

३-ब० बि० के० जैनस्मार्क पृ० ४०।

एकवार वन्दना करनेसे ही दुर्गतिका वास छूट जाता है। इस तरह भगवानके पवित्र निर्वाण धामका परिचय है।

भगवानके निर्वाण कल्याणकके दिग्दर्शन करके प्रत्येक हृदय अपनेको कृत कृत्य मानता है। इस परिच्छेदमें उसीके परोक्षदर्शन होरहे हैं और यह आत्म-कल्याणका प्रकट कारण है। इसके स्मरण मात्रसे ही सुखोंकी प्राप्ति होती है, क्योंकि जिनेन्द्रदेवकी भक्ति सर्व सुखोंको प्रदान करनेवाली है। इसलिए श्री जिनेन्द्र भगवान पार्श्वनाथजीके प्रति वारम्वार नमस्कार है।

(२५)

भगवान् पार्श्वनाथ और महावीरस्वामी।

"पार्श्वेशतीर्थसन्ताने पंचशद्द्विशताब्दके।
तदभ्यन्तरवर्त्यायुर्महावीरोत्र जातवान्॥ २७९॥"

—उत्तरपुराण।

भगवान पार्श्वनाथजीको मुक्तिलाभ होगया, किन्तु फिर भी उनका तीर्थ महावीर स्वामीके जन्म समय तक चलता रहा। भगवान् पार्श्वनाथसे महावीर स्वामी ढाईसौ वर्ष बाद हुये थे। इस अन्तराल कालमें उनकी आयु भी गर्भित थी। भगवान पार्श्वनाथ वर्तमान युगके २३ वें तीर्थङ्कर थे और भगवान् महावीर २४ वें अथवा सर्व अन्तिम तीर्थंकर थे। प्रत्येक युगमें सनातन रीतिसे चौवीस तीर्थंकर होते हैं। इनका परस्पर संबंध जाहिरा कुछ नहीं होता! यह एक समान महान् पुरुष होते हैं। इसीतरह भगवान पार्श्वनाथ भी एक जीवित परमात्मा थे और अनुपम थे। और महावीर

स्वामी भी सशरीरी परमात्मा और लासानी थे। हां, प्रत्येक तीर्थंकरका संबंध होता है तो केवल इतना ही कि पूर्वागामी तीर्थंकरकी शिष्यपरंपरा उपरान्तके तीर्थंकरकी शरणमें स्वतः पहुच जाती है। वह पूर्व तीर्थंकरके पवित्र मुखसे परंपरीण यह सुन चुकती है कि आगामी अमुक तीर्थंकर होंगे उनके द्वारा जैनधर्मका उद्योत पुनः होगा उसी अनुरूप उन तीर्थंकरके शिष्य आगामी तीर्थंकरके आगमनकी वाट जोहते रहते हैं। उनके आगमनके साथ ही वे उनकी शरणमें पहुंच जाते हैं। प्राकृत एक तीर्थंकरके समागमसे विलग होकर वे दूसरे तीर्थंकरके समागममें पहुंचनेके उत्सुक रहते हैं। उनके लिये यह आवश्यक नहीं होता है कि वे अलग बने रहें। उनको तो तीर्थंकर भगवानके आगमनकी उत्कण्ठा रहती है और उसी अनुरूप वे उनकी शरणमें स्वतः ही पहुंच जाते है। भगवान पार्श्वनाथ और महावीर स्वामीके विषयमें भी यही हुआ था। पार्श्व भगवानसे ८३७५० वर्ष पहले श्री नेमनाथ स्वामीने, जो २२वें तीर्थंकर थे, अपनी दिव्यध्वनिसे वह बतला दिया था कि आगामी इतने२ अन्तरालकालसे पार्श्व और वर्द्धमान नामक दो तीर्थंकर और होंगे[1]। साथ ही उनने इन तीर्थंकरोंकी खास२ जीवन घटनाओंको भी बता दिया था। यही बात भगवान् महावीरजीके सम्बन्धमें हुई थी। भगवान् पार्श्वनाथजीके मुखारविंदसे लोगोंको मालूम पड़ गया था कि अंतिम तीर्थंकर भगवान् महावीरस्वामी द्वारा एकवार जैनधर्मका उद्योत होना और शेष है। जिस तरह भगवान् महावीरके उपदेश अनुसार आज हमको

१-हरिवंशपुराण पृ० ५६६-५७६।

आगामी होनेवाले तीर्थंकरोंके नाम आदिका पता चल चुका है, उसी तरह पार्श्वनाथजीकी शिष्यपरंपराको महावीरस्वामीके होनेका परिचय मिल चुका था। इसलिये भगवान् पार्श्वनाथजीकी शिष्य-परंपराके शिष्य भगवान् महावीरके आगमनकी बाट जोह रहे थे और वे स्वत उनकी शरणमें आये थे।

किन्तु किन्हीं अजैन विद्वानोंका यह अनुमान है कि भगवान् पार्श्वनाथ और महावीरस्वामीके तीर्थंकरपनेमें अन्तर था और इन दोनों तीर्थंकरोंके शिष्य भगवान् महावीरस्वामीके समयमें भी अलग थे; यद्यपि वे आखिर दोनों मिलकर एक हो गये थे। इसके लिये वे श्वे०के उत्तराध्ययनसूत्रकी वह घटना उपस्थित करते हैं जो श्री गौतमस्वामी और केशी श्रमणके संवाद रूपमें वहां मिलती है।[1] डॉ० वेनीमधव बारुआ महोदय, इसी बातको लक्ष्य करके दोनों तीर्थंकरोंके आपसी सम्बन्धको इन शब्दोंमें प्रकट करते हैं। वे लिखते हैं कि—"महावीर स्वयं अपने शिष्योंमें निगन्ठ अथवा निर्ग्रंथ नामसे परिचित थे। यही नाम अर्थात् निर्ग्रन्थ पार्श्वके तीर्थ संघसे भी लागू था, जिन्हें जैनी २३वें तीर्थंकर बतलाते हैं। यहां यह प्रश्न समुचित है कि वस्तुतः महावीरके सैद्धांतिक पूर्वगामीरूपमें क्या पार्श्व स्वीकार किये जा सक्ते हैं? जाहिरा नहीं; क्योंकि ऐसा कोई भी साधन प्राप्त नहीं है जिससे पार्श्व एक सिद्धान्तवेत्ता (Philosopher) प्रमाणित हो सकें। पार्श्व महावीरके पूर्वगामी अवश्य थे, किन्तु एक विभिन्न प्रकारके! वह प्राचीन तापसोंकी भांतिके एक साधु थे; जिनने कि महावीर और बुद्धके पूर्वगामी

१—उत्तराध्ययन सूत्र २३।

(जिनों, बोधिसत्वों) जैसे मिथिलाके राजा निमे और अरिष्टनेमिके समान ही त्याग धर्म (Life of renunciation) पर अधिक जोर दिया था। यह विदित होता है कि महावीरने गृह त्यागकर उस संघका आश्रय लिया था जो पार्श्वके बताये हुये नियमोंका पालन करता था। नाथवंशी क्षत्रियोंकी समूची संप्रदाय (देखो उवासगदसाओ ६) अथवा महावीरजीके पितृगण तो अवश्य ही (आचाराङ्ग २।१५-१६) भगवान् पार्श्वके संघके उपासक थे। इस अवस्थामें यह अनुमान करना सुगम है कि महावीरकी दृष्टि स्वभावतः पार्श्व-संघकी ओर गई होगी। (हार्ट ऑफ जैनीजम पृ० ३१) प्रो० जैकोबीने पार्श्व और महावीर तीर्थंकरोंके पारस्परिक सम्बन्धपर ठीक प्रकाश डाला है। (जैन सूत्र S. B. E भाग २ पृ० १९-२२ भूमिका) उनने ठीक ही कहा है कि पहले दो विभिन्न निर्ग्रन्थ संघ थे, जिनके सिद्धान्तोंमें केवल 'चार व्रत' अथवा 'चार नियम' ही समान थे। और आखिर इसी भेदके कारण उपरांत दो बडे भेद हो गये थे। 'सामञ्ञफलसुत्त' नामक बौद्ध ग्रन्थमें जो सिद्धान्त महावीरका बताया गया है उसे मूलमें कमसे कम 'चातुयाम् संवर' शब्दरूपमें तो अवश्य ही पार्श्वका बताना उक्त प्रो० सा०का ठीक है। इस सिद्धान्तमें बताया गया है कि महावीरजीके अनुसार आत्म संयम, आत्म निग्रह और ध्यान एकाग्रताका मार्ग 'चातुर्याम-संवर' में सीमित है। यह संवर पानीके व्यवहारसे विलग रहने, पापसे दूर रहने आदि रूप है।....प्रो० रीस डेविड्सने प्रो० जैकोबीके भावको समझा नहीं है, तब ही वह कहते हैं कि 'उनके मनसे चार नियम पार्श्वके चार व्रत थे।' प्रो० जैकोबीने यह कहीं नहीं

रहा है । इस तरह जैकोबीके साथ यह मानना ठीक है कि सामन्तफलसुत्तमें जिन चार नियमोंका उल्लेख किया गया है वह गलत है और जो सिद्धांत महावीरका बताया गया है वह न उनका है और न उनके पूर्वागामी तीर्थंकरका: यद्यपि उसमें किसीके विरुद्ध भी कुछ नही है। क्योंकि जैन ग्रन्थोंके अतिरिक्त बौद्धोंके मज्झिमनिकाय (१।३९-३६)के एक सूत्रसे ज्ञात होता है कि महावीरकी दृष्टिमें मोक्षमार्ग अहिंसा, अचौर्य, शील, सत्य और तपोगुण जैसे नग्नपरीषह, उपवास, आलोचना आदि रूप था । . इसलिये जैन और बौद्ध दोनोंके आधारसे यह कहा जासक्ता है कि इनमेंसे पहलेके चार नियमोंका विधान पार्श्व द्वारा हुआ था और उनमें अंतिम महावीरजी द्वारा बढ़ा दिया गया है ।

"अब अपने२ समयके प्रतिष्ठित तीर्थंकरों, पार्श्व और महावीरका पारस्परिक अन्तर स्पष्ट नजर पडता है अथवा यूं कहिये कि अब इस प्रश्नका उत्तर दिया जा सक्ता है कि वस्तुतः क्या पार्श्व महावीरके सैद्धांतिक पूर्वागामी पुरुष थे ? पार्श्वका जो थोड़ासा जीवन विवरण प्राप्त है वह स्पष्ट दिखलाता है कि वह अमलीकार्यकी ओर अधिक रुचि रखते थे। उनका व्यवस्थापक गुण उल्लेखनीय था । जिस संघकी स्थापना उनके द्वारा हुई थी वह अपने उच्च और कठिन दर्जेके साधु चारित्रके लिए प्रख्यात रहा था । उनने चार नैतिक नियमोंका पालन करना अपने शिष्योंके लिए आवश्यक बतलाया था । इन्हीं नियमोंका पालन करना बुद्ध और महावीरने भी उचित ठहराया था । पार्श्वके विषयमें यदि इन्हीं चार नियमोंमें उनके चारित्र विधानका अन्त समझ लिया जाय, तो

ठीक न होगा। वस्तुतः इनके अतिरिक्त उनके चारित्रविधानमें अनेक नियम साधु और उपासकोंके लिए और थे। यह कहना भी अत्युक्ति नहीं रक्खेगा कि निर्ग्रन्थसमाजके समग्र चारित्रनियम पार्श्व और उनके शिष्योंके अनुसार थे। किन्तु इस चारित्रनियमके साथ एक और कठिन नैतिक नियमावली विनयवाद या शीलव्रत थी, जिसको महावीर और बुद्धने एक स्वरसे उचित ठहराया था। दूसरे शब्दोंमें पार्श्वके चारित्रनियम यद्यपि अच्छे थे, परन्तु उनके निर्माणक्रम और औचित्य दर्शानेके लिये सैद्धांतिक व्यवस्थाकी आवश्यक्ता थी; जिससे वे उछृंखल न जंचे और समाजकी सुविधामें भुला न दिये जांय। (उत्तराध्ययनके संवादसे स्पष्ट है कि, पार्श्वका केवल एक धार्मिक सघ था जबकि महावीरका केवल एक धार्मिक संघ ही नहीं बल्कि एक सैद्धातिक मतका पृथक् दर्शन था)।"

इसके अगाडी डॉ० बारुआ महावीरस्वामीका सैद्धांतिक गुरु गोशालको अनुमान करते हुए कहते हैं कि—"जब कालान्तरमें महावीर अपना नया संघ स्थापित करनेमें सफल हुए और उसे कुछ अंशमें आजीवकोंके समान और शेषमें पार्श्वके शिष्योंके अनुसार रक्खा तो दोनों (निर्ग्रन्थ) संघोंमें प्रगट भेद नजर पड़ने लगा। जब कि नवीन संघकी सैद्धातिक उत्कृष्टता पुराने संघको अन्धकारमें डाल रही थी, तब उसके अनुयायियोंने किसी तरह अपने अस्तित्वको बनाये रखना आवश्यक समझा था। जाहिरा प्रतिरोध अथवा प्रतिस्पर्धा इसका उपाय न था। उपाय केवल समझौतेमें था! उत्तराध्ययनके सम्वादसे प्रगट है कि एक समय अवश्य ही पुराने संघके

१-दी हिस्ट्री ऑफ प्री बुद्धिस्टिक इंडियन फिलासफी पृ० ३७७-३८३।

अनुयायी समझौतेकी फिकरमें थे।...बौद्धोंके पासादिक और सामगाम सुत्रोंसे उस समयका भी पता चलता है जबकि महावीरजीकी मुक्तिके साथ ही उनके शिष्य दो भागोमें विभक्त हो गये थे। पार्श्वके अनुयायियोंको इस समझौतेसे नये सघके सिद्धान्तवाद (Philosophy)को पानेका लाभ हुआ था।"[१]

इस समस्त कथनमें इन बातोंको प्रगट किया गया है कि:—

(१) भगवान पार्श्वनाथ यद्यपि महावीरस्वामीके पूर्वगामी तीर्थंकर थे, परन्तु उनके निकट वह सिद्धांतवाद उपस्थित न था जो महावीरस्वामीके निकट था।

(२) महावीरस्वामीने पार्श्वनाथजीके संघका आश्रय लिया था। उपरांत उससे सम्बन्ध विच्छेद करके वे मक्खलिगोशालके साथ रहे थे; जिससे नग्नदशा आदि नियम ग्रहण करके उनने अपना नवीन संघ स्थापित किया था।

(३) महावीरजीके समयमे भी निर्ग्रन्थ सघ पृथक२ मौजूद थे; जिनमें 'चतुर्यामव्रत' अथवा 'चतुर्यामसंवर' समान थे।

(४) 'सामन्न फलसुत्त' में चतुर्यामसंवरमे जो बातें गिनाई गई हैं वह ठीक नहीं है। वह न महावीरस्वामीके धर्मोपदेशमें मिलती हैं और न पार्श्वनाथजीके। तथापि चातुर्यामसंवर नियम महावीरका बतलाना गलत है। वह केवल चातुर्याम रूपमें पार्श्वनाथजीसे लागू है, जिसका भाव पार्श्वनाथजीके चातुर्यामव्रत, जिसका उल्लेख श्वेतांबरोंके 'उत्तराध्ययन सूत्र' में है, उससे है। महावीरस्वामीने इन व्रतोंमें अंतिम अर्थात् पांचवा व्रत स्वयं बढ़ा दिया है और उनका

२-पूर्वपुस्तक पृ० ३८३।

विवेचन सैद्धांतिक ढगसे किया है। शीलव्रत नियम भी उनके खास थे। प्रो० ह्रीस डेविड्स जो प्रो० जैकोबीको चातुर्याम नियमसे पार्श्वनाथजीके चार व्रतोंका भाव ग्रहण कहते बतलाते हैं वह गलत है। और (५) पार्श्वनाथजीके और महावीरस्वामीके सघोंमें परस्पर प्रगट भेद था, जिसके कारण यद्यपि पहले दोनों सघ अलग थे; परन्तु उपरांत वे एक होगये। आखिर महावीरस्वामीके निर्वाणके उपरांत ही वह फिर दो भागोंमें विभक्त होगये; जैसे कि बौद्धोंके ग्रन्थोंसे प्रगट है।

अतएव आइये पाठकगण! इन पांच बातोंके औचित्यपर भी एक दृष्टि डाल लें। उपरोक्त कथनमें भी पार्श्वनाथजीको महावीर-स्वामीका पूर्वागामी तो स्वीकार किया गया है, परन्तु उनको एक सामान्य साधु बतलाया है, जिनको अपने सघकी व्यवस्था और चारित्र नियमोंसे ही मतलब था। सिद्धांतवाद (Philosophy) न उनके लिये आवश्यक था और न वह उनके निकट मौजूद था। कोई भी ऐसा प्रमाण उपलब्ध नहीं है, जिससे यह सिद्ध किया जासके कि पार्श्वनाथस्वामी एक सैद्धांतिक वक्ता अथवा तत्ववेत्ता (Philosopher) थे; किन्तु इसके साथ ही ऐसा भी कोई प्रमाण उपलब्ध नहीं है जो जैनियोंकी मान्यताको गलत ठहराकर भगवान् पार्श्वनाथके निकट सिद्धातवाद नहीं था, यह प्रगट कर सके। प्रत्युत डॉ० हेल्मुथ वॉन ग्लासेनप्पने यही प्रगट स्वीकार किया है, जैसे कि हम पहिले देख चुके हैं कि जैनधर्मके 'मूल तत्त्वोंमें कोई स्पष्ट फर्क हुआ, ऐसा माननेका कोई कारण नजर नहीं आता और इसलिये महावीरस्वामीके पहले भी जैन दर्शन था, ऐसी जैनोंकी

मान्यता स्वीकार की जासक्ती है। ..जैनधर्मका स्वरूप ही इस बातकी पुष्टि करता है; क्योंकि पुद्गलके अणु आत्मामें कर्मकी उत्पत्ति करते हैं, यह इसका मुख्य सिद्धांत है और इस सिद्धातकी प्राचीन विशेषताके कारण ऐसा अनुमान किया जासक्ता है कि इसका मूल ई० सन्‌के पहले ८वीं शताब्दिमें हैं।'[1]

प्रो० डॉ० जार्ल चारपेन्टियर भी स्पष्ट लिखते है कि 'पार्श्वकी शिक्षाके सम्बन्धमें हमें विशेष अच्छा परिचय मिलता है। यह प्रायः खासकर वैसी थी जैसी कि महावीर और उनके शिष्योंकी थी?' (देखो केम्ब्रिज हिस्ट्री आफ इन्डिया भाग १ पृ० १५४) भारतीय अणुवाद (Atomic Theory)का इतिहास भी जैनदर्शनकी प्राचीनताको प्रगट करता है; जैसे कि ऊपर डॉ० ग्लेसेनप्पने व्यक्त किया है। सचमुच भारतीय दर्शनोंमें जैनदर्शनमें ही इस सिद्धान्तका निरूपण सर्व प्राचीन मान्यताओंके आधारपर किया गया है। हिन्दुओंमें केवल वैशेषिक और न्यायदर्शने इसको स्वीकार किया है; परन्तु वहां वह प्राचीनरूप इसका नहीं मिलता है जो जैन धर्ममें प्राप्त है। (देखो इन्साइक्लोपेडिया ऑफ रिलीजन एण्ड ईथिक्स भाग १ पृ० १९९-२००) इसलिये यह सिद्धान्त भगवान् महावीरके पहलेसे जैनदर्शनमें स्वीकृत था, यह स्पष्ट है। साथ ही बौद्धोंके मज्झिमनिकाय (भाग १ पृ० २२५-२२६) में निर्ग्रन्थ पुत्र सच्चकका कथानक दिया है, जिसमें उसके बुद्धसे सैद्धांतिक विवाद करनेका उल्लेख है। यह निर्ग्रन्थपुत्र बुद्धका समसामयिक था। इस कारण इसका पिता म० बुद्धसे पहले ही मौजूद होता

1-Glassenapp Ephemerides Orient 25 P 13

प्रमाणित है। इस अपेक्षा प्राचीन जैनधर्ममे भी सैद्धांतिक विज्ञान होनेका समर्थन होता है। दूसरे शब्दोंमें भगवान पार्श्वनाथके निकट भी जैन दर्शन मौजूद था, यह स्पष्ट होजाता है।

तिसपर स्वयं डॉ० बारुआने भगवान् पार्श्वनाथजी द्वारा किये हुये जीवोंके षट्काय भेदको स्वीकार किया है।[1] अब यदि उनके मतानुसार यह मान लिया जाय कि भगवान् पार्श्वनाथजीके पास कोई सैद्धांतिक क्रम पदार्थ निर्णयका नहीं था, क्योंकि वे तत्ववेत्ता ही नहीं थे, तो फिर यह कैसे सभव है कि उनने जीवोंका षट्काय-भेद निरूपित किया हो? इससे तो यही प्रगट होता है कि पार्श्वनाथजीने अवश्य ही पदार्थनिर्णयरूप एक सिद्धांतवादका निरूपण किया था। जब कि जैनशास्त्रोंमे भगवान् पार्श्वनाथ और महावीरस्वामीके धर्मोपदेशमें पारस्परिक अन्तरको स्पष्ट बतलाया गया है, तब यह कुछ जीको नहीं लगता कि उन्होंने इस भारी भेदको प्रगट करना आवश्यक न समझा हो। प्रत्युत बौद्ध शास्त्रोंके उल्लेखोंसे अन्यत्र हम देख चुके है कि भगवान् पार्श्वनाथजीके शिष्यगण स्वतंत्र रीतिसे आत्मवादको सिद्ध करते थे और उनमे वादी भी थे।[2] तिसपर पूर्वपृष्ठोंमें जो हम भगवान् पार्श्वनाथजीके समय एवं उनके बादके मुख्य मत प्रवर्तकोंके सिद्धांतोपर भगवान् पार्श्वनाथजीके सैद्धांतिक उपदेशका प्रभाव पडा देख चुके है, उससे स्पष्ट है कि भगवान् पार्श्वनाथ द्वारा भी वैसा ही जैन दर्शन निरुपित हुआ था जैसाकि भगवान् महावीरजीकी दिव्यध्वनिसे प्रगट

१–प्री–बुद्धिस्टिक इंडियन फिलासफी पृ० ३०३। २–इंडियन हिस्टॉरीकल क्वार्टर्ली भाग २ पृ० ७०८–७०९।

हुआ था । तीर्थंकरोंके धर्मोपदेशमें मूलतत्वोंकी स्थापना एक समान होती है, यह हम पहले ही देख चुके हैं । इसलिए यह मानना कुछ ठीक नहीं जंचता कि भगवान् पार्श्वनाथजी द्वारा सिद्धांतवादका प्रतिपादन नहीं हुआ था और वे एक सिद्धांतवेत्ता नहीं थे ।

किन्तु डॉ० बारुआने यह निष्कर्ष उत्तराध्ययनके उस अंशसे निकाला है जिसमें कहा गया है कि 'पहलेके ऋषि सरल थे, परन्तु समझके कोता थे और पीछेके ऋषि अस्पष्टवादी और समझके कोता थे. किन्तु इन दोनोंके मध्यके सरल और बुद्धिमान थे ।....पहलेके मुश्किलसे धर्म-व्रतोंको समझते थे और पीछेके मुश्किलसे उनका आचरण कर सकते थे । परन्तु मध्यके उनको सुगमतासे समझते और पालते थे ।'[१] इसके साथ ही दिगम्बरोंके 'मूलाचार'जीमें भी करीब२ ऐसा ही कथन मिलता है, जैसे कि पूर्वमें देखा जा चुका है । वहां लिखा है कि आदि तीर्थमें शिष्य मुश्किलसे शुद्ध किये जाते है, क्योंकि ये अतिशय सरल स्वभावी होते हैं। और अन्तिम तीर्थमें शिष्यजन कठिनतासे निर्वाह करते हैं, क्योंकि वे अतिशय वक्र स्वभाव होते हैं । साथ ही इन दोनों समयोंके शिष्य स्पष्टरूपसे योग्य अयोग्यको नहीं जानते हैं ।' इन कथनोंसे अवश्य ही यह प्रमाणित होता है कि मध्यवर्ती तीर्थंकरोंके शिष्य, जिनमें भगवान पार्श्वनाथजीके शिष्य भी सम्मिलित हैं सरल, बुद्धिमान् और धर्मको नियमित ढंगसे पालनेवाले थे । वे इसप्रकार वक्र नहीं थे और न इतनी हील हुज्जत धार्मिक विषयोंमें करते थे जितनी कि पहले श्री ऋषभदेव और अन्तिम श्री वर्द्धमान स्वामीके शिष्य

१-उत्तराध्ययन २३ ।

करते थे। इसलिये अवश्य अंतिम तीर्थंकरके शिष्योंको विशेष रीतिसे धार्मिक क्रियायोंको समझानेकी आवश्यक्ता युक्तियुक्त प्रगट होती है, परन्तु इसके माने यह नहीं होसक्ते हैं कि भगवान् पार्श्वनाथने जैन सिद्धांत अथवा दर्शनका निरूपण नहीं किया था। जैनसिद्धांतका निरूपण तो उनने प्रायः उसी तरह किया था जिस तरहभगवान महावीरने किया था। हां, उनके शिष्य सचमुच इतने सरल और बुद्धिमान थे कि उनको समझानेके लिये उन्हें उतना अधिक प्रयत्न नहीं करना पड़ता था। इसलिये जैनशास्त्रोंके उपरोक्त कथनोंसे यह प्रमाणित नहीं होता कि भगवान पार्श्वनाथजीने दर्शनवाद (Philosophy) का प्रतिपादन ही नहीं किया था। डॉ० बारुआ यद्यपि करीब२ सत्यकी तहतक पहुंचे हैं; परन्तु उनने शिष्योंकी सरलता और बुद्धिमत्ताके कारण भगवान् पार्श्वनाथजीके निकट दर्शनवाद न माननेमें अत्युक्तिसे काम लिया है यह कहनेके लिये हम बाध्य है। भगवानकी दिव्य ध्वनिसे तत्वोंका निरूपण अवश्य हुआ था।

दूसरे महावीरस्वामीको पहले पार्श्वनाथजीके संघमें सम्मिलित होने और फिर अलग होकर आजीविकसंघमें मिलनेकी बात भी कोरी कल्पना है। उसके लिये कोई भी जैन अथवा अजैन प्रमाण उपलब्ध नही है। अवश्य ही जैनशास्त्र कहते हैं कि नाथवंशी क्षत्री और भगवान् महावीरके पितृगण भगवान् पार्श्वनाथके संघके उपासक थे; किन्तु इसके साथ ही वे भगवान् महावीरको एक स्वाधीन श्रमण होनेका भी उल्लेख करते हैं, क्योंकि तीर्थंकर भगवान् 'स्वयंबुद्ध' होते हैं। वे दूसरोंको अपना गुरु नहीं बनाते हैं। यही बात भगवान् महावीरके सम्बन्धमें जैनशास्त्रोंमें कही गई है। उनको

वहां केवल सिद्धोंको नमस्कार करके श्रमण धर्मका अभ्यास करते लिखा गया है।[1] इस हालतमें जैन ग्रन्थोंके बलपर यह नहीं कहा जा सक्ता कि महावीरस्वामीने पहले श्री पार्श्वनाथजीके संघका आश्रय लिया था। हां, आजकलके विद्वान अवश्य ऐसी कल्पना करते हैं और इस कल्पनामें कितना तथ्य है, यह उपरोक्त पंक्तियोंसे स्पष्ट है। इसके साथ ही आजीविक संप्रदायके नेता मक्खलिगोशालको महावीरस्वामीका गुरू बतलाना भी निराधार है। जैन अथवा अजैन शास्त्रोंसे यह सम्बन्ध ठीक सिद्ध नहीं होता! श्वेताम्बरोंके 'भगवतीसूत्र'के कथनको यथावत् ऐतिहासिक सत्य स्वीकार किया ही नहीं जा सक्ता, यह बात स्वयं डॉ० बारुआने स्वीकार की है।[2] उसका कथन स्वयं अपने एवं अन्य श्वे० ग्रन्थोंके कथनसे विलग पड़ता है।[3] इसलिये उसके कथनसे इतना ही स्वीकार किया जा सक्ता है कि गोशालका जैन धर्मसे सम्बन्ध था और महावीरजीके केवलज्ञान कल्याणकके पहलेसे वह अपनेको 'जिन' घोषित करने लगा था। उसके सिद्धान्तोंपर जैनधर्मका प्रभाव पड़ा था—बल्कि उसका मत जैन धर्मसे ही निकला था, यह हम पहले और अन्यत्र दिखला चुके हैं।[4] इसलिये उसका प्रभाव महावीरजी पर पड़ा हो, यह स्वीकार नहीं किया जासक्ता! जब भगवान् महावीरजीका दिव्य प्रभाव म० बुद्ध जैसे बड़े और प्रभावशाली मतप्रवर्तक पर पड़ा था,[5]

१—उत्तरपुराण पृ० ६१०, भगवान् महावीर पृ० ९३ और जैनसूत्र (S. B E.) भाग १ पृ० ७९—८८। २—आजीविक्स भाग १ पृ० १०। ३—उवासगदसाउ (Biblo Indica) परिशिष्ट पृ० १११। ४—भगवान् महावीर पृ० १७३ और वीर वर्ष ३का जयंती अंक। ५—भगवान महावीर और म० बुद्ध पृ० १०३—१०६।

तब फिर भला यह कैसे सभव है कि मक्खलिगोशालने अंतिम जैन तीर्थंकरको प्रभावित किया हो ? महावीरजीपर गोशालका सबसे बड़ा पड़ा हुआ प्रभाव 'नग्नदशा' का बतलाया जाता है।[1] कहा जाता है कि नग्न वेष उनने गोशालसे लिया था। किन्तु यह कथन स्वयं 'भगवतीसूत्र' से बाधित है, जिसके आधारपर ही यह मत स्थापित किया गया माना जाता है। उसमें स्पष्ट कहा है कि जिस समय गोशाल महावीरजीके पास दीक्षा याचनाके लिये आया था, उस समय वह वस्त्र पहिने हुये था।[2] साथ ही बौद्ध ग्रन्थोंसे प्रकट है कि वह पहले वस्त्रधारी था किन्तु उपरात अपने मालिकके पाससे नग्न वेषमें ही भाग जानेसे वह नग्न होगया था।[3] इससे भी प्रगट है कि वह पहले नग्न नहीं था, परन्तु बौद्धोंकी यह कथा विश्वासके योग्य स्वीकार नहीं की गई है। इसलिये इसका कुछ भी महत्व नहीं है। 'भगवतीसूत्र' की कथा और यह कथा दोनो एक ही कोटिमें रखने योग्य है। किन्तु इसके विपरीत दिगम्बर जैन शास्त्र 'दर्शन सार' की साक्षी विशेष प्रामाणिक है। बेशक यह ग्रन्थ नवी शताब्दिका है, परन्तु इसका आधार एक प्राचीन ग्रन्थ है।[4] एक तरहसे यह प्राचीन मतोंका संग्रह ग्रन्थ है और इसतरह विश्वासके योग्य है तिसपर उसमें जो बातें म० बुद्धके बारेमें कही गई हैं, वह प्रायः बिलकुल सत्य ही प्रमाणित हुई हैं।[5] इस कारण हम इस दिगंबर

१-जैनसूत्र (S. B. E.) भूमिका और आजीविक भाग १। २-उवासगदसाओ (Biblo. Ind.) परिशिष्ट पृ० ११०। ३-आजीविक्स भाग १ पृ० ११। ४-जैनहितैषी वर्ष १३ अक ६-७ पृ० २६२। ५-भगवान् महावीर और म० बुद्ध पृ० ४५-५०।

जैन ग्रन्थको ऐतिहासिक कोटिका एक प्रामाणिक ग्रन्थ माननेको बाध्य हैं। इसमें मक्खलिगोशालको भगवान पार्श्वनाथजीके तीर्थका श्रमण बतलाया है और वह भगवान महावीरजीके समवशरणसे दिव्यध्वनि खिरनेके पहले ही रुष्ट होकर अज्ञानवादका प्रचार करने लगा था, यह कहा है, जैसे कि पहले देखा जा चुका है। इस अवस्थामें यह बात ठीक नहीं बैठती कि भगवान महावीरजीने मक्खलिगोशालसे कुछ ग्रहण किया हो। उपरोक्त दिगम्बर शास्त्रके मतसे भी यह प्रगट है कि भगवान महावीरजीके धर्मोपदेशके पहलेसे ही मक्खलिगोशाल अपने मतका प्रचार करने लगा था; यद्यपि वह अन्तर विशेष न था।

साथ ही दि० शास्त्रोंमें भगवान पार्श्वनाथ अथवा उनके शिष्योंको वस्त्रधारी नहीं बताया गया है। यह केवल श्वेतांबरोंकी मान्यता है कि भगवान पार्श्वनाथ और उनके शिष्य वस्त्र धारण करते थे; यद्यपि उनके आचारांगसूत्रमें नग्न वेषको ही सर्वोच्च श्रमण दशा बतलाई है[1] और तीर्थंकरोंने उसे धारण किया था, यह कहा है।[2] उनके 'उत्तराध्ययन सूत्र' में जहां केसी श्रमणको बिलकुल ही आसानीसे इस मतभेदका समझौता करते लिखा है, वह जरा जीको खटकता है। जब केसी श्रमणको यह विश्वास था कि वस्त्रधारी दशासे मुक्तिलाभ हो सक्ता है; तब फिर उनको यह क्यों आवश्यक था कि वे नग्नवेष धारण करके वृथा ही इस कठिनाईको मोल लेते? यदि यह कहा जाय कि उस समय भगवान् महावीर-

१–जैनसूत्र (S. B. E.) भाग १ पृ० ५५–५६। २–पूर्व० पृ० ५७-५८।

जीके दिगम्बर संघका इतना अधिक प्रभाव बढ़ गया था कि प्राचीन संघको उनसे अलग रहकर अपना अस्तित्व बनाये रखना कठिन था, तो वह भी ठीक नहीं विदित होता, क्योंकि यह तो ज्ञात ही है कि भगवान् पार्श्वनाथजीका संघ विशेषरीतिसे व्यवस्थित ढंगपर था और उस समय बौद्धादि वस्त्रधारी साधु-संप्रदाय मौजूद ही थे। जिस प्रकार यह बौद्धादि वस्त्रधारी संप्रदाय अपने स्वाधीन अस्तित्वको बनाये रखनेमें सफल रहे थे, वैसे प्राचीन निर्ग्रंथसंघ भी रह सक्ता था। उसके पास अच्छे दर्जेका सिद्धान्त तो था ही; इसलिए ऐसा कोई कारण नहीं था, जिसकी वजहसे उसका नूतनसंघमें मिल जाना अनिवार्य था! इसके साथ ही यह भुलाया नहीं जा सक्ता है कि 'उत्तराध्ययन सूत्र' किंवा सर्व ही श्वेताम्बर आगमग्रन्थ सर्वथा एक ही समय और एक ही व्यक्ति द्वारा संकलित नहीं हुए थे।[1] तथापि उनमें बौद्ध ग्रन्थोंका प्रभाव पड़ा व्यक्त होता है।[2] और जिस समयमें वह क्षमाश्रमण द्वारा लिपिबद्ध किये जा रहे थे, उसके किञ्चित पहले एक केशी नामक आचार्य उत्तर भारतमें होचुके थे, जो मगधके राजा संग्रामके पुरोहित और बुद्धघोष (पांचवीं शताब्दि ई०) के पिता थे।[3] यदि यह केशी उत्तर भारतमें बहु प्रख्यात रहे हो और इनका जैन सम्पर्क रहा हो तो कहना होगा कि इन्हीं केशीके आधारसे उक्त आख्यान रचा गया हो तो कोई आश्चर्य नहीं! इतना तो स्पष्ट ही है कि केशी नामका एक व्यक्ति देव-

१–जैनसूत्र (S. B. E.) की भूमिका, प्री बुद्धिस्टिक इन्डियन फिलासफी पृ० ३७६। २–जार्लचार्पेन्टियरके 'उत्तराध्ययन' की भूमिका और 'दिगम्बर जैन' वर्ष १९-२० में उद्धृत हमारा लेख। ३–लाइफ एण्ड वर्क आफ बुद्धघोष पृ० २६।

र्धिगणि क्षमाश्रमणके कुछ पहले अवश्य हो चुका था और प्राचीन एवं नवीन निर्ग्रथसघमें किंचित नाममात्रका भेद था। अस्तु, जो हो उसको छोडकर थोड़ी देरको यह मान लिया जाय कि प्राचीन अर्थात् पार्श्वसंघमे वस्त्र धारण करना जायज था—दूसरे शब्दोंमें तपश्चर्याकी कठिनाई कम थी—तो फिर बुद्धको अपना एक नूतन सघ स्थापित करनेकी आवश्यक्ता शेष नहीं रहती, क्योंकि बुद्धने तपश्चरणकी कठिनाई और ब्राह्मणोंके क्रियाकाण्डके खिलाफ अपना मत स्थापित किया था, सो यह दोनो बातें प्राय. उपरोक्त मानतासे उनको प्राचीन निर्ग्रंथसंघमें मिलतीं ही थीं। इससे भी यही प्रकट होता है कि प्राचीन जैन संघमें भी नग्नवेष ही मोक्ष-लिङ्ग माना गया था। म० बुद्धके पहलेसे ही नग्नवेष आदरकी दृष्टिसे देखा जाता था, यह बात पूर्णकाश्यपके नग्नसाधु होनेके कथानकसे स्पष्ट है। वह नग्न इसीलिये हुआ था कि उसका आदर जनसाधारणमें अधिक होगा। अब यदि भगवान् पार्श्वनाथके द्वारा नग्नवेषका प्रचार नहीं होचुका था, तो फिर नग्नवेषका इतना आदर उस समय कैसे बढ़ गया था ? यह प्रश्न अगाड़ी आता है। हिन्दुओंके उपनिषद कालीन वानप्रस्थऋषि इस वेषके कायल नहीं थे और यह भी प्रगट नहीं है कि मक्खलिगोशालके आजीविक पूर्वागामी नग्न रहते थे, प्रत्युत उनको तो 'वानप्रस्थ ढंग' का साधु लिखा है।[3] नग्नवेष, पूर्वोके आठ निमित आदि सिद्धान्त आजीविक संप्रदायमें जैन धर्मसे लिये हुये प्रमाणित होते हैं। इस कारण अन्य कोई

१—भगवान महावीर और म० बुद्ध पृ० ८२—८३। २—इन्डियन एन्टीक्वेरी भाग ९ पृ० १६२। ३—आजीविक्स भाग १ पृ० ३।

ऐसा व्यक्ति नहीं दीखता जिसके द्वारा महावीरस्वामीके पहलेसे नग्नवेषका प्रचार किया गया हो, सिवाय भगवान् पार्श्वनाथजीके! इसलिये हठात यह मानना पड़ता है कि भगवान् पार्श्वनाथजी भी नग्नवेषमें रहे थे और उनके शिष्य भी वैसे ही रहते थे। जैन साधुओंकी सर्वोच्च अवस्था नग्न थी, यह बात दिगम्बर, श्वेतांबर, दोनों ही जैन संप्रदायोंके शास्त्रों और ब्राह्मण-एवं बौद्ध ग्रथोंसे भी प्रमाणित है। तथापि अन्यत्र हमने बौद्ध शास्त्रोंके आधारसे यह सिद्ध करदिया है कि भगवान पार्श्वनाथजीके शिष्य भी नग्न वेषमें रहते थे, क्योंकि 'महावग्ग'में जिन 'तित्थिय' श्रमणोंको नग्न और हाथकी अंजुलिमें भोजन करते बतलाया है वह जैन साधु हैं और यह प्रगट ही है कि बुद्धने अपनेसे प्राचीन साधुओंका उल्लेख इस विशेषणसे किया है एवं महावग्गमें उपरोक्त उल्लेख उसवक्त आया है जब म० बुद्ध अपना संघ स्थापित करते ही जारहे थे और महावीर भगवान छद्मस्थ अवस्थामें थे[4]। अतएव इस सब विवरणको देखते हुये यह स्वीकार नहीं किया जासक्ता कि भगवान पार्श्वनाथ और उनके शिष्य नग्नवेषमें न रहे हों और भगवान महावीरने मक्खलिगोशालसे नग्नवेष ग्रहण किया हो।

१-आचाराङ्गसूत्र (S. B. E.) भाग १ पृ० ५६। २-ऋग्वेद १०-१३६, वराहमिहिरसंहिता १९-६१ व ४५-५८, महाभारत ३-२६-२७, रामायण बालकाण्ड भूषण टीका १४-२२। ३-दिव्यावदान पृ० १६५, जातकमाला भाग १ पृ० १४५; विशाखावत्थू धम्मपदत्थकथा भाग १ खण्ड २ पृ० ३८४, डीपीलॉग्स ऑफ बुद्ध ३-१४, महावग्ग ८१-५, ३-१, ३८-१६; चुल्लवग्ग ४,२८,३, संयुत्तनिकाय २, ३, १०, ७; धम्मपदम् पृ० ३ इत्यादि। ४-भगवान महावीर और म० बुद्ध परिशिष्ट पृ० २३७-२३८।

इस व्याख्याका समर्थन अब तकके उपलब्ध जैन पुरातत्वसे भी होता है। इस समय भगवान पार्श्वनाथजीकी संभवतः सर्वप्राचीन मूर्तियां जैन सम्राट् खारवेल महामेघवाहन (ईसासे पूर्व २य शताब्दि) द्वारा निर्मित खंडगिरि–उदयगिरिकी गुफाओंमें मिलती हैं और यह नग्नवेषमें हैं। इससे स्पष्ट है कि आजसे इक्कीससौ वर्ष पहले भी भगवान पार्श्वनाथजी नग्नवेषमें ही पूजे जाते थे। इस समय दिगम्बर-श्वेतांबर प्रभेद भी जैन संघमें नहीं हुये थे। इसके बाद कुशानकाल (Indo-Scythian Period)की मथुरावाली मूर्तियोंमें भी भगवान पार्श्वकी मूर्तियां नग्नवेषमें मिली हैं[1]। आश्चर्य यह है कि इनमेंसे एक श्वेताम्बर आयागपटमें भगवान पार्श्वनाथकी पद्मासन मूर्ति नग्न ही हैं। इसमें कान्ह श्रमण एक खंड वस्त्र (अंगोछे) को हाथकी कलाई पर लटका कर नग्नताको छुपाते हुये प्रगट किये गये हैं। वैसे वह संपूर्णतः नग्नवेषमें हैं। श्वेताम्बर संप्रदायके साधुओंकी तरह उनके पास अभ्यन्तर और बहिरवस्त्र नहीं हैं और न उस तरहके एकवस्त्रधारी साधु ही हैं,[2] जैसे कि श्वे० संप्रदायमें माने जाते हैं। श्वे० संप्रदायके अनुसार खंडवस्त्रधारी तीर्थंकर भगवान एक प्राचीन चित्रमें लंगोटी लगाये दिखाये गये हैं[3]। इस अवस्थामें यह कान्हश्रमण पूर्ण श्वेताम्बर साधुकी कोटिमें नहीं आते हैं। उनका स्वरूप भट्टारक रत्ननन्दि कृत 'भद्रबाहु चरित'में बताये हुए 'अर्धफालक' (अर्धवस्त्र)वाले जैन साधुओंसे ठीक मिलता है[4]। भट्टारक रत्ननन्दिने श्रुतकेवली भद्रबाहुजीके समयमें शिथि-

१–जैनसूत्र (S. B. E.) भाग १ पृ० ७१–७२। २–जू जैनिसमस प्लेट नं० ८। ३–भगवान महावीर पृ० २२७। ४ जैनहितैषी भाग १३ पृ० २६६।

लाचारी मुनियों द्वारा इस संप्रदायकी उत्पत्ति मानी थी और फिर जिनचन्द्र द्वारा पूर्णतः श्वेताम्बर भेद हुआ उनने कहा है। इस मूर्तिके स्वरूपसे उनका कथन प्रमाणीक ठहरता है। हमने इसके पहले भी 'अर्धफालक' संप्रदायका अस्तित्व स्वीकार किया था; यद्यपि पं० नाथूरामजी प्रेमीने इसे एक कल्पना ही खयाल किया था। और यह प्रायः सर्वमान्य है कि दिगम्बर-श्वेताम्बर भेदकी जड़ यद्यपि भद्रबाहु श्रुतकेवलीके निकटवर्ती कालसे ही पड़ गई थी, परन्तु उसका पूर्ण विच्छेद ईसवीसन् ८० या ८२में हुआ था[१]। इसके मध्यवर्तीकालमें अवश्य ही अर्धफालक शिथिलाचारी श्रमण-संघ रहा प्रगट होता है, जो वैसे तो प्राचीनरूपमें अर्थात् नग्न-वेषमें रहता था; परंतु लज्जा निवारणके लिये खंडवस्त्र रखता था। इस दशामें दिगंबर जैन कथन विश्वास न करनेके योग्य नहीं ठहरता है। अतएव यह स्पष्ट होजाता है कि श्वेताम्बर संप्रदायको भी पहले नग्नवेष स्वीकार था। यही कारण है कि मथुराके कंकाली टीलासे निकलीं हुई पूर्ण नग्न तीर्थंकर मूर्तियोंपर श्वे० आम्नायके आचार्यो आदिका नाम अंकित है[२]। इस प्रकार प्राचीन पुरातत्वसे भी श्री पार्श्वनाथ एवं अन्य जैन तीर्थंकरोंका नग्नवेषमें रहना प्रमाणित है। स्वर्गीय सर रामकृष्ण गोपाल भांडारकर महोदयने भी यह प्रगट स्वीकार किया था कि "प्राचीन जैन मूर्तियां प्रायः नग्न ही मिलतीं हैं। गुफा मंदिरोंमें भी दिगंबर प्रतिमायें मिलती हैं[३]।"

१-कैम्ब्रिजहिस्ट्री ऑफ इन्डिया भाग १ पृ० १६५ और साउथ इन्डियन स्टडीज भाग १ पृ० ५५ इत्यादि। २-जैनहितैषी भाग १२ पृ० २९१-२९२। ३-पूर्व० भाग ५ पृ० २५।

अतएव ऐसा कोई साधन उपलब्ध नहीं है, जिससे यह स्वीकार किया जासके कि भगवान पार्श्वनाथजीके संघमें वस्त्रधारी अवस्थाके निर्ग्रंथ मुनि थे और भगवान स्वयं वस्त्रधारण किये रहे थे, जैसे कि श्वे०का कथन है।

तीसरी और चौथी बातोंमें कुछ तथ्य अवश्य है। यह निर्विवाद सिद्ध है कि भगवान महावीरजीके प्रारंभिक जीवन तक अवश्य ही भगवान पार्श्वनाथजीका संघ मौजूद था। किन्तु ज्यों ही नवीन संघ उत्पन्न हुआ त्योंही प्राचीन संघके ऋषि उसमें मिल गये थे। उनमें विशेष अन्तर नहीं था और वह भगवान महावीरजीकी बाट जोह रहे थे, यह हम देख ही चुके हैं। चातुर्याम् नियम जो दोनों संघोंमें समान बतलाया जाता है, वह उसी रूपमें एक माना जासक्ता है जिसरूपमें वह सामन्नफल सुत्तमें मिलता है। जैनश्रमणके यही चार लक्षण थे जो इस बौद्धसुत्तमें बताए गये है, जैसे कि हम पहले देख चुके है। यह बात दि०जैन ग्रन्थ 'रत्नकरण्ड' श्रावकाचारसे प्रमाणित है. यह पहले ही दिखाया जाचुका है। अतएव यह कहना कि बौद्धोंने महावीरस्वामीके प्रति जिस चातुर्याम संवरका निरूपण किया था वह गलत है कुछ तथ्य नही रखता! भगवान महावीरके समकालीन म० बुद्धसे ऐसी गलती होना असंभव ही है। बौद्ध शास्त्रोंमें जिन सिद्धांतोको जैनोंका बतलाया गया है वह मूलमें ठीक हैं; यद्यपि उनकी व्याख्या करनेमें कहीं२ बौद्धोंने अत्युक्तिसे काम लिया है।[1] इसलिए यह नहीं स्वीकार किया जासक्ता कि भगवान पार्श्वनाथजीके निकट चातुर्याम नियमका भाव चार

1-भगवान महावीर और म० बुद्ध, परिशिष्ट।

व्रतोंसे था और भगवान महावीरजीने उन्हींमें अंतिम व्रत और बढ़ा दिया था। बौद्धोंके मज्झिम निकायमे भगवान महावीरजीके पांच व्रत ठीक ही बताये हैं; पर उनके किसी ग्रंथमें भी भगवान् पार्श्वनाथजीके उन चार व्रतोंका उल्लेख नहीं है, जिनको श्वेताम्बर ग्रन्थ प्रगट करते हैं। फिर भगवान महावीर द्वारा यदि उन व्रतोंमें ही एक और बढ़ाया गया था, तो वह अतिम 'तपोगुण' अथवा अपरिग्रह व्रत न होकर ब्रह्मचर्यव्रत था। इस अवस्थामें डॉ० बारुआका यह कथन भी उचित प्रतीत नहीं होता। तथापि डॉ० जैकोबीने यद्यपि पालीके 'चातुर्याम' और प्राकृतके 'चातुज्जाम' शब्दोंको समान बतलाया है; परन्तु यह भी उनने स्पष्ट स्वीकार किया है कि 'चातुज्जाम' से भगवान पार्श्वनाथजीके चार व्रत प्रगट होते हैं[1]। इसलिये स्व० डॉ० ह्रीस डेविड्सका प्रॉ० जैकोबीको 'चातुर्याम' से श्री पार्श्वनाथजीके चार व्रत ग्रहण करते बतलाना ठीक है और वह जो इससे चार व्रतोंका भाव निकलना गलत बतलाते है, वह भी ठीक है। इस तरह दि० जैन ग्रन्थों एवं बौद्धोंके शास्त्रोंसे यह प्रगट नहीं होता है कि भगवान पार्श्व-नाथजीके चार व्रत थे। साथ ही ऊपर जब हम यह देख चुके हैं कि पार्श्वनाथजीके निकट भी सैद्धांतिक क्रम मौजूद था, तो यह नहीं कहा जासक्ता कि व्रतोंको उनने नियमित रीतिमें न रक्खा हो! तथापि शीलव्रतोंका प्रादुर्भाव अंतिम तीर्थंकर द्वारा हुआ ख्याल करना भी कोरा ख्याल है: क्योंकि शीलव्रतोंमें पंच महाव्रत भी हैं और इनका अस्तित्व भगवान पार्श्वनाथजीके संघमें मिलता है।

१–जैनसूत्र (S. B. E.) भाग २ भूमिका पृ० २०।

यद्यपि यह ठीक है कि दोनों संघोंमें चारित्रभेद केवल आचरणमें लानेकी दृष्टिसे अवश्य था; जैसे कि जैन शास्त्रोसे प्रगट है।

सर्व अंतिम जो यह कहा गया है कि दोनों संघोंका मेल, यद्यपि समयकी मांगकी वजहसे जाहिरा होगया था, जिससे पार्श्व-संघको वीर-संघका सिद्धांत पानेका लाभ हुआ था; परन्तु वह ज्यादा दिन न टिका और महावीरस्वामीके निर्वाण उपरान्त पुनः भेद हो-गया! खेद है कि यहां भी हम डॉ० वारूआके साथ सहमत नहीं हो सक्के। यह सत्य है कि भगवान् महावीरजीके कैवल्यपद प्राप्त करने और संघ स्थापित करनेके साथ ही पार्श्वसंघके ऋषि आदि सदस्य भगवान्के संघमें सम्मिलित हो गये थे; किन्तु ऊपरके कथ-नको देखते हुये यह नही स्वीकार किया जासक्ता कि उनको इससे सिद्धान्तवाद (Philosophy) पानेका लाभ हुआ था! साथ ही बौद्धशास्त्रोंके कथनसे यह भाव निकालना कि भगवान् महावीरजीके निर्वाण होते ही वीरसंघ दो भागोंमें विभक्त हो गया था, ठीक नहीं प्रतीत होता! यह दिगंबर और श्वेताम्बर दोनों आम्नायोंके ग्रंथोंके विरुद्ध है। भगवान् महावीरजीके उपरान्त जबतक उनके केवलज्ञानी शिष्य, जिनमें सर्वअंतिम जम्बूस्वामी थे, मौजूद रहे थे, तबतक तो किसी तरहका भी कोई प्रभेद पड़ा दृष्टि नही पड़ता है, क्योंकि दोनों आम्नायोंमें केवलज्ञानियोके सम्बन्धमें कुछ भी अन्तर नहीं है। आपसी प्रभेदकी जड़ श्रुतकेवलियोंके जमानेसे और बहुतकरके भद्रबाहुजीके जमानेसे ही पड़ी प्रतीत होती है। इस समय निर्ग्रंथसंघकी ठीक वही दशा होरही थी जो बौद्धशास्त्रोंमें बतलाई गई है। और यह विदित ही है कि इस समय अथवा

इससे किञ्चित उपरान्त ही बौद्ध शास्त्र उस रूपमें संकलित किये गये थे, जैसे कि अब मिलते हैं। इसी कारण उन्होंने साधारणतः भगवान् महावीरके निर्वाण बाद संघभेद बतलानेका भाव उस समयकी घटनाको लक्ष्य करके लिखा था। बौद्धशास्त्रोंमें यही एक उदाहरण नहीं है जिसमें यह भ्रमात्मक बात हो प्रत्युत और भी उदाहरण हैं जिसमें अजातशत्रुको उसके समयके उपरांतकी घटनाओंसे सम्बंधित बतलाया गया है। इससे बौद्धग्रन्थोंके कथनका भाव यही है कि भगवान् महावीरजीके उपरान्त एक काफी समयके बाद संघभेदकी नींव पड़ी थी। कमसेकम भद्रबाहु श्रुतकेवलीके समयतक तो संभवतः संपूर्ण संघ एक था। किन्हीं अजैन विद्वानोंका भी यही मत है।[1] अस्तु;

इस प्रकार यह स्पष्ट है कि भगवान् पार्श्वनाथजी और महावीरस्वामीका पारस्परिक सम्बंध क्या था? दोनों ही महापुरुष एक समान तीर्थंकर थे और उनकी शिक्षा भी प्रायः एक समान थी; किन्तु उनके संघमें चारित्रनियमोंको पालनेमें किंचित अन्तर अवश्य था। और यह अन्तर मूलमें कुछ नहीं था। जैन धर्मकी यह खासियत रही है कि वह प्राचीनसे प्राचीनतर कालसे अपने सिद्धान्तोंको वैसे ही प्रगट करता चला आरहा है, जैसे कि वे आज उपलब्ध हैं।[2] यद्यपि उसके बाह्यरूप क्रियाकाण्ड आदिमें अवश्य ही सामयिक प्रभाव पड़ा प्रगट होता है।

१-कैम्ब्रिज हिस्ट्री आफ इन्डिया भाग १ पृ० १६५। २-पूर्व० पृ० १६९।

(२६)

उपसंहार !

'जयतस्तव पार्श्वस्य श्रीमद्भर्तुः पदद्वयम् ।
क्षयं दुस्तरपापस्य क्षयं कर्तुं ददज्जयम ॥'

—श्री समन्तभद्राचार्य. ।

हे प्रभो पार्श्वनाथ ! 'आप मोहादिक सम्पूर्ण अंतरंग शत्रुओंको जीतनेवाले हो, सबके स्वामी हो । हे देव ! आपके चरणकमल अतिशय शोभायमान हैं । सर्वत्र विजय देनेवाले है । अतिशय गहन पपोंको भी नाश करनेके लिये समर्थ है । हे भगवन् ! आपके ऐसे चरणकमल मेरा अंधकार दूर करो ।' अवश्य ही त्रिभुवनवन्दनीय भगवान्‌की पवित्र संस्तुति भक्तजनके अज्ञानतमको नाश करनेमें मूल कारण है । पतितपावन प्रभूके पाद-पद्मोंका भ्रमर बन जानेसे पाप-पङ्कमें फंसा रहना बिल्कुल असंभव है । प्रभूकी भक्ति प्रभूकी विनय परिणामोंमें वह विशुद्धता लाती है कि स्वयमेव ही सब संकट नष्ट होजाते हैं और भक्तवत्सल प्राणी आनन्दसरमें गोते लगाता है । भगवान् पार्श्वनाथ एक ऐसे ही पतितपावन उपासनीय परमात्मा थे । उन्होंने मोहमायाको अपनेसे दूर भगा दिया था । क्रोध, मान, माया लोभ आदि मानवी कमजोरियोंको उनने पास फटकने नहीं दिया था ! बाहिरी शान-गुमानके कारणोंको तो वह प्रभु पहले ही नष्ट कर चुके थे । प्राकृतरूपमें वे दिगम्बर होकर निर्भीक विचरण करते थे । जैसे बाहिर थे, वैसे भीतर थे । न बाहिरा देखनेमें कोई शारीरिक दोष था और वैसे ही न मनमें कोई मल था, वे खूबसूरत अनूठे थे । प्रकृतिके अञ्चलमें ज्यों

नीलाकाश शोभता है, त्यों ही वे भगवान अपने नील-वर्ण शरीरमें अपूर्व सुन्दरताको पारहे थे। उनका सौन्दर्य अपूर्व था। सौन्दर्य ही केवल नहीं, बल्कि अनन्त गुणोंसे पूर्ण उनका चारित्र अनुपम था। इसलिये वे खूबसूरत और खूब सीरत दोनों थे। सब लोगोंको वे प्रिय थे। सब उनको अपना स्वामी कहते थे। अपने जीवनमें ही वे इस परम पूज्य प्रभुताको पहुंच चुके थे। उस समयके लोग ही उन्हें अपना परम हितेच्छु समझने थे यही बात नहीं थी, बल्कि आज भी उनका नाम और काम उसी तरह पुज रहा है और सचमुच जबतक आन्तिकताका अस्तित्व धरातल पर रहेगा तबतक वह बराबर पुजता रहेगा। जीवित परमात्माके गुणगान भला कैसे भुलाये जासक्के है? उनके गुण उनका उपदेश और उनका स्वरूप हर समय और हर परिस्थितिके प्राणियोंको सुखदाई है उनका दिव्य चरित्र इस व्याख्याकी प्रगट साक्षी है। वे अनुपम थे उनसे अकेले वे ही एक थे! कमालमें द्विधा भावको जगह मिलना असम्भव है! कानोंसे हजारों नाम सुने जाते हैं। परन्तु प्रभू पार्श्व जैसा नाम कही सुननेमें नहीं आता! युगसे बीत गये पर वह नाम आज भी जीता जागता चमक रहा है। उनके दिव्य दर्शन पानेका सौभाग्य इस युगके किसी भी भव्यात्माको प्राप्त नहीं हुआ है, पर तो भी उनके नामकी माला एक नहीं दो नहीं हजारों लाखो प्राणी जपा करते हैं। सो भी केवल भारतीय ही नहीं! उनके चरणकमलोंका स्मरण करनेवाले अंगरेज भी हैं—जर्मन भी है। पूर्व और पश्चिम, दुनियाके दोनों भागोंमें भगवान्के गुणगान गाये जाते हैं। यह क्यों? क्यों सर्व दिशायें प्रभू पार्श्वकी

अद्वितीय कीर्तिसे गूंज रहीं हैं ? इसलिये कि उनमें अनन्त प्रेम था-अनन्त वीर्य था-अनन्त ज्ञान था ! सब जीवोंके कल्याणका द्वार उनके भव्य दर्शनमें मिलजाता है। विजयलक्ष्मी उनके उपासकोंके सम्मुख आ उपस्थित होती है; क्योंकि उनका दिव्य चरित्र साम्यभाव और उत्कट विश्वप्रेमका पाठ पढ़ाता है। उनके उपासक परम अहिंसाव्रतको पालते हैं-दयाके दर्शन उनके दैनिक जीवनसे होते हैं। और दया सत्यकी सहोदरा है। फिर भला कहिये कि दयाप्रेमी प्रभू पार्श्वके उपासक सत्यके हृदयमें निवास करते हुये क्यों नहीं विजय-लाभ करेंगे ? उनके सर्व कार्य अवश्य ही सिद्धिको प्राप्त होंगे। प्रभू पार्श्वकी भक्ति-श्री तीर्थंकर भगवानकी उपासना अवश्य ही मनुष्य जीवनको सुफल बनानेवाली है। इसीलिए कवि कहते हैं कि:—

"जनरंजन अघभंजन प्रभुपद, कंजन करत रमा नित केल।
चिन्तामन कल्पद्रुम पारस, वसत जहां सुर चित्राबेल ॥
सो पद त्यागि मूढ़ निशिवासर, सुखहित करत कृपा अनमेल।
नीति निपुन यों कहैं ताहिवर, 'वालू पेलि निकालै तेल' ॥"

सचमुच प्रभू पार्श्वके पाद-पद्मोंका सहवास छोड़कर अन्यत्र सिर मारनेमें कुछ फल हाथ आनेका नहीं है। भगवान पार्श्वनाथका पवित्र जीवन हमें स्वाधीन हो सच्चे सुखी बननेका उपदेश देता है। परतंत्रताकी पराधीनतासे विलग रहना वह सिखाता है। जीवित प्राणीमें अनन्त शक्ति है-आस्तिकोंको यह बात उनके दिव्य संदेशसे हृदयंगम होजाती है। वह जान जाते हैं कि कीड़ी-मकोड़ी,

वृक्ष-लता, सभ्य-असभ्य सब ही प्राणी समान शक्तियोंको रखनेवाले हैं—कुछ मुजायका नहीं जो उस दशामें वह हीन होरहे हैं। निमित्त मिलते ही—काललब्धिको पाते ही वे अपनी अव्यक्त शक्तिको प्रकट कर देंगे। भगवान पार्श्वनाथका जीव एक भवमें मदमत्त हाथी था; परन्तु वही संयममयी त्यागमार्गमें लगकर त्रिलोकवन्दनीय परमात्मपदको प्राप्त होगया। इसलिये किसी भी व्यक्तिको हेय समझना घृणाकी दृष्टिसे देखना अन्याय मार्गमें पग बढ़ाना है। प्रत्येक प्राणी हमारा बंधु है—ज्यों हमें जीवनप्रिय है त्यों उसे है—इसी भावको भगवान पार्श्वके निकटसे ग्रहण करके विश्वप्रेमका साम्राज्य इस जगतमें सिरज देना बिलकुल संभव है। साम्यभावका प्रचार दिगंतव्यापी उसी रोज होगा जिस रोज भगवान पार्श्वका बताया हुआ मार्ग लोगोंको दृष्टि पड़ेगा! बाहिरी चकाचौंधमें फंसे रहनेसे कार्य न सधेगा—रिवाजों और क्रियाकाण्डोंकी उपासना करनेसे कुछ हाथ न आयगा! त्याग मार्गमें पग बढ़ाने और संयमको अपनानेमें ही संसारकी मुक्ति शेष है—इस बातको इस दिव्य चरित्रसे गांठ बांध लेनेमें ही कल्याण है। भगवान पार्श्वनाथने कमठके जीव तापसीको यही बात सुझाई थी। अतएव स्वाधीनताके उपासकोंके लिए भगवानका दिव्य जीवन उसी तरह महत्व पूर्ण है जिस तरह दिशाभानके लिए नाविकोंके लिए ध्रुव तारा है। सरल प्राकृत जीवन—सादा लिबास और सादा भोजन और हृदयमे विश्वप्रेमका वास इस धरातलको भी स्वर्गवास बना देता है, यह विश्वास ही त्राणदाता है! सत्यके हृदयमें सदैव बना रहना ही सर्व सुखको पालेना है। भगवान पार्श्वनाथजीने यही सुखसंदेश जगतको सुनाया था—इसीलिये

उनके चरित्रके एक रश्मि-प्रकाशको पाकर उनके पवित्र चरित्रको पूर्ण करते हुए आइए पाठकगण उनके चरणोंमें नतमस्तक होलें: क्योंकि:—

"नरनारक आदिक जोनि विषैं,
विषयातुर होय तहां उरझै है ।
नहिं पावत है सुख रंच तऊ,
परपंच प्रपंचनिमैं मुरझै है ॥
जिन पारश सों हित प्रीति विना,
चित चिंतित आश कहां सुरझै है ॥
जिय देखत क्यों न विचारि हिये,
कहुं ओसकी बूंद सों प्यास बुझै है ॥

इतिशम्-ॐ शान्तिः !

आश्विन शुक्ल २ सं० १९८३ मगलवासरे परिपूर्णम् ।
ता० ७-१२-१९२६ ।

ग्रन्थकारका परिचय।

संसारमें भटकते हुए क्षुद्र जीवका परिचय ही क्या ? जिस प्रकार और सब जीव हैं वैसा ही यह प्राणी है ! एक ही निगोदरूपी जननीके उदरसे जन्मे हुये भाइयोंमें अन्तर ही क्या ? उनमें परस्पर विशेषता हो ही क्या सक्ती है ? फिर मेरा और तेरा परिचय क्या ? पुद्गलके संसर्गमें आया हुआ यह जीव इस अनन्त संसारमें नानारूप रखता है, उन विविध रूपोंके फेरमें पड़ना बहुरुपियेके तमाशेके दृश्यसे कुछ अधिक महत्व नहीं रखता। परन्तु संसारका अहंकार उसमें केवल उलझा हुआ है-वह उसके सारासारको देखने नहीं देता। उसे नजर ही नहीं पड़ता कि वह तो अनन्तदर्शन, अनंतज्ञान, अनन्तवीर्य और अनन्तसुखरूप है, सिद्ध है, शुद्ध है, परम बुद्ध है। सचमुच मेरी अनन्तगुणमई समृद्धि है। देखनेमें देह परिमाण भले ही हूं, परन्तु निश्चय जानो मैं असंख्य प्रदेशी हूं और अमूर्तिक हूं, अनन्तरूप हूं, परमानन्द हूं, सहज हूं, नित्य हूं, चिदानन्द हूं, मेरा चेतना लक्षण है, मैं चैतन्य हूं अखण्ड हूं और लोकालोकका प्रकाशक हूं। रत्नत्रय मेरे अंगकी शोभा बढ़ाते हैं। सहज स्वरूपको दर्शाकर मैं सिद्ध समान देदीप्यमान हूं। संसारकी रागद्वेष कालिमासे रहित शुभाशुभ कर्मकलंकसे विहीन निष्कलंक हूं, समन्तभद्र हूं, शास्वतानन्द हूं, पर हूं कहां ? अहंकारका पर्दा फटे और 'सोऽहं' की भूमि प्रगट हो तब कहीं जो हूं सो दृष्टि पड़ूं। आज तो दुनियां मुझे कामताप्रसाद कहकर पुकारती है। मनुष्य जातिमें मेरी गणना होती है, जैनधर्मका मुझमें अनुराग प्रकट होता है। मैं भी जैनी बननेके प्रयत्नमें हूं।

वैसे जन्म मेरा ऐसे स्थानमें हुआ जहां जैनमतका नाम सुननेको नहीं था और बचपन भी जिनेन्द्र भगवानकी शरणसे दूर२ वीता! पर इसका अर्थ यह नहीं है कि पुण्योदयसे मेरा जन्म एक जैन कुलमें नहीं हुआ है? मैं जन्मसे जैनी अवश्य हूं। परन्तु जैन कुलमें जन्म लेनेसे ही कोई जैनी नहीं होजाता! इसीलिये मैं कहता हूं कि मैं जैनी बननेकी कोशिषमें हूं। जैनधर्म है विजयमार्ग! विजयी-वीर ही इसको अपनानेके अधिकारी हैं! मनुष्यमें जितनी नीचता है, संसारका जितना अहंकार है, उस सबपर विजय पानेके लिये जब कहीं तैयारी की जाय तब कोई जैनी हो! अथवा कवि भाषके शब्दोंमें 'सकलजनोपकार सज्जा सज्जनता जैनी' जैनी है। मनुष्य मात्रके उपकार करनेका सज्जनोत्तम भाव हृदयमें जागृत होना कठिन है! फिर भला कोई जैनी कैसे होवे? अपनेमें इसी भावको जागृत करनेकी उत्कट अभिलाषासे विजयी वीरों-महावीरोंके चरित्रमें मन पग रहा है। शायद मैं कभी सचमुच जैनी हो जाऊं? फिर भला कहिये कि इस अवस्थामें मेरा परिचय लिखनेसे किसीको क्या फायदा होगा? यह भी तो एक अहंकार है। पर संसारकी ममता और लोगोंका कौतूहल जो कराले सो थोड़ा है! वैसे उनमें और मुझमें अथवा अन्य किसीमें अन्तर ही किस बातका है। अंतरके कपाट खुलें तो सच्चा दर्शन-ठीक परिचय मिल जावे!

मेरे इस वर्तमान रूपका अवतरण भारतवर्षमें संयुक्त प्रांतके एक जैन कुटुम्बमें हुआ है। उस समयकी बात है कि जब मुगल साम्राज्य छिन्न भिन्न होगया था, तब विविध प्रांतोंके शासक स्वाधीन राजा और नवाब बन बैठे थे। फर्रुखाबादमें भी एक ऐसी

की नवाबी थी। आगरा प्रांतके जिला एटामें तहसील अलीगंजके अन्तर्गत मौजा कोट है। कहते हैं कि तब इसी ग्रामके एक सज्जन नवाबके 'नायब' थे और इन नायबके भण्डारीका कार्य समझिये एक जैन कुटुम्ब करता था। उसी जमानेमें यह हुआ कि फर्रुखाबादके नवाबका कोई सम्बंधी कोटके पास आ निकला। कहते हैं कि उसका नाम नवाबखां बहादुर था। उसने अलीगंजकी नींव जमाई। जब अलीगंज बसने लगा तब बहुतसे लोग बाहरसे बुलाकर वहां बसाये गये। कहा जाता है कि उसी समय कोटके उक्त जैन कुटुम्बके लोग भी अलीगंज आगये। उनको यहां भूमि दी गई तथा एक बाग भी मिला, जो आजतक इस कुटुम्बमें है। इस कुटुम्बमें एक सज्जन ला० निर्मलदास नामक थे। उनकी संतानमें श्री फूलचन्दजी नामक हुये। कोट ग्रामसे आनेके कारण यह जैन कुटुम्ब तबसे बराबर 'कोटवाले' नामसे ख्यात है। वैसे यह वैश्य जातिका है। जैनोंमें वैश्य अनेक उपजातियोंमें विभक्त हैं, यह वंश बुढ़ेलवाल कहलाता है। ऐतिहासिक शोधसे मालूम हुआ है कि बुढेलोंका निकास लगभग १६वीं शताब्दिमें लम्बकंचुक जातिसे हुआ था। लम्बकंचुक जातिकी उत्पत्ति यदुवंशी राजा लोमकरणकी संतानसे हुई कही जाती है। वैसे तो द्वारिकाके साथ सारे यदुवंशियोंका नाश होगया था; परन्तु जरत्कुमार निःशेष रहे थे। वह कलिङ्गमें जाकर राज्य करने लगे थे। उनके बाद कलिङ्गमें बहुतसे राजा हुये, परन्तु उनमें कोई भी लोमकरण नामक नहीं है। अतः मालूम ऐसा होता है कि यदुवंशी राजा भगवान महावीरके बाद कलिंगके राजा जितशत्रुकी संतानमें कोई हुआ

। कलिंगसे इन लोगोंको ईसवी पूर्व ४ थी या तीसरी शता- ब्दीमें बाहर चला जाना पड़ा था और तब यह लम्बकाञ्चन देशमें जारहे थे। यह देश कलिंगके निकट कहीं दक्षिण भारतमें होना उचित है। श्री समन्तभद्राचार्यके भ्रमण वृत्तान्तमें दक्षिणस्थ नग- रोंके साथ एक 'लाम्बुश' नामक नगरका उल्लेख हुआ है। और- दक्षिणमें कांचीपुर जैनोंका प्राचीन केन्द्रस्थान है। अतएव 'लाम्बुश और कांचीपुरके मध्यवर्ती देशका उल्लेख लम्बकाञ्चन नामसे होना संभव हो सक्ता है। इस दशामें यहांके निवासी राजभ्रष्ट यदुवंशि- योंकी संतान लम्बकंचुक जाति कही जासक्ती है। इसी जातिका अपररूप बुढ़ेलवाल है। उक्त कुटुम्ब इसी बुढ़ेलवाल वंशोद्भव है। उक्त श्री ला० फूलचन्दजी व्यापार निमित्त मेरठ पहुचे। वहां एक फौजी अफसरसे उनकी भेंट हो गई। वे परस्पर उपकृत होगये। फूलचन्दजी फौजी कमसरियटमें काम करने लगे। धीरे२ फौजी खजाची होगये, उनका फर्म दूर२तक प्रसिद्ध होगया। श्री फूल- चन्दजीके चार पुत्र थे-(१) ला० परमसुखजी, (२) ला० कुन्द- नलालजी, (३) ला० झम्मनलालजी, (४) ला० गिरधारीलालजी। उनके उपरान्त यह चार भाई फर्मके कार्यको समुचित रीतिसे न चला सके और वह फर्म फेल होगया। ला० कुन्दनलालजीके तीन पुत्र हुये-(१) श्री प० तेजरायजी, (२) ला० घन्नामलजी, (३) व ला० गोविन्दप्रसादजी। ये तीनों भाई गानविद्या विशारद हैं; यद्यपि सर्वलघु इस समय उनके बीचमे नहीं है। प० तेजरायजी संस्कृतज्ञ और धर्मज्ञ वयप्राप्त विद्वान् है। आपके सुपुत्र बाबू अंबा- प्रसादजी 'मिलिट्री अकाउन्ट डिपार्टमेन्ट'में एकाउन्टेन्ट थे। दुर्भा-

यसे उनका गत चैत्रमासमें असमयमें ही स्वर्गवास होगया। ला० गिरधारीलालजीके एकमात्र पुत्र श्री ला० प्रागदासजी हैं। लेखकके पूज्य पिता यही हैं, पुराने फर्मके फेल होनेके बाद पिताजी अपना एक स्वतंत्र 'बेन्किन्गफर्म' स्थापित करनेमें सफल हुये थे। तबसे यह फर्म बराबर चल रहा है, चूंकि इसका सम्बन्ध सरकारी फौजसे है; इसलिये भारतके विविध प्रान्तोंमें फर्मको जाना पडता रहा है। ऐसे ही जिस समय पिताजी सीमा प्रान्तकी छावनी कैम्प वेलपुरमें थे, उस समय मिती वैशाखशुक्ला त्रयोदशी बुधवार संवत् १९५८को मेरे इस रूपका जन्म हुआ था। माताजी धार्मिक चित्तवृत्तिकी धारक थीं, यद्यपि मुझे बचपनमें जैनधर्मके साधक साधनोंका संसर्ग प्राप्त नहीं हुआ परन्तु माताजीकी धार्मिकवृत्तिने मेरे हृदयमें उसका प्रतिबिम्ब ज्योंका त्यों अंकित कर दिया। रातको जब मैं पहार तारोंके विषयमें प्रश्न करता तो वह समाधान करती हुई मुझसे यह कहलवाके सुला देतीं कि 'जिनवर तारे मन भर कूचे, जहां जीव तहां तीन किनारे। जा मडलीमें उच्चरे ताहि श्री पार्श्वनाथकी आनि, तब इसका मतलब कुछ समझमें नहीं आता. किन्तु जब आज सोचता हूं तो इस सरल उक्तिमें जैनधर्मकी खास बातोंका उपदेश भरा हुआ पाता हूं। जिनेन्द्र भगवान ही तारे हैं, उन्हींको मनमें स्थापित करके ताला बन्द करदो। किसी अन्यको हृदयके उच्चासन पर मत बैठाओ, संसारसागरमें भटकते हुये इस प्राणीके लिये सिर्फ 'तीन'–रत्नत्रय–किनारे हैं, उन्हें नहीं भूलना चाहिये। श्री पार्श्वनाथके शासनकी छायामें सब आनन्दसे कालक्षेप करें! इस सरल ढंगसे गहन उपदेश भरा और कैसे हृदयगम हो सकता? इसीका

णाम था कि जब हैदराबाद सिंधमें मैं 'नवलराय हीरानंद ऐकेडमी' नामक स्कूलमें अंग्रेजी पढ़ता था, तब अन्य छात्र जहां गुरु नकजीके बोलमें धर्मपरीक्षा देते थे, वहां मैं जैन स्तोत्र और सामायिकपाठको सुनाता था। इस तरह धार्मिक भावुकताकी जड़ मेरे हृदयमें बचपनसे जम गई थी। बचपनमें मेरठ व अलीगंजमें मैंने हिन्दी और उर्दू पढ़ली थी। हैदराबादमें मैट्रिकतक अंग्रेजीका अध्ययन किया था; दूसरी भाषा फारसी थी। अलीगंजमें एक पंडित महाशयसे संस्कृत भाषा पढ़नेका प्रयत्न किया, पर असफल रहा। सन् १९११ के लगभग मेरा विवाह कर दिया गया। सन् १९१८ में माताजीका स्वास्थ्य खराब हो गया और उन्हींकी सेवामें व्यस्त रहनेके कारण मेरा अध्ययन बीचमें ही छूट गया। इसके बाद ही माताजी और पत्नीका देहांत होगया, घर सूना होगया, हृदयमें अपनेको पहिचाननेका भाव जागृत हुआ परन्तु व्यापारमें लग जानेसे वह ज्यादा पनपा नहीं! हैदराबादके अतिरिक्त बरेलीमें भी फर्मका कार्य चल निकला। मैं बरेली रहता था। धर्मपुस्तकोंके देखनेका सौभाग्य मुझे स्व० कुमार देवेन्द्रप्रसादजीके विज्ञापनोंसे प्राप्त हुआ था। उन्होंने मुझे एकदम अपनी सब पुस्तकें भेज दी थीं। मैं उनका अध्ययन करता रहा। फिर मेरे अभिन्न मित्र और प्रेमी श्रीयुत बाबू शिवचरणलालजीके यहां वेदीप्रतिष्ठा महोत्सव हुआ। उस समय ब्र० शीतलप्रसादजी म० से भेट हुई। उन्होंने जैनधर्मके अध्ययन और प्रभावनाके लिये उत्साहित किया। मैं 'जैनमित्र' व 'दिगम्बर जैन' मंगवाने लगा। इनके पढ़नेसे लेख लिखनेका शौक हुआ। लेख लिखे परन्तु सब

न छपे। ब्र०जीने उत्साह वर्द्धनार्थ किन्हीं२को 'मित्र' में स्थान दिया। फलतः लिखना न छूटा। लिखता रहा तो लिखना आगया। बरेलीमे तो कविता रचनेका भी उद्योग चलता रहता था। इसी समय श्रीमान् बाबू चम्पतरायजी बेरिष्टरकी मूल्यमई रचनाओका लाभ हिन्दी जनताको करनेकी उत्कट अभिलाषासे मैंने उनके इंग्रेजीके ग्रन्थोंका हिन्दी अनुवाद करना प्रारम्भ कर दिया। बेरिष्टर सा०ने 'असहमत संगम'के कई अध्यायोका अनुवाद मुझे करने देनेका अवसर प्रदान किया। यहींसे मेरी ग्रन्थ रचनाकी ओर प्रवृत्ति होगई। जब मैं बरेलीमें था तब ही मेरा द्वितीय विवाह हो गया। इसके पहले ही मै समाजोन्नतिके कार्योंमें भाग लेने लगा था। कानपुर और लखनऊकी महासभामें शामिल हुआ था। महासभाकी कूटनीतिसे मन उचटासा था। तिसपर दिल्लीके अधिवेशनमें पडितदलकी दुर्नीतिने समाज नेताओंको उसके विमुख कर दिया। समाजका सच्चा हित करनेके नाते 'भा० दि० जैन परिषद' का जन्म हुआ। जहा मैंने 'जैनगजट' में महासभाकी सफलताके लिये कई लेख लिखे थे और उसके सुधार करनेकी धुनमें था, वहा सुधारका अवसर न देखकर उल्टे शक्तिका दुरुपयोग समझकर मैंने परिषदकी ओर ध्यान दिया। परिषदके कर्णधारोंने मेरे अयोग्य कन्धोपर 'वीर' पत्रके सम्पादनका भार डाल दिया व यथाशक्ति उसका पालन कर रहा हू। सौभाग्यसे हिन्दीके प्रतिष्ठित लेखक उसको अपनाने लगे है और विदेशोमे भी वह जैनधर्मका परिचय करानेमें सहायक है। उधर इन दिनो स्वास्थ्य हीन रहा और तबियत एकातमें मग्न रहने लगी। इस एकांतमें कभी२ भगवानके

दिव्य चरित्रोंको अवलोकन करनेका अवसर मिला, जिसके परिणाम स्वरूप चरित्र ग्रंथ लिख गये। इटावामें महावीरजयंतीपर जब कोई उपयुक्त महावीरचरित्र न मिला, तब एक चरित्र लिखनेका साहस हुआ। तबहीसे 'भगवान महावीर' 'महारानी चेलनी' आदि करीब १२—१३ छोटेमोटे ग्रन्थ लिख गये। इस समय ध्यानाध्ययनमें ही समय बीतता है। भगवान महावीर विषयक एक निबंधपर 'यशोविजय जैन ग्रन्थमाला'की ओरसे स्वर्णपदक मिला। इन्दौरकी निबंध जांच-कमेटीने 'जैन संख्याके ह्राससे बचनेके उपाय' सम्बन्धी निबंधोंमें लेखकका निबंध सर्व प्रथम ठहराया। उधर 'रायल ऐशियाटिक सोसाइटी—लन्दन'का भी सदस्य लेखक चुना जाचुका है। अंग्रेजीके विविध भारतीय और विदेशीपत्रोंमें जैनधर्मविषयक लेख प्रगट होते रहते हैं। जैनोंका कोई भी प्रामाणिक इतिहास न होनेके कारण तरह२के अपमान उन्हें सहन करने पडते हे। इस कमीको दूर करनेके लिये 'संक्षिप्त जैन इतिहास' कई भागोंमें लिखना प्रारंभ होगया है और उसके दो भाग लिखे भी जाचुके हैं। सत्यान्वेषणके बल मुझे प्रचलित जैनधर्मका स्वरूप विकृत दृष्टि पड़ता है और उसके सुधारके लिये मैं सदा तत्पर रहता हूं। इस सुधार कार्यको अपने आसपास असली सूरत देनेमें मुझे अपने सम्बंधियों तककी नाखुशी सहन करनी पडी। पर मैं सत्यमार्गसे विचलित नहीं हुआ। जनोपकारकी भावना हृदयमें जागृत रहे यही वांछा रहती है। शायद किसी दिन यह भावना मुझे सच्चा जैनी बना दे! अधिक अभी क्या लिखूं? अस्तु वन्दे वीरम्।

—कामताप्रसाद जैन।